॥ श्री पार्श्वनाथाय नमः ॥

ग्रन्थ का नाम—क्षत्रचूडामणि

ग्रन्थ के प्राचार्य का नाम—वादीभसिंह आचार्य

प्रबन्ध सम्पादक—ब्र. पं० धर्मचन्द शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य

एवं

कु. ब्र. प्रभा पाटनी

प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रति—१०००

प्रथम संस्करण

प्राप्ति स्थान १ आचार्य विमलसागरजी संघ

२. अनेकान्त सिद्धात समिति, लोहारिया
जिला (बांसवाड़ा) राजस्थान

३. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली ।

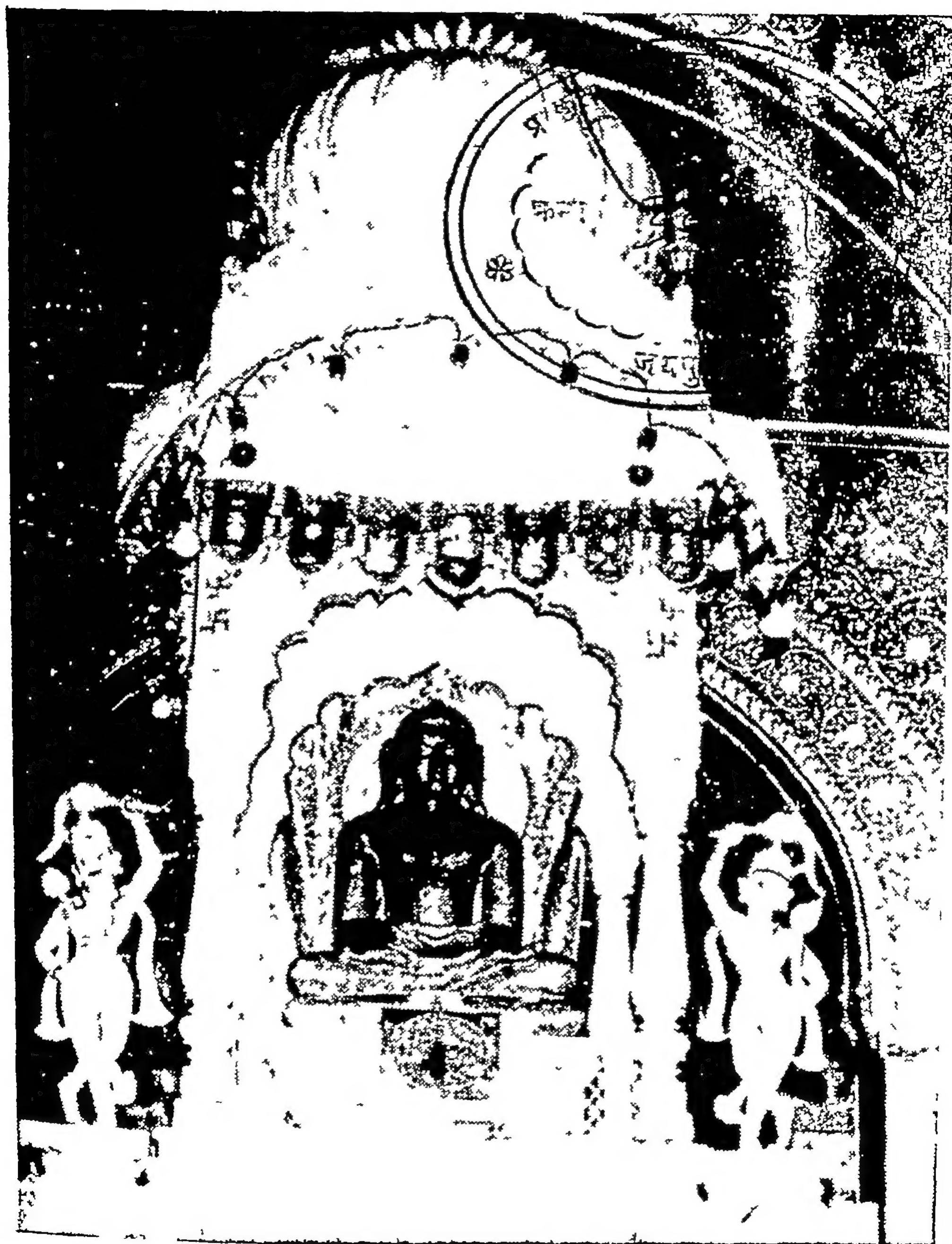
वीर निर्वाण सम्वत्—२५१५-१६

सवत्—२४४६-४७

मूल्य—

मुद्रक—श्री वीर प्रेस,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३

श्रीमुरलीधरजी राणा की दि० जैन नशियां खानियाँ (जयपुर)



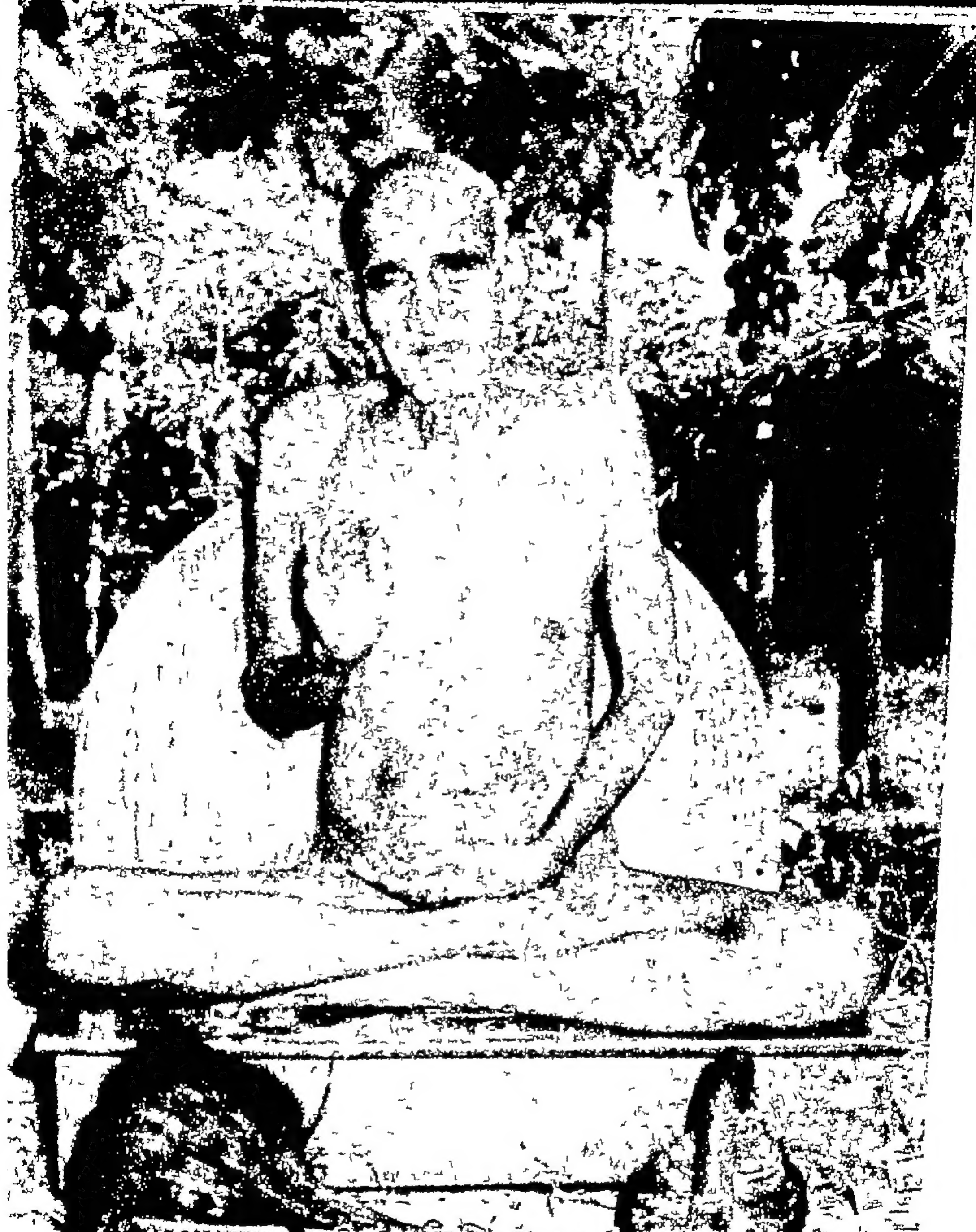
संगमरमर के कलापूर्ण समवसरण में विराजमान
मूंगे के रंग की सुन्दर प्रतिमा मूलनाय श्री १००८ वासुपूज्य भगवान

समर्पण

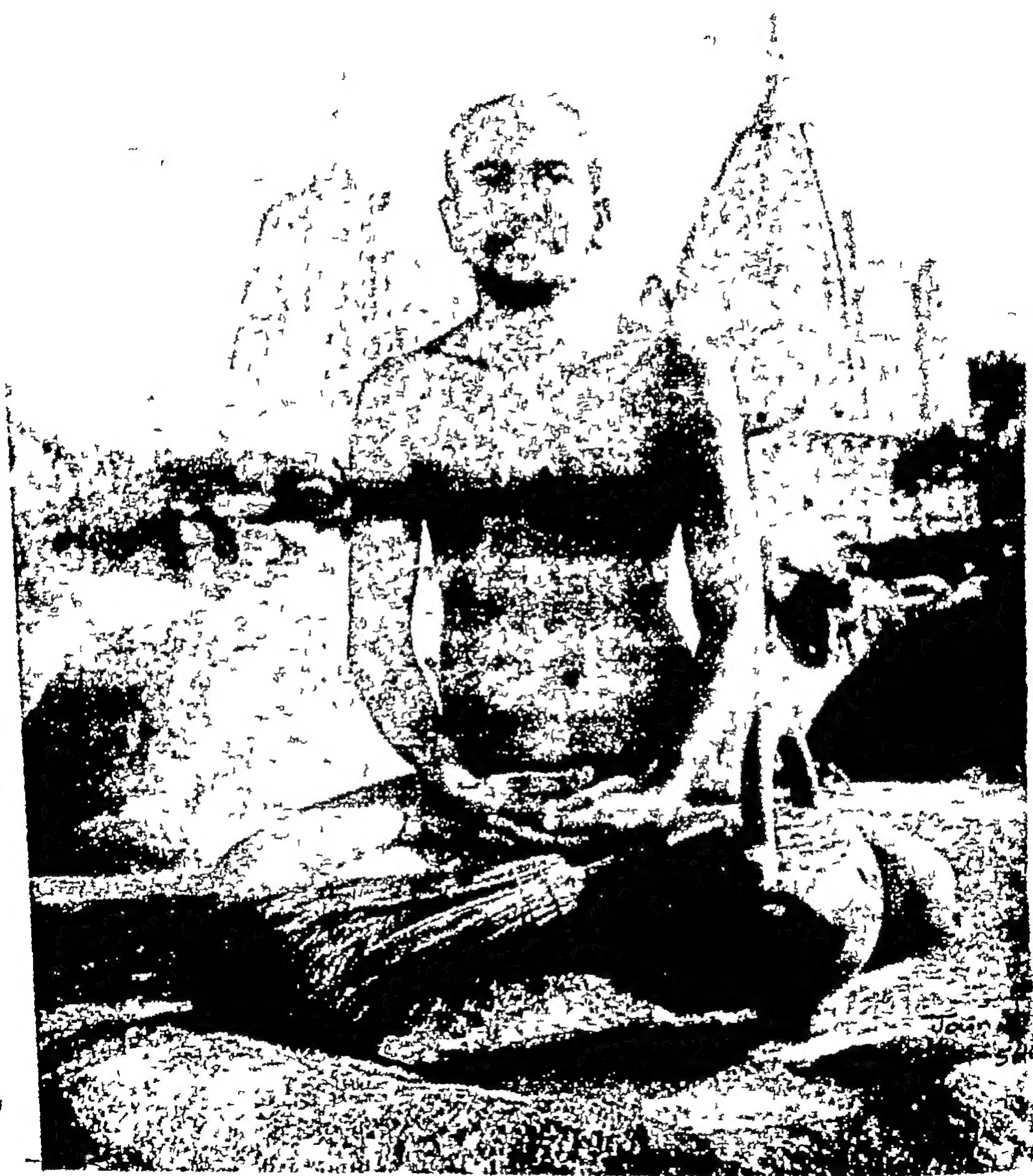
युग प्रमुख
चारित्र शिरोमणि
सन्मार्ग दिवाकर
करुणा निधि
वात्सल्य मूर्ति
अतिशय योगी—
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—
अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता
शान्ति-सुधामृत के दानी
वर्तमान में धर्म-पतितों के उद्धारक
ज्योति पुञ्ज—
पतितों के पालक
तेजस्वी अमर पुञ्ज
कल्याणकर्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा
बीसवीं सदी के अमर सन्त
परम तपस्वी, इस युग के महान साधक
जिन भक्ति के अमर प्रेरणास्रोत
पुण्य पुञ्ज
गुरुदेव आचार्यवर्य श्री १०८ श्री
विमलसागरजी महाराज के कर-कमलों में
"ग्रन्थराज"
समर्पित

विमल वन्दना

तुभ्यं नमः परम-धर्म-प्रभावकाय ।
तुभ्यं नमः परम-तीर्थ-सुवन्दकाय ।।
स्याद्वाद सूक्ति सरणि-प्रतिबोधकाय ।
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ।।



आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज



उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

आशीर्वाद

उपाध्याय मुनि श्री भरतसागरजी

आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। तीर्थंकरो की वाणी स्याद्वाद वाणी का प्रसार सत्य का प्रचार है।

असत्य को उखाडना है तो असत्य का नाम भी मुख से न निकालो सत्य स्वय ही प्रस्फुटित हो सामने आयेगा।

वर्तमान मे कुछ वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य की चादर थोपने लगा। वह है एकान्तवाद, निश्चयाभास।

असत्य को अपना रग चढाने मे देर नही लगती, यह कटु सत्य है। कारण जीव के मिथ्यासस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। फलतः पिछले ७०–८० वर्षों मे एकान्तवाद ने जैन का टीका लगाकर निश्चय-नय की आड मे स्याद्वाद को कलकित करना चाहा। घर-घर मे मिथ्याशास्त्रो का प्रचार किया। आचार्य कुन्दकुन्द की आड मे अपनी ख्याति चाही और भावार्थ बदल दिये, अर्थ का अनर्थ कर दिया।

बुधजनो ने अपनी क्षमता से मिथ्यात्व से लोहा लिया पर अपनी तरफ से जनता को सत्य साहित्य नही दिया। आर्यिका स्याद्वादमतिजी ने इस हीरक जयन्ती वर्ष मे एक नया निर्णय आचार्य श्री व हमारे सान्निध्य मे लिया कि "असत् साहित्य को हटाने के पूर्व, हमारा आगम जन-जन के सामने रखें। अनेक योजनाओ मे से एक मुख्य योजना सामने आई। आचार्य प्रणीत ७५ ग्रन्थों का प्रकाशन हो। जिनागम का भरपूर प्रकाशन हो, सूर्य का प्रकाश जहाँ होगा श्याम सितारा वहाँ क्या करेगा। सत्य का मण्डन करते जाइए, असत्य का खण्डन स्वय होगा। असत्य को निकालने के पूर्व सत्य को थोपना आवश्यक है।

ग्रन्थो के प्रकाशनार्थ जिन भव्यात्माओ ने अपनी स्वीकृतियां दी हैं, परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से सहायता दी है, सबको हमारा आशीर्वाद है।

संकल्प

ग्गाए पयास सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कलयुग मे ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है, पदवियां और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व वन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यो का लक्ष्य ही नही है।

जीवन मे मात्र ज्ञान नही सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढन्त बातो की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं, ऊटपटांग लेखनियाँ सत्य की श्रेणी मे स्थापित की जा रही हैं, कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नही हैं और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नही देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओ मे प्रस्ताव पारित करने मात्रमे कार्य सिद्ध होना अशक्य है। सत्सा हत्य का प्रचुर प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है :—

> यनैते विढलन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वरा:
> भव्या येन विदन्ति निवृतिपद मुञ्चति मोह बुधा'।
> यद् बन्धुर्यमिना यदक्षयसुखस्याधार भूत मत,
> तल्लोकत्रयशुद्धिद जिनवच. पुष्पाद् विवेकश्रियम् ॥

सन् १६८४ से मेरे मस्तिष्क मे यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि "सकल्प के बिना सिद्धि नही मिलती।" सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती के

मांगलिक अवसर पर मां जिनवाणी की सेवा का यह सकल्प मैंने प. पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री व उपाध्याय श्री के चरण सानिध्य मे लिया। आचार्य श्री व उपाध्याय श्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलत. इस कार्य मे काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य मे विशेष सहयोगी प. धर्मचन्दजी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हें व प्रत्यक्ष परोक्ष मे कार्यरत, सभी कार्यकर्त्ताओ के लिए मेरा पूज्य गुरुदेव के पावन चरण कमलो मे सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०　　　　—आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्य चूडामणि-
स्तद्वाचः परमास्तेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्‌दितिका ।।
सद्‌रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्वनं ।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।।पद्मनंदी।पं ।।

वर्तमान में इस कलिकाल मे तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नही है तथापि समस्त भरत क्षेत्र मे जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिए उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती की पूजन है; तथा सरस्वती की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि मे प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गूंथित वह महान आचार्यो द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार, मार्ग-प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है।

युग प्रमुख आचार्य श्री के हीरक जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य मे हमे जिनवाणी के प्रसार के लिये एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। वर्तमान युग में आचार्य श्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सान्निध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निदेशिका तथा जिन्होने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों

की खोज कर विशेष सहयोग दिया ऐसी पूज्या आ. स्याद्वादमतिमाताजी के लिए मैं शत-शत नमोस्तु-वन्दामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागी वर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ। तथा ग्रन्थ के सम्पादक महोदय, श्रीमान् प्र. प. धर्मचन्दजी शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य, ग्रन्थ के संशोधक तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता, ग्रन्थमाला एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुग्रह निधि का सहयोग देने वाले महानुभावों की मैं आभारी हूँ। तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले श्री वीर प्रेस की भी मैं आभारी हूँ। अन्त में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सभी सहयोगियों के लिये कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सब जिन-शासन की जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें, ऐसी कामना करती हूँ।

—कुं. प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग मे मानव के अस्तित्व को ही नही अपितु प्राणि-मात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान "अहिंसा" अमोघअस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-सस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरो के मुख से निकली वाणी को गणधरो ने ग्रहण किया और आचार्यो ने निबद्ध किया, जो आज हमे जिनवाणी के रूप मे प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग मे अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव साधुगण निरन्तर जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार मे लगे हुए है।

उन्ही पूज्य आचार्यों मे से एक है सन्मार्ग-दिवाकर, चारित्र-चूडामणि परम-पूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय मे प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो और मन्दिरो मे स्वाध्याय हेतु रखे जायँ जिसे प्रत्येक श्रावक पढकर मोह रूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन निरन्तर अवाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओ को ध्यान मे रखकर परम-पूज्य, ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण, उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एव आर्यिकारत्न स्याद्वादमति माताजी की प्रेरणा व निर्देशन में परम-पूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की ७५वी जन्मजयन्ति हीरक जयन्ति वर्ष के रूप में मनाने का संकल्प

समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने लिया। इस हीरक जयन्ति वर्ष मे निम्नलिखित प्रमुख योजनायें क्रियान्वित करने का निश्चय किया। तद्नुरूप ग्रन्थो का प्रकाशन किया जा रहा है। योजनान्वित ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है :—

१. सिद्धचक्र विधान, २. विमल भक्ति-सग्रह, ३. रयणसार, ४. धर्म-मार्गसार, ५. आराधना कथा कोष, ६. अष्ट पाहुड, ७ पञ्चास्तिकाय, ८. पच स्तोत्र, ९. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, १०. चर्चासार, ११. सुधर्म-श्रावकाचार, १२. सम्यक्त्व-कौमुदी, १३. परीक्षामुख, १४ क्षत्र—चूड़ामणि, १५. समयसार, १६. योग—सार, १७. नीतिसार समुच्चय, १८ परमात्म-प्रकाश, १९. न्याय—दीपिका, २० शान्ति-सुधा सिन्धु, २१. इन्द्रनन्दी नीतिसार, २२ इष्टोपदेश, २३. समाधितन्त्र, २४ वराग चरित्र, २५ भरतेश वैभव, २६ वैराग्य मणिमाला, २७. स्वरूप सम्बोधन, २८. श्रुतावतार, २९ अमितगति श्रावकाचार, ३०. आत्मानुशासन, ३१. स्वयभू स्तोत्र, ३२. द्रव्य—सगहृ, ३३ धर्म रसायन, ३४ सार—समुच्चय, ३५ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, ३६. आलाप पद्धति, ३७ मदन पराजय, ३८ वसुनन्दी श्रावकाचार, ३९ धर्मशर्माभ्युदय, ४० सागार धर्मामृत, ४१ बोधामृत सार, ४२. पाडवपुराण, ४३. नयचक्र, ४४. जीवक चिन्तामणि, ४५ अभयकुमार चरित्र, ४६. आप्तमीमांसा, ४७. मन्दरमेरु पुराण, ४८. युक्त्यानुशासन, ४९. प्रतिष्ठा पाठ, ५०. भाव—सग्रह वामदेव, ५१ लघु तत्वस्फोट, ५२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५३. अमरसेन—चरयु, ५४ रत्नकरण्ड श्रावकाचार (प्रश्नोत्तर), ५५. धर्मरत्नाकर, ५६ प्रमेय रत्नमाला, ५७. यशस्तिलक चम्पू, ५८. सिद्धान्त सार, ५९. तत्वार्थवृत्ति, ६०. ज्ञानामृत, ६१. नियमसार, ६२. श्रावक धर्म प्रदीप, ६३. श्रेणिक चरित्र, ६४. अमृताशीत, ६५. अगपण्णति, ६६. पार्श्व पुराण, ६७. मल्लिनाथ पुराण, ६८. विमलनाथ पुराण, ६९. नेमिनाथ पुराण, ७०. प्रवचनसार, ७१. सुभाषित रत्नावली, ७२. धन्यकुमार चरित्र, ७३. सिद्धिप्रिय स्तोत्र, ७४. सार—चतुर्विंशतिका, ७५. जम्बूस्वामी चरित्र।

७५ ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना के साथ ही साथ भारत के विभिन्न नगरो मे ७५ धार्मिक शिक्षण शिविरो का आयोजन किया जा रहा है और ७५ पाठशालाओ की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान-यज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ पाठशालाओ की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान-यज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ विद्वानो का सम्मान एव ७५ युवा विद्वानो को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७७७५ युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनाएं इस हीरक जयन्ती वर्ष मे पूर्ण की जा रही हैं।

सम्प्रति आचार्यवर्य पूज्य विमलसागरजी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणों मे शत-शत नमोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थो के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एव मार्गदर्शन मिला है। वे पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी महाराज एवं माता स्याद्वादमति जी हैं। उनके लिये मेरा क्रमशः नमोऽस्तु एवं वन्दामि-अर्पण है।

उन विद्वानो का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थो के प्रकाशन में अनुवादक, सम्पादक एव सशोधक के रूप मे सहयोग दिया है। ग्रन्थो के प्रकाशन मे जिन दाताओ ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चञ्चला लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए एतदर्थं उन प्रेस सचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन को कार्य किया का भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त मे उन सभी सहयोगियो का आभारी हू जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे सहयोग प्रदान किया है।

प्र. पं. धर्मचन्द शास्त्री
अध्यक्ष
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

❀ श्री वादीभसिंह सूरि का परिचय ❀

आपका जन्मनाम ओडयदेव, दीक्षानाम अजितसेन और पाण्डित्योपार्जित उपाधि (नाम) वादीभसिंह है।

गद्यचिन्तामणि ग्रन्थके 'श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रणीतः' इत्यादि पद्य से स्पष्ट है कि आप श्रीपुष्पसेन मुनि के शिष्य थे।

आपका जन्मस्थान प्रायः अज्ञात-सा है। फिर भी विद्वज्जनों ने तमिलप्रदेश के पोलोरु तालुका के तिरुमलै नामक प्राचीनक्षेत्र में आपका जन्म सिद्ध किया है। मैसूरप्रान्त का 'पोम्बुच्च' क्षेत्र आपके प्रचार का केन्द्र था। मैसूर राज्य और पोम्बुच्च के विभिन्न स्थानो के शिलालेख इस विषय के साक्षी हैं।

आप तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलङ्कार और कोश आदि ग्रन्थो के पूर्ण मर्मज्ञ थे। आपके वादित्वगुण की विद्वत्समाज में कितनी धाक थी इस बात का निदर्शन आपकी 'वादीभसिंह' उपाधि ही पर्याप्त है। साधारण श्रावक से लेकर बड़े-बड़े राज्य कर्मचारी तक आपके परम भक्त थे। श्रवणबेल-गोल की मल्लिषेण प्रशस्ति से शान्तिनाथ और पद्मनाभ नामक आपके दो शिष्यो का उल्लेख पाया जाता है। पोम्बुच्च के न३७ सन् ११४७ के एक स्तम्भलेख से यह भी विदित होता है कि पम्पादेवी नामक आपकी एक विदुषी शिष्या भी थी, जो तैल-सान्तर की सुपुत्री और बिम्बसार की भगिनी थी।

श्रीयुत टी० सी० कुप्पुस्वामी, प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, और श्रीयुत पं० नाथूरामजी और "संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" के लेखकद्वय वादीभसिंह को दशमी शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। परन्तु न्यायाचार्य श्रीमान् पं० दरबारीजी कोठिया ने अनेकान्त में प्रकाशित अपने एक लेख में बारहवीं

शताब्दी के अनेक शिलालेखों के आधार पर वादीभसिंह का उपस्थितिकाल ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित किया है। क्षत्रचूडामणि के अन्त में 'राजतां राजाराजोऽयम्' इत्यादि पद्य से भी आपने वादीभसिंह को ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का चोलवंशीय राजराज के समय का विद्वान् साबित किया है।

वादीभसिंह की दो कृतियां उपलब्ध हैं। पहली क्षत्र-चूडामणि तथा दूसरी गद्यचिन्तामणि। इनमें पहला पद्यकाव्य और दूसरा गद्यकाव्य है। इनमें क्षत्रचूडामणि तो खासा नीति-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। इसके प्रायः प्रत्येक श्लोक के उत्तरार्ध में नीति कही गई हैं। आपकी गद्यचिन्तामणि की विवेचनशैली तो महाकवि "बाण की रचनापद्धति को भी परास्त करती है।

अष्टसहस्री ग्रन्थ के मङ्गलाचरणगत पद्य पर प्रदत्त 'तदेवं महाभागैः' इत्यादि टिप्पण से यह भी ध्वनित होता है कि आचार्य समन्तभद्र की आप्त मीमांसा पर भी वादीभसिंह ने कोई टीका अवश्य बनाई थी। सम्भव है इसके अतिरिक्त आपने न्याय का भी कोई मौलिक ग्रन्थ भी बनाया हो।

—मोहनलाल शास्त्री।

जीवन्धर-कुमार चरित्र

प्रथम लम्ब

मध्यलोक मे असख्यात द्वीप—समुद्रो के बीच एक जम्बूद्वीप है। उसमे दक्षिण दिशा की ओर भरत क्षेत्र मे हेमाङ्गद नामक एक प्रदेश है। उसमे राजपुरी राजधानी है। वहा सत्यन्धर राजा था और उनके विजया रानी थी। राजा अपनी रानी पर इतने मोहित थे कि उनका मन राज्य काज मे नही लगता था।

इसी कारण एक समय आप अपना राज्य काष्ठाङ्गार मत्री को देने के लिए तैयार हो गये। उस समय कुछ मत्रियो ने राजा को समझाया कि आप ऐसा नही करें। किन्तु विषयासक्ति वश राजा ने किसी की वात न मानी और काष्ठाङ्गार को राज्य दे ही दिया।

एक समय महारानी विजया ने रात्रि के पिछले भाग मे 'दृष्टि-गोचर होकर नष्ट हुआ अशोकवृक्ष, मुकुटसहित नवीन अशोकवृक्ष और आठ मालायें" ऐसे तीन स्वप्न देखे। प्रात.कालिक क्रियाओ से निवृत्त होकर स्वप्नो का फल जानने के अभिप्राय से वह शीघ्र ही महाराज सत्यन्धर के पास पहुँची।

महाराज सत्यन्धर ने स्वप्नो को सुन कर उनका फल बतलाया, कि—मुकुट सहित अशोक वृक्ष भविष्य मे तुम्हारे पुत्रोत्पति की और आठ मालायें उसकी आठ स्त्रियो को सूचित करती है। इसके बाद महारानी ने पूछा, कि हे स्वामिन् ! "दृष्टिगोचर होकर नष्ट हुआ अशोकवृक्ष" रूप प्रथम स्वप्न क्या सूचित करता है ? महाराज अब भी उस स्वप्न के फल को स्पष्ट नही कर सके, परन्तु उस समय उनके चेहरे पर कुछ विषाद की रेखा दिखाई दे रही थी, जो भविष्य मे होने वाले अनिष्ट को स्पष्ट करती थी। इस अमङ्गल (सत्यन्धर की मृत्यु)की सम्भावना से उसी समय महारानी का दुःख समुद्र उमड पड़ा। तव महाराज सत्यन्धर ने बडी कठिनाई से समझा बुझाकर रानीको शान्त किया।

कुछ समय वाद रानी गर्भवती हुई। गर्भ के लक्षणो को देख कर अपनी मृत्यु का समय निकट समझ सत्यन्धर ने उसी समय एक प्रसिद्ध वढई को वुलाकर एक मयूराकृति-यन्त्र (हवाई जहाज) वनवाया और अपने अनिष्ट की आशका से रानी के गर्भ (वश) की रक्षा के लिये उसे मयूराकृति-यन्त्र मे विठाकर आकाश मे उडाने का अभ्यास करने लगे।

एक समय कपटी काष्ठाङ्गार ने विचारा कि महाराज सत्यन्धर के जीवित रहते हुए मैं पूर्ण स्वतन्त्र नही हूँ, इसलिये उन्हे मार कर मुझे स्वतत्र राजा वन जाना चाहिये। अतएव उसने वहाना वना कर अपने मन्त्रियो से कहा कि राजा को मार कर अपनी रक्षा करने और स्वतत्र राजा वन जाने के लिये एक देव आकर मुझसे सदा प्रेरणा करता है। इस विपय मे आप कर्त्तव्यमार्ग का निर्णय कीजिये।

यह सुन मंत्रियो ने काष्ठाङ्गार के इस दुरभिप्राय की घोर निन्दा की, परन्तु उसके साले, मथन ने उसकी वात की प्रशसा कर दी, जिससे काष्ठाङ्गार का दुःसाहस और भी वढ गया और उसने राजा को मारने के लिये भारी सेना भेज दी।

महाराज सत्यन्धर ने द्वारपाल से सेना के आने का समाचार जब सुना, तव उन्होने शीघ्र ही रानी को उस यंत्र मे विठा कर आकाश मे उडा दिया और स्वयं युद्ध करने को तत्पर हो गये। वहुत समय तक युद्ध करने पर उसमे होने वाले व्यर्थ जनसहार से विरक्त हो उन्होने समस्त परिग्रह छोड़ कर आत्मस्वरूप का चिन्तवन करते हुए सल्लेखना-पूर्वक शरीर छोड़ा और स्वर्ग मे देवपर्याय प्राप्त की। उनके वियोग से समस्त देश मे आतक छा गया।

वह मयूराकृति-यन्त्र राजपुरी की श्मशान भूमि मे गिरा। वहाँ उसी दिन उस रानी के पुत्र पैदा हुआ। उस पुत्र के पुण्य से एक 'चम्पक-माला' नामक देवी धाय का वेप धारण कर उसी समय वहाँ आई।

उसने अपने अवधिज्ञान से जान कर विजया को आश्वासन देकर कहा कि हे देवी ! इस पुत्र के पालन की चिंता मत करो । एक कुलीन व्यक्ति इस पुत्र का राजकुमारो के योग्यरीति से पालन करेगा । उस देवी की सम्मति से वह रानी उस पुत्र को राजनामाङ्कित अँगूठी पहिना कर समीप मे ही छिप गई ।

उस नगरी के सेठ गन्धोत्कट के यहां एक पुत्र उसी दिन पैदा होकर मर गया था । उसके मृत्यु-सस्कार के लिये वह उसी श्मशान मे गया और वहां अपने मृतपुत्र का अन्तिम सस्कार तक एक अवधिज्ञानी मुनिराज के कथनानुसार वहा अन्य पुत्र की तलाश करने लगा, तब उसने वहां एक पुत्र को पडा हुआ देख कर उठा लिया । तथा समीप मे छिपी हुई विजया के द्वारा दी गई 'जीव' आशीर्वाद को सुनकर उसका जीवन्धर नाम रखा और घर आकर अपनी सुनन्दा नामक स्त्री पर कृत्रिम क्रोध कर कहा कि तुमने जीवित पुत्र को मरा कैसे कह दिया ? वह भोली सेठानी भी उस पुत्र को गोद मे लेकर बहुत प्रसन्न हुई । और अपना ही पुत्र समझकर भलीप्रकार उसका पालन भी करने लगी ।

पुत्र-प्राप्ति की खुशी मे गन्धोत्कट ने एक बडा भारी उत्सव मनाया, उस उत्सव को मूर्ख काष्ठाङ्गार ने अपने राजा होने की खुशी मे किया गया उत्सव समझ गन्धोत्कट को बहुत पारितोषिक दिया । इधर उस देवी ने उस रानी को भी दण्डक वन मे स्थित एक तपस्वियो के आश्रम मे पहुंचा दिया और निश्चिन्त होकर अपने स्थान को चली गई ।

कुछ समय बाद सुनन्दा के एक पुत्र और हुआ । उसका नाम नन्दाढ्य रखा गया । उससे जीवन्धर की शोभा और भी बढ़ गई । उस दिन राजपुरी के उत्तम कुलो मे जितने बच्चे पैदा हुए थे, उन्हे काष्ठाङ्गार ने गन्धोत्कट के यहां भिजवा दिया । उनके साथ जीवन्धर का पोषण होने लगा । पांच वर्ष की उम्र मे जीवन्धर का यथाविधि विद्यासंस्कार किया गया ।

❀ द्वितीय लम्ब ❀

गन्धोत्कट सेठ ने समस्त विद्याओ मे निपुण 'आर्यनन्दी' महाराज से जीवन्धर को विद्याभ्यास कराया। गुरुने भी विनय और सेवा मे प्रसन्न होकर उन्हे समस्त विद्याओमे उद्भट विद्वान् बनाया। एक दिन आर्यनन्दी मुनि ने अपना पूर्व वृत्तान्त किसी अन्यजन की कथा के बहाने से जीवन्धर को सुनाया कि विद्याधर लोक मे लोकपाल नामक एक राजाने क्षणनश्वर मेघ को देखकर संसार तथा भोग आदिक की अनित्यता जान पुत्र को राज्य दे मुनिदीक्षा धारण की। पापकर्म के उदय से वह भस्मक रोग से पीड़ित हो भ्रष्ट होकर पाखण्ड वेष धारण कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने लगा।

दैवयोग से एक दिन भोजन करने के समय वह मुनि तुम्हारे घर गया। वहां पर तुमने उसे अत्यन्त भूखा जान कर अपने रसोइया को आज्ञा दी; कि इसको भर पेट भोजन कराओ। तुम्हारे घरमे बना हुआ सम्पूर्ण भोजन खा लेने पर भी उसकी भूख शान्त नहीं हुई तब अपने भोजन मे से तुमने एक ग्रास उसे दिया, जिससे उसका भस्मक रोग तत्काल दूर होगया। तब उसने भी इस महान उपकार के बदलेमे आपको विद्याप्रदान करना ही सर्वोत्तम समझ तुम्हे उद्भट विद्वान् बनाया। अपने गुरु का पुनीत परिचय पाकर जीवन्धर को अधिक प्रसन्नता हुई।

गुरुदेव ने यह भी बताया कि "तुम सत्यन्धर महाराज के पुत्र हो और काष्ठाङ्गार ने तुम्हारे पिता को मार डाला है।" इस बात को सुनते ही जीवन्धर कुमार अतिशय क्रोधित होकर काष्ठाङ्गार से अपने पिता के प्राणघात का बदला लेने के लिये तैयार हो गया। किन्तु गुरु ने उसे अल्पवयस्क देख समझा बुझा कर एक वर्ष तक न लड़ने की उससे प्रतिज्ञा कराली। मुनिराज ने जीवन्धर को समयोपयोगी अन्य शिक्षायें भी दीं। पश्चात् वे पुनर्दीक्षा धारण कर मोक्ष पधारे।

उसी राजपुरी नगरी मे नन्दगोप ग्वाल रहता था। एक दिन कुछ भीलों ने जगल मे ग्वालो की गायें रोक ली। जिससे वह दुःखित

होकर अपने साथियो को लेकर काष्ठाङ्गार राजा के समीप आया और गायो को वापिस कराने के लिये प्रार्थना करने लगा। तब काष्ठाङ्गार ने व्याधों को जीतने के लिये बड़ी भारी सेना भेजी, किन्तु जब वह व्याधों को परास्त नही कर सकी, तब नन्दगोप ने अपने गोधन की रक्षा के हेतु सम्पूर्ण नगर मे यह ढिंढोरा पिटवाया, कि जो व्यक्ति भीलो से हमारी गायें छुडा लावेगा उसे मैं सुवर्ण की सात पुतलियां दहेज मे देकर अपनी गोविन्दा नामक पुत्री व्याह दूंगा। यह सुनकर जीवन्धरकुमार वन मे गये और व्याधो को जीत कर गायें छुडा लाये।

प्रतिज्ञानुसार नन्दगोप ने भी कन्या-प्रदान करने के लिये जलधारा छोडी। किन्तु जीवन्धरकुमार ने उसके साथ स्वय विवाह करना उचित नही समझ अपने मित्र पद्मास्य के साथ उसका विवाह करा दिया।

★ तृतीय लम्ब ★

राजपुरी नगरी मे श्रीदत्तनामक वैश्य रहता था। उसके पास पितृजनो के द्वारा उपार्जित अधिक धन था, तो भी उसके अपने हाथ से धन कमाने की इच्छा हुई। तब वह शुभ मुहूर्त मे व्यापार के निमित्त अन्य द्वीप को गया और व्यापार से धन-सम्पन्न होकर नौका (जहाज) पर माल लदा कर स्वदेश को लौटा। उस समय मूसलाधार वृष्टि से उसकी नौका समुद्र मे डूबने लगी। तब उस नौका पर बैठे हुये साथियो को शोक मग्न देख कर श्रीदत्त ने बहुत समझाया और धैर्य बधाया।

नौका के डूबते समय उस श्रीदत्त को दैवयोग से उस समुद्र मे एक प्रस्तूप मिल गया। उस पर बैठ कर वह समुद्र के किनारे पहुंचा।

समुद्र के किनारे पर उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। श्रीदत्त ने उससे अपना सारा समाचार कहा। आगन्तुक महाशय ने भी अपने किये हुये षड्यंत्र को थोड़ी देर के लिये छिपा कर श्रीदत्त की वह करुण कहानी सुनी। पश्चात् वह किसी वहाने से श्रीदत्त को विजयार्ध पर्वत पर ले गया और यह समाचार सुनाया।

गन्धार देश की नित्यालोका नगरी के राजा मेरे स्वामी गरुडवेग के साथ आपकी कुलपरम्परागत मित्रता है। उन्होंने अपनी सुपुत्री के विवाह मे सहायता लेने के हेतु आपको बुलाने के लिये मुझे आपके पास भेजा है, इसलिये कार्य की अनिवार्यतावश और उपायान्तर के न होने से नौका डूबने का भ्रम करके मैं (धरनामक विद्याधर) आपको यहा लाया हूँ। वास्तव मे आपकी नौका डूबी नहीं है। इससे अब आप निश्चिन्त होकर अपने मित्र गरुडवेग से मिलने की कृपा कीजिये।

नौका के डूबने को भ्रममात्र जान प्रसन्न होकर श्रीदत्त भी गरुडवेग राजा से मिला। राजा ने भी उसका समुचित सत्कार किया तथा अपनी गन्धर्वदत्ता नामक सुपुत्री उसे सौंप दी और कहा कि इसके जन्मलग्न मे ज्योतिषियो ने कहा था, कि राजपुरी मे जो व्यक्ति वीणा बजाने मे इसे जीतेगा वही इसका स्वामी होगा। इसलिये आप इसका सुयोग मिलाने के लिये इस पुत्री को राजपुरी ले जाइये।

वह श्रीदत्त गन्धर्वदत्ता को लेकर अपने घर आया और उसने अपनी स्त्री से उसका सारा-समाचार कहा। पश्चात् उसने काष्ठाङ्गार राजाकी सम्मति लेकर देश देशान्तरमें यह घोषणा कराई कि जो व्यक्ति मेरी गन्धर्वदत्ता सुपुत्री को वीणा मे जीतेगा, उसे कन्या व्याह दूंगा।

इस घोषणा को सुन दूर दूर के अनेक राजा महाराजा गन्धर्वदत्ता की चाह से वीणा मण्डप मे आये किन्तु गन्धर्वदत्ता ने अपनी परिवादिनी नामक वीणा बजा कर उन्हे परास्त कर दिया, परन्तु वीणावादन मे निपुण जीवन्धर ने अपनी घोषवती नामक वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता को क्षणमात्र मे परास्त कर दिया। तब गन्धर्वदत्ता ने पराजय को विजय से भी उत्तम मानकर जीवन्धर के गले मे वरमाला डाल दी।

इस घटना को देख जीवन्धर के उत्कर्ष को न सह कर दुष्ट काष्ठाङ्गार ने अभ्यागत कुछ राजाओं को जीवन्धर के विरुद्ध भडका दिया। तब उन्होंने जीवन्धर के साथ युद्ध किया, किन्तु वे सब पराजय को प्राप्त हुये और गन्धर्वदत्ता का जीवन्धर के साथ पाणिग्रहण हो गया।

.·. चतुर्थ लम्ब .·.

एक समय वसन्त ऋतु के आने पर नगर निवासियो ने जलक्रीडा का उत्सव मनाया। जीवन्धर भी अपने मित्रो के साथ जलक्रीडा को देखने नदी पर गये। वहा हवन की सामग्री को जूंठा कर देने के कारण कुछ ब्राह्मणो ने एक कुत्ते को अधमरा कर दिया था। दयालु जीवन्धर ने उसे मृत्यु से बचाने की बहुत कोशिश की, किन्तु अधिक घायल हो जाने से सफल न हो उसके परभव के सुधार के हेतु उन्होने उसे मरते समय णमोकारमत्र' सुनाया वह कुत्ता मरने पर मत्र के प्रभाव से यक्षेन्द्र हुआ। तब वह अवधिज्ञान से अपने पूवभव का समस्त वृत्तान्त जान कर कृतज्ञतावश शीघ्र जीवन्धर के पास आया। जीवन्धर ने उससे उसका परिचय पूछा, तब उसने भी पूर्व वृत्तान्त सुनाया। पश्चात् "हे सज्जन! मैं आपका सेवक हू, जब आप पर कोई आपत्ति आवे, तब मेरा स्मरण करना, मैं उसी समय आकर आपकी आपत्ति दूर करूँगा" यह कह कर वह यक्षेन्द्र अदृश्य हो गया।

सुरमजरी और गुणमाला नामक दो सखियाँ भी वह जलक्रीडा देखने नदी पर आईं। उनके पास भिन्न भिन्न दो प्रकार के स्नानोपयोगी चूर्ण थे। उन दोनो सखियो मे 'किसका चूर्ण उत्तम है' इस प्रकार वाद विवाद छिड गया। अन्त मे दोनो ने प्रतिज्ञा की कि जिसका चूर्ण अनुपयोगी सिद्ध होगा, वह इस नदी मे स्नान नही करे। उक्त निश्चय के अनुसार उन दोनो ने थोडा थोडा चूर्ण देकर अपनी अपनी दासियो को चूर्णपरीक्षक विद्वानो के पास भेजा। वे दासियाँ अन्य विद्वानो से चूर्ण की परीक्षा कराकर अन्त मे जीवन्धर के पास आई और चूर्ण की परीक्षार्थ प्रार्थना करने लगी।

जीवन्धर ने निष्पक्ष परीक्षा कर गुणमाला के चूर्ण को समयोचित सगुण और उपयोगी बतलाया। तब सुरमञ्जरी की दासी क्रोधित होकर बोली, कि जिस प्रकार अन्य विद्वानो ने पक्षपात कर गुणमाला के चूर्ण को उत्तम बतलाया है, उसी प्रकार आप भी कह रहे हैं, मालूम होता है कि आप भी उन्ही के सहपाठी हैं। तब जीवन्धरकुमार ने दोनो चूर्णो को

अलग अलग ऊपर फेंका, तब गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण पर भौंरे मडराने लगे, जिससे सुरमजरी का चूर्ण स्वयमेव अनुपयोगी सिद्ध हो गया। पश्चात् दोनो दासियो ने जाकर अपनी स्वामिनियो से चूर्ण-परीक्षा का सारा समाचार कहा जिसे सुनकर सुरमञ्जरी वहुत रुष्ट हुई।

गुणमाला ने सुरमजरी को बहुत मनाया पर वह न मानी और अपनी प्रतिज्ञानुसार बिना स्नान किये ही वहाँ से घर लौट गई। उसने यह प्रतिज्ञा भी की, कि मैं जीवन्धर को छोडकर अन्य किसी पुरुष को देखूंगी भी नहीं।

गुणमाला स्नान कर जब अपने घरको लौट रही थी तब रास्ते मे काष्ठाङ्गार के एक मदोन्मत्त हाथी ने उसे आ घेरा। उस समय गुणमाला के कुटुम्बी और नौकर उसे वही छोड़कर भाग गये, किन्तु प्रियम्वदा सखी ने उसे अपने पीछे खडी कर रक्षा करने का प्रयत्न किया। इतने मे ही जीवन्धरकुमार नदी से लौटकर अकस्मात् वहा आ पहुंचे और उन्होने उस हाथी को अपने कुण्डल से ताडित कर वहा से भगा दिया।

उस समय जीवन्धर और गुणमाला मे परस्पर प्रेमाकुर का बीज जम गया। गुणमाला ने घर आकर जीवन्धर के पास प्रेमपत्र भेजा। जीवन्धर ने भी अनुकूल उत्तर देकर उसे सतुष्ट किया। पश्चात् गुणमाला के माता पिता ने इस दोनो के प्रेम का समाचार सुन कर जीवन्धर के साथ गुणमाला का विवाह कर दिया।

∴ पंचम लम्ब ∴

जीवन्धरकुमार द्वारा तिरस्कृत हाथी ने खाना पीना भी छोड़ दिया। यह सुन अनङ्गमाला के वरण आदि कारणो से पूर्व से क्रुद्ध काष्ठाङ्गार उन जीवन्धर पर और भी क्रुद्ध हो गया और उसने जीवन्धर को पकड लाने के लिये अपनी सेना भेजी। तब जीवन्धर भी अतिशय क्रुद्ध होकर युद्ध की तैयारी करने लगे परन्तु गन्धोत्कट ने उन्हें युद्ध से रोक दिया और पीछे से हाथ बांध कर नम्रतापूर्वक काष्ठाङ्गार की सेवा में स्वयं उपस्थित कर दिया।

काष्ठाङ्गार ने उसे बचा हुआ देख कर भी मार डालने की आज्ञा दे दी। तब जीवन्धर ने यक्षेन्द्र का स्मरण किया। वह तुरन्त वहा आया और जीवन्धर को अपनी विक्रियाशक्ति से चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया। वहा उसने क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और इच्छानुकूल वेषधारण करने मनोमोहक गान गाने तथा हालाहल विष को भी दूर करने मे शक्तिशाली तीन मत्र भी उन्हें दिये। अवधिज्ञान से जान कर उसने यह भी कहा कि 'आप एक वर्ष मे ही राजा हो जावेंगे और राज्यसुख का भोग कर अन्त मे मोक्ष प्राप्त करेंगे'।

जीवन्धरकुमार घूमते हुये एक वन मे आये। वहा चारो ओर लगी हुई दावाग्नि से जलते हुये हाथियो को देख दयार्द्र हो उन्होने सदय हृदय से जिनेन्द्रदेव का स्तवन किया, जिसके प्रभाव से उसी समय मेघवृष्टि हुई जिससे उन हाथियो की रक्षा हुई।

वहाँ से रवाना होकर अनेक तीर्थ स्थानो की वन्दना करते हुए वे चन्द्राभा नगरी मे पहुचे। वहा के राजा धनमित्र की सुपुत्री पद्मा को साप ने काट खाया था। जीवन्धर ने अपने मत्र के प्रभाव से उसे तत्काल जीवित कर दिया। तब राजा ने बहुत सन्मान कर आधा राज्य दे अपनी उस पद्मा नामक कन्या का उनके साथ विवाह कर दिया।

❀ षष्ठ लम्ब ❀

जीवन्धर स्वामी कुछ दिन चन्द्राभा नगरी मे रह कर बिना कहे ही वहाँ से चल दिये। मार्ग मे अनेक तीर्थस्थानो की बन्दना करते हुये वे एक तपस्वियो के आश्रम मे पहुचे। वहा पर उन्होने तपस्वियो को मिथ्या तप करते हुये देखा, तब यथार्थ तप और सच्चे धर्म का स्वरूप समझा कर उन्हे जिनेन्द्रप्रणीत धर्म मे प्रवृत्त किया।

इसके बाद वहाँ से रवाना होकर वे दक्षिणदेश के एक सहस्रकूट चैत्यालय मे पहुचे। वहा पर जिनमन्दिर के किवाड बन्द देख कर बाहर से ही जिनराज की स्तुति करने लगे। उस जिनमन्दिर के किवाड बहुत समय से बन्द थे, वे उनकी स्तुति के प्रभाव से तत्काल खुल गये।

पूर्व से वहा रहने वाला गुणभद्र नामक एक मनुष्य यह समाचार देखकर जीवन्धर के पास आया। जीवन्धर ने उससे पूछा, कि तुम कौन हो ? और यहा किस लिये रहते हो ? उसने कहा कि मैं क्षेमपुरी मे रहने वाले सुभद्र सेठ का गुणभद्र नामक नौकर हूँ। उनकी क्षेमश्री नामक कन्या के जन्मलग्न मे ज्योतिषियो ने बतलाया था कि यहां जिसके आने पर इस सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड खुल जावेंगे वही इसका पति होगा। भाग्यवश आज आपके शुभागमन से इस चैत्यालय के किवाड खुल गये हैं। इसलिये कुछ समय आप यहाँ पर ही ठहरने की कृपा कीजिये। जिससे मैं आपके शुभागमन की सूचना अपने स्वामी को दे आऊँ। ऐसा कह कर वह मनुष्य शीघ्र ही अपने स्वामी के पास गया और उसने जीवन्धर का सारा समाचार अपने स्वामी से कह सुनाया।

सुभद्र भी उस बात को सुनकर शीघ्र ही उस चैत्यालय मे आया और जीवन्धर को देख कर उनके वैभवादि का निर्णय कर उन्हे अपने घर ले गया। कुछ समय बाद उसने शुभ मुहूर्त मे अपनी सुपुत्री क्षेमश्री के साथ उनका विवाह कर दिया।

❀ सप्तम लम्ब ❀

जीवन्धर स्वामी क्षेमपुरी मे कुछ दिन रह कर वहाँ से अन्यत्र चल दिये। कुछ दूर पर उन्हे एक किसान मिला। उसे उन्होने भद्र जान वास्तविक सुख और श्रावकधर्म का लक्षण विशदरीति से समझा कर उसे श्रावक बनाया। और फिर आगे की ओर रवाना हुये।

जीवन्धरकुमार विश्राम करने के लिये एक वन मे बैठे थे कि वहा पर एक स्त्री आई। और उन पर आसक्त हो गई। वह विद्याधरी उन जीवन्धर को लुभाने के लिये निम्नप्रकार बात बनाकर कहने लगी। हे मान्यवर! "मैं एक विद्याधर की एक अनाथ कन्या हूँ। मेरा नाम अनङ्गतिलका है। मेरे छोटे भाई के साले ने जबर्दस्ती लाकर अपनी स्त्री के भय से मुझे यहा छोड दिया है"। इससे आप मेरी रक्षा करने की कृपा करें।

जीवन्धर उसकी वात सुनकर एकान्त मे परस्त्री से मिलने मे भयभीत हुये। वे वहाँ से रवाना होने के लिये तैयार ही हुये थे कि यह शब्द सुना कि हे प्राणप्यारी ! मुझे छोडकर तुम कहा चली गई, तुम्हारे विना मेरे प्राण निकल रहे हैं। यह शब्द सुनते ही वह स्त्री भी कोई वहाना वना कर वहां से शीघ्र ही अन्यत्र चली गई।

इतने मे ही वह शब्द कहने वाला व्यक्ति पास आकर जीवन्धर से कहने लगा कि हे मान्यवर ! मैं अपनी प्यारी स्त्री को इस वन मे विठा कर जल लाने के लिये गया था, वापिस आकर देखता हूँ तो वह यहाँ नही है। उसके विना मेरी विद्या भी नष्ट-प्राय हो गई। उसके ये वचन सुनकर जीवन्धरकुमार ने उस भवदत्त विद्याधर को वहुत समझाया, परन्तु जीवन्धर के उपदेश का उस पर जरा भी असर नही हुआ।

उस वन से रवाना होकर जीवन्धरकुमार हेमाभा नगरी के समीप पहुँचे। वहा पर एक वगीचे मे दृढमित्र राजा के सुमित्र आदि वहुत से राजकुमार अपने अपने वाणो द्वारा आम के फलों को तोडना चाहते थे। परन्तु धनुर्विद्या मे पूर्ण निपुण न होने से असफल होते थे, किन्तु जीवन्धर स्वामी ने एक ही वाण से वेधकर आमसहित वाण को हाथ मे लेकर उन राजकुमारो को दिखाया।

यह देख वडे राजकुमार ने जीवन्धर से कहा कि हे मान्यवर ! यह हेमाभा नगरी है, इसके राजा दृढमित्र हैं। उनके सुमित्र आदिक हम पुत्र हैं। हमे शिक्षा-सम्पन्न बनाने के लिये हमारे पिता धनुर्विद्या के ज्ञाता विद्वान् की खोज मे हैं। आप उनसे मिलने की कृपा करें। जीवन्धर भी उसके आग्रह के कारण दृढमित्र राजा से मिले। राजा की प्रार्थना से उन्होने राजकुमारो को धनुर्विद्या मे अतिनिपुण बना दिया। तव राजा ने इस महान् उपकार के वदले मे अपनी कनक माला कन्या का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

❀ अष्टम लम्ब ❀

किसी समय एक स्त्री मुस्कराती हुई जीवन्धर के पास पहुँची। उन्होने उससे पूछा, कि तुम यहाँ क्यो आई हो ? उसने उत्तर दिया कि आपके समान एक दूसरे मनुष्य को आयुधशाला मे देखकर आई हूँ। यह सुनकर जीवन्धर ने विचारा कि क्या मेरा छोटा भाई नन्दाढ्य यहाँ आया है ? उन्होने वहाँ जाकर देखा तो नन्दाढ्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुये।

जीवन्धर ने नन्दाढ्य से यहाँ आने का समाचार पूछा, उसने कहा कि दुष्ट काष्ठाङ्गार से आपके घात का निश्चय कर मैं भाभी गन्धर्वदत्ता के पास गया। उनको स्वामी के वियोग से कुछ भी दुःखित न देखकर मैंने कहा कि भाभी आप अपने पति का असह्य वियोग होने पर भी ऐसी निश्चिन्त क्यो प्रतीत होती हैं ? उन्होने अपनी विद्या के बल से जान कर कहा कि तुम क्यो खेद करते हो ? तुम्हारे बडे भाई (मेरे पति) को यक्षेन्द्र अपने निवासस्थान पर ले गया है। वे आनन्दपूर्वक सुख शान्ति और सत्कार का भोग कर रहे है। यदि उनके दर्शन की इच्छा है, तो मैं अपनी विद्या के प्रभावसे शीघ्र उनके पास पहुंचाये देती हूँ। पश्चात् उन्होने मन्त्रपूर्वक एक शय्या पर सुलाकर यह पत्र देकर आपके समीप भेजा है।

जीवन्धर स्वामी ने गन्धर्वदत्ता का पत्र पढा, उसमें उसने गुणमाला का दुःख प्रकाशित किया था। परन्तु जीवन्धर ने पत्र पढ कर विद्याधरी गन्धर्वदत्ता के विषय मे ही खेद किया।

एक समय बहुत से ग्वाल राजद्वार के मैदान मे आकर चिल्लाने लगे, कि जगल मे बहुत से मनुष्यो ने हमारी गायें रोक ली है। उनके आक्रन्दन को सुनकर श्वसुर के रोकने पर भी जीवन्धरकुमार गायें छुडाने के लिये उस वन मे गये। उन्होने वहाँ जाकर देखा कि गायो को पकड़ने वाले सब मेरे मित्र ही हैं, जिन्हे गन्धर्वदत्ता ने भेजा था।

उन मित्रो के द्वारा अपना अभूतपूर्व अधिक सन्मान देख कर जीवन्धर को उनपर सन्देह हुआ। तब उन्होने एकान्त मे उनसे उसका

आपके वियोग से दु:खी हमलोग आपके समीप आरहे थे। मार्ग मे थकावट दूर करने लिये दण्डकवन मे ठहरे। वहा तपस्वियो का आश्रम था। एक स्थान मे हमे सौभाग्य से पूज्य माता का शुभ दर्शन हुआ। माताजी ने हम लोगों से पूछा कि तुम कहा से आये हो ? और कहां जा रहे हो ? तव हम लोगो ने अपनी घटना का सारा समाचार उन्हें सुनाया। उसको सुनकर उन्हें वहुत दु:ख हुआ। तव हम लोगो ने उन्हें बार वार आश्वासन दिया, कि आप चिन्ता न करें, उन्हे बचाकर यक्षेन्द्र अपने स्थान पर ले गया है। उस माता ने भी धैर्य धारण कर आपका सारा वृत्तान्त हमे सुनाया। इसके वाद हम लोग वहा से प्रस्थान कर आपके पास आये हैं।

उन्हें मित्रो से जव यह पता चला, कि अभी हमारी माता जीवित हैं, तव वे अपनी माता के दर्शन के लिये अत्यन्त उत्कठित हो गये और दण्डकवन मे आकर उन्होने अपनी माता का दर्शन किया। पुत्रमिलाप से माता भी गत सारा दु:ख भूल गई। उन्होने जीवन्धर से कहा कि हे वेटा! तुम्हारे पिता का राज्य भी है। जीवन्धर ने कहा कि हाँ माताजी मुझे भी मालूम है। पश्चात् उन्होने अपनी माता को अपने मामा के घर भेज दिया।

इसके वाद जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी मे आये। वहाँ का वृत्तान्त जानने के लिये वे इधर उधर घूम रहे थे। उस समय एक स्थान पर गेंद खेलती हुई एक जवान कन्या को देख कर वे मोहित हो गये। वे उसके दरवाजे के चवूतरे पर जा वैठे। इतने मे उस कन्या के पिता ने आकर उनसे कहा, कि ज्योतिषियो ने मेरी कन्या के जन्ममुहूर्त्त में कहा था, कि "तुम्हारे वहुत दिन से रखे हुये रत्न जिस मनुष्य के आने पर विक जावेंगे, वही इसका स्वामी होगा।" आज आपके आने पर हमारे सव रत्न विक गये हैं, इसलिये आप मेरी कन्या को वरण कीजिये। यह सुन कर जीवन्धर ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। तब उस सागरदत्त वैश्य ने अपनी विमला कन्या का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

❀ नवम लम्ब ❀

जीवन्धरकुमार को वर के चिह्नो से विभूषित देख कर बुद्धिषेण नामक विदूषक ने उनसे कहा कि दूसरो से उपेक्षा की हुई कन्याओ के साथ विवाह करने मे आपका क्या महत्त्व है ? यदि आप पुरुषवर्ग की छाया भी न सहने वाली सुरमजरी के साथ विवाह कर सकें, तो आपका विशेष महत्त्व और सौभाग्य समझा जावेगा। उस विदूषक का वचन सुन कर जीवन्धर ने भी उस मानिनी सुरमजरी के साथ अपना विवाह करने का निश्चय किया।

उसी समय जीवन्धरकुमार ने यक्ष के द्वारा प्रदत्त मत्र के प्रभाव से वृद्ध ब्राह्मण का भेष बनाया और किसी प्रकार सुरमजरी के पास पहुँचे।

सुन्दरी ने उस वृद्ध ब्राह्मण को भूखा समझ कर भोजन कराया। भोजन कर चुकने पर कुछ आराम कर वृद्धदेव ने मत्र के प्रभाव से अति सुन्दर गान गाया। जिसे सुन कर सुरमजरी उसे अधिक शक्तिशाली समझ कर बोली कि आप गाने के समान अन्य बातें भी जानते हैं क्या ? उसने उत्तर दिया कि हाँ। तब उस सुरमजरी ने अपने इच्छित वर की प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध ने कहा, कि कामदेव के मदिर मे चल कर उसकी उपासना करो तुम्हे इच्छित वर प्राप्त हो जावेगा।

तब सुरमजरी उस वृद्ध की बात पर विश्वास कर कामदेव के मन्दिर मे गई और प्रार्थना करने लगी, कि हे देव ! आपके प्रसाद से मुझे जीवन्धर रूप पति की प्राप्ति हो। जीवन्धर स्वामी का मित्र बुद्धिषेण नामक विदूषक पहिले से ही कामदेव के मन्दिर मे आकर छिप गया था। उस विदूषक ने कहा कि तुझे वर प्राप्त हो चुका है, वह तेरे साथ ही है। भोली भाली सुरमजरी ने भी उस विदूषक के वचन को कामदेव का ही वचन मान लिया।

वृद्ध ने भी विदूषक का वचन सुनते ही अपना वेष बदल लिया। तब सुरमंजरी उसे जीवन्धर जान कर बहुत लज्जित हुई। इसके पश्चात् सुरमंजरी के पिता कुबेरदत्त ने शुभलग्न मे अपनी सुपुत्री सुरमंजरी का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

❀ दशम लम्ब ❀

सुरमजरी के साथ विवाह होने पर जीवन्धरकुमार अपने माता पिता सुनन्दा और गन्धोत्कट के पास आये। उन्होने अपनी धर्मपत्नी गन्धर्वदत्ता और गुणमाला को अपने समागम से प्रसन्न किया। पश्चात् राज्यप्राप्ति के विषय मे गधोत्कट के साथ सलाह की। उनकी सम्मति से वे अपने मामा गोविन्दराज के पास गये। गोविन्दराज विदेहदेश की धरणीतिलका नगरीके राजा थे। उन्होने जीवन्धर का वहुत सत्कार किया।

गोविन्दराज पहिले ही से जीवन्त्रर के राज्य को प्राप्त कराने की चेष्टा कर रहा था। जव जीवन्वर वहा पहुचे, तव उसने काष्ठाङ्गार के द्वारा भेजा हुआ सदेश अपने मन्त्रियो को सुनाया। उस सदेश मे काष्ठाङ्गार ने यह लिखा था, कि 'महाराज सत्यन्धर की मृत्यु एक मदोन्मत्त हाथी के द्वारा हुई थी, किन्तु अशुभकर्म के उदय से मैं ही उस अपयश का भागी हुआ हू। तो भी समझदार राजा इस वात को मिथ्या मानते हैं। यदि आप भी इस वात को मिथ्या मानकर यहाँ आकर मुझ से मिलने की कृपा करें, तो मैं विलकुल निःशल्य हो जाऊँगा।

सन्देश सुनाने के बाद गोविन्दराज ने मन्त्रियो से कहा, कि नीच काष्ठाङ्गार हम लोगो को जाल मे फँसाना चाहता है। इसलिये हम लोग भी इसी वहाने से उसकी चालाकी का मजा चखाने के लिये चलें। ऐसा विचार कर गोविन्दराज ने अपने राज्य मे इस वात का ढिढोरा पिटवा दिया कि काष्ठाङ्गार के साथ हमारी मित्रता हो गई है। पश्चात् शुभ-मुहूर्त मे वह गोविन्दराज, जीवन्धर को साथ लेकर राजपुरी को रवाना हुआ। वहाँ पहुँच कर उसने नगरी के वाहर ही अपनी सेना ठहरा दी।

गोविन्दराज ने वहाँ पहुँच कर एक सुन्दर स्वयम्वर मण्डप वनवाया। उसमे एक चन्द्रकयत्र बनवाकर इस वात की घोषणा कराई, कि जो व्यक्ति इस चन्द्रकयत्र का भेदन करेगा, उसे मैं अपनी लक्ष्मणानामक कन्या प्रदान करूंगा। उस घोषणा को सुनकर अनेक धनुर्धारी राजा वहाँ आये वा यन्त्र पर स्थित तीन सूकरोका भेदन करनेकी कोशिश करने

लगे, किन्तु इस कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये कोई भी समर्थ नही हुआ। तब जीवन्धर ने अलातचक्र चढा कर अनायास ही उनका भेदन कर दिया। उस सुअवसर पर गोविन्दराज ने अन्य राजाओ के समक्ष जीवन्धरकुमार का परिचय देते हुये कहा, कि ये सत्यन्धर महाराज के सुपुत्र और मेरे भानजे जीवन्धर हैं। तव अन्य राजाओ ने भी यही कहा कि हम लोग भी इनकी चेष्टाओ से ऐसा ही अनुमान कर रहे थे।

जीवन्धर का परिचय सुनकर काष्ठाङ्गार को दारुण दुःख हुआ। वह मन मे विचारने लगा, कि मेरे साले मथन ने इसको मार दिया था, फिर यह दुष्ट कहाँ से आगया। मैंने इसके मामा को यहाँ बुलाकर अपने हाथ अपने पैरो पर कुल्हाडी पटकी है। अपने मामा का वल पाकर यह मेरा महान् अनर्थ करेगा। इस प्रकार चिन्तातुर काष्ठाङ्गार को जीवन्धर के मित्रो ने उनके साथ युद्ध करने को भड़का दिया। तव परस्पर युद्ध हुआ और काष्ठाङ्गार मारा गया। इसके वाद मामा गोविन्दराज ने अपनी सुपुत्री लक्ष्मणा का जीवन्धर के साथ विवाह कर दिया।

पश्चात् गोविन्दराज ने राजपुरी जाकर यक्षेन्द्र और अन्य राजाओं की उपस्थिति मे जीवन्धर स्वामी का राज्याभिषेक किया। जिससे जनता को वडा ही हर्ष हुआ। जीवन्धरकुमार ने राज्यासीन होकर नन्दाढ्य को युवराज वनाया और अन्य मित्रो को यथायोग्य पद प्रदान किये। प्रजा का वारह वर्ष तक का जमीन टैक्स माफ कर दिया। इसके वाद उन्होने अपनी समस्त स्त्रियों को बुलाकर सतुष्ट किया। गधर्वदत्ता को पटरानी का पद प्रदान किया और सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

कुछ समय वाद महारानी विजया अपने सुपुत्र जीवन्धर को सुरीत्या राज्यशासन करते देख कर पुण्य और पाप का फल अपने मे ही प्रत्यक्ष कर संसार से विरक्त हो गई। साथ ही सुनन्दा को भी वैराग्य हो गया। तव वे दोनों वन मे गई और पद्मानामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने लगीं।

महाराज जीवन्धर ने भी ऐसी सुख शान्ति और निर्विघ्नता से

राज्य किया कि तीस वर्ष क्षणमात्र के समान बीत गये। एक समय वसंत ऋतु मे जीवन्धर स्वामी अपनी आठो स्त्रियो के साथ जलक्रीडा करने के लिये एक बगीचे मे गये। वहाँ एक वानर ने अन्य वानरी से सभोग किया। इससे वानरी उस पर क्रुद्ध हो गई, तब वह वन्दर उस वानरी को प्रसन्न करने मे असमर्थ होकर अपनी स्वास रोक मरे हुये के समान बन कर जमीन पर लेट गया। उसकी उस हालत को देख कर वानरी को अत्यन्त दुःख हुआ। वह उसके पास आकर उसका बारबार आलिंगन करने लगी। तब कपटी वानर उठ खडा हुआ और उसने एक कटहल का फल तोड कर अपनी वानरी को दिया। किन्तु माली ने वानरी को भय दिखा कर उससे वह फल छीन लिया।

जीवन्धर महाराज यह सब घटना प्रत्यक्ष देख रहे थे, इससे उन्हे वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे विचारने लगे कि यह वनपाल मेरे समान है। इस ससार मे किसी की भी सपत्ति स्थिर नही है। इस प्रकार बारह भावनाओ का चिन्तवन कर वे एक जिनमन्दिर मे गये। वहाँ पर उन्होने जिनराज की पूजन की। उस समय वहाँ एक चारण मुनि आये हुये थे, उनका धर्मोपदेश सुनकर जीवन्धर महाराज ने उनसे अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछा।

चारण मुनि ने कहा—कि तुम पूर्वजन्म मे धातकीखंड द्वीप के भूमितिलक नगर मे पवनवेग राजा के यशोधर नामक कुमार थे। बाल्या-वस्था में तुम किसी हस के वच्चे को क्रीडा करने के लिये पकड लाये थे। उस समय तुम्हारे पिता ने तुम्हे अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया तब तुम्हे अपने इस काम पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उस समय पिता के रोकने पर भी तुमने अपनी आठ स्त्रियो के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली थी। उसके प्रभाव से तुम स्वर्ग में आठ देवियो सहित उत्पन्न हुये थे। वहाँ से चल कर यहाँ पर (राजपुरी मे) सत्यंधर महाराज के पुत्र और आठ स्त्रियो के स्वामी हुये हो।

तुमने पूर्वजन्म मे हंस के बच्चे को माता पिता तथा स्थान से वियुक्त (अलग) कर पिंजडे में बन्द किया था, इसलिये ही तुम्हारा माता पिता से वियोग और काष्ठाङ्गार के द्वारा बन्धन हुआ है।

जीवन्धर महाराज उन मुनिराज का यह वचन सुन कर राज्य से विरक्त होकर राजमहल आये। वहाँ पर उन्होंने गन्धर्वदत्ता के सुपुत्र सत्यंधर को राज्य दे दिया और अपनी आठ स्त्रियों तथा नन्दाढ्य के साथ महावीर स्वामी के समवसरण में आ स्तुति कर उन सबके साथ जिनदीक्षा धारण की तथा घोर तपश्चरण से अष्टकर्म का नाश कर अविनश्वर मोक्ष पद प्राप्त किया। अब वहा पर वे अनन्त (सीमातीत) समय तक अनन्तसुख का अनुभव करेंगे।

लेखक—
मोहनलाल शास्त्री,
काव्यतीर्थ,

इति जीवन्धरचरित्रं समाप्तम्



श्री रतनलालजी राणा एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती उमरावदेवीजी राणा जिन्होंने अपने परिग्रह को सीमित कर जीवन धर्मचर्या में समर्पित कर रखा है।

मुरलीधरजी राणा की नशियाँ
खान्नियाँ, जयपुर

जयपुर से लगभग ५ किलोमीटर दूर पूर्व की ओर आगरा रोड पर चारो ओर पहाडियो व मिट्टी के टीलो से घिरा हुआ अत्यन्त रमणीक स्थान है जो जयपुर का नन्दनवन कहा जा सकता है, यह स्थान 'खान्या' के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय जयपुर के शासक महाराजाधिराज श्री रामसिंहजी थे। आचार्यों के उपदेश से प्रेरितहोकर श्री मुरलीधरजी राणा नामक दि० जैन अग्रवाल श्रावक ने पहाडी पर जो आज-कल चूलगिरि के नाम से विख्यात है— मन्दिर निर्माण की योजना बना डाली, उसका मुहूर्त कर दिया तथा चरण स्थापित कर दिये; किन्तु नीचे ही रूपनिवास बाग मे रहने वाले तत्कालीन शासक ने इस पहाडी पर मन्दिर निर्माण की अनुमति नही दी।

किन्तु धार्मिक भावना मे प्रगाढ जिन-धर्म प्रेमी ने इसी पहाडी के नीचे बाग व जमीनें खरीद कर मन्दिर निर्माण करने की योजना बनाई व तत्कालीन महाराणी शिशोदियाजी, जिनके नाम से शिशोदिया राणी

का बाम है, से प्रार्थना कर मन्दिर पहाडी के नीचे बनाने की अनुमति प्राप्त की व बाग तथा पीछे पहाडी तक की जमीन व पश्चिम की तरफ मिट्टी के टीले तक की भूमि क्रय कर मन्दिर निर्माण का कार्य तेजी से प्रारम्भ करदिया तथा मिती वैसाख शुक्ला ५ रविवार संवत् १९१५ को मन्दिर की सगमरमर की वेदी मे मूल नायक १००८ श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र भगवान की मूंगे के रंग की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई ।

श्री मुरलीधरजी राणा के स्वर्गवास के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री ईश्वरलालजी राणा ने मन्दिर का बाकी निर्माण कार्य पूरा कराया, तथा मन्दिर मे स्वर्ण व रङ्गो से आकर्षक चित्राम बनाये, स्वर्ण का इतना भारी कलापूर्ण कार्य दुर्लभ है जो कहीं देखने मे नही आता । मन्दिर मे २ चैत्यालय व मूल वेदी के पीछे जालियो मे भी प्रतिमायें विराजमान कराई । मन्दिर के पीछे साधुओ व श्रावको के ठहरने के लिये कई कमरे बनवाये व नीचे बहुत बडा बाग व बारादरी का निर्माण कराया तथा कुछ ऐसे कमरे बनाये जहां साधु एकान्त मे ध्यान लगा-सकें व तपस्या कर सकें । बाग मे व मन्दिर के बाहर कुल दो कुये हैं-जिनमे स्वच्छ जल बारहो महीने रहता है । धर्म-ध्यान के साथ-साथ यह गोठ आदि करने के लिये बडा ही रमणीक स्थान है ।

इस विशाल मन्दिर व बाग में जो कि साधुओं के लिये जयपुर मे सर्वोत्तम स्थान है-लगभग भारत के सभी विख्यात दिगम्बर साधु पधारे हैं । आचार्य श्री शान्तिसागरजी भी पधारे थे—आचार्य श्री १०८ वीरसागर जी महाराज ने यहां ३ चातुर्मास किये व यहीं समाधि ली ।

आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज ने ५ चातुर्मास किये, सन्मार्ग दिवाकर १०८ श्री विमल सागरजी महाराज ने ससघ यहाँ सन् १९८७ में चातुर्मास किया। सभी दिगम्बर साधु इस स्थान को चातुर्मास व धर्म साधना के लिये सर्वोत्तम स्थान मानते हैं। सन् १९५५ मे आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज यहाँ पधारे व उन्होने यहाँ ध्यान लगाया तो यहाँ की एकाग्रता व शान्ति मे वे बहुत प्रभावित हुये। जब उन्हें श्री मुरलीधरजी राणा के ही वंशज श्री रतनलाल जी राणा ने बताया कि इस मन्दिर के निर्माता पहले यह मन्दिर पीछे की पहाडी पर बनाना चाहते थे और वहाँ चरण बनाकर मुहूर्त्त भी कर दिया था तो आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज श्री रतनलालजी को लेकर पहाडी पर गये तथा वहाँ उन्होंने ध्यान लगाया—उन्होने यह स्थान इतना मनोरम व अतिशय युक्त पाया कि उन्होंने उसी समय श्री रतन-लाल जी राणा को कहा कि वहाँ मन्दिर बनाने का कार्य प्रारम्भ करायें। इस आदेश के अनुसार श्री रतनलालजी राणा ने दिनाङ्क ११-४-१९५५ को प्रारम्भ मे १००×५० फीट भूमि पहाड पर खरीदी व इसमे मन्दिर निर्माण कार्य हुआ व इसका प्रथम पञ्च कल्याणक १९६५ मे हुआ, आज यह चूलगिरि के नाम से विख्यात अतिशय क्षेत्र है।

सन् १९८१ जयपुर मे हुई अति वृष्टि से मन्दिर के एक ओर की पट्टियाँ टूट गईं जिससे काफी क्षति हुई— अतः पुनः नई पट्टियां लगाकर पूर्व की भाँति स्वर्ण-युक्त कला-पूर्ण चित्राय व कार्य लगातार कराया जा रहा है। क्षेत्र के शान्त वातावरण से प्रेरित हो

पूज्य पिता श्री रतनलालजी राणा एवम् माता श्री उमरावदेवीजी राणा सन् १९८५ से ही अपने व्यवसाय से विरक्त होकर परिग्रह को सीमित कर खानियाँ के इसी मन्दिर मे निवास कर धर्म ध्यान कर, पूर्वोपार्जित कर्मो की निर्जरा कर रहे हैं-उन्ही की प्रेरणा से १०८ आचार्य श्रीविमल सागरजी महाराज की ७५ वी जन्म जयन्ती पर श्री वादीभसिंहसूरि विरचित इस पुस्तक 'क्षत्र-चूडामणि' (जीवधर चरित्र) का प्रकाशन इसके हिन्दी अनुवादक प० मोहनलाल जी शास्त्री जबलपुर की अनुमति से कराया जा रहा है। पुस्तक मे पं० मोहनलाल जी शास्त्री ने इतनी सरल भाषा मे जो हर व्यक्ति के आसानी से समझ मे आ जाती है-प्रयोग किया है इस पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति देने के लिये हम प० मोहनलाल जी शास्त्री के अत्यन्त आभारी हैं।

सर्व साधारण द्वारा क्षत्र चूडामणि सटीक (जीवन्धर-चरित्र) ग्रन्थ का भक्ति पूर्वक पाठ किया जा सके इसी उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन कराया जा रहा है।

गिरिराजकुमार राणा
—केट



卐 श्रीवर्धमानाय नमः 卐

❀ श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचित ❀

क्षत्र-चूडा-मणि:

प्रथमो लम्बः

श्रीपति र्भगवान्पुष्याद्, भक्तानां वः समीहितम् ।
यद्भक्ति शुल्कतामेति, मुक्तिकन्याकरग्रहे ।। १ ।।

अन्वयार्थौ—यद्भक्ति=जिस भगवान की भक्ति, मुक्तिकन्याकरग्रहे=मुक्तिरूपी कन्या के साथ विवाह करने के विषय मे, शुल्कताम्=मूल्यपने को, एति=प्राप्त होती है, सः=वह, श्रीपतिः=अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी का स्वामी, भगवान्=परमेष्ठी जिनेन्द्र, वः=तुम सब, भक्तानाम्=भक्तो के, समीहितम्=मनोरथ को, पुष्यात्=पूर्ण करें ।।१।।

भावार्थः—जिस प्रकार किसी कन्या के साथ विवाह करने मे रुपया पैसा सहायक होता है, उसी प्रकार जिन भगवान की भक्ति मुक्तिरूपी कन्या को प्राप्त करने तक मे सहायक होती है, वे अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरग और समवसरणादिरूप बहिरग लक्ष्मी के अधिपति जिनेन्द्रदेव तुम सब भक्तों की इच्छा पूर्ण करें ।

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि, चरितं जीवकोद्भवम् ।
पीयूषं न हि निःशेषं, पिबन्नेव सुखायते ।।२।।

अन्वयार्थौ—(अहम्) मै (वादीभसिंह) ग्रन्थकर्ता, जीवकोद्भवम्=जीवन्धर स्वामी से उत्पन्न, चरितम्=जीवनचरित्र को, संक्षेपेण संक्षेप मे, प्रवक्ष्यामि=कहता हूँ । नीतिः—हि=क्योंकि, (जनः) मनुष्य, निःशे-

षम्=समस्त, पीयूषम्=अमृत को पिबन्=पीता हुआ, एव=ही, सुखायते=सुखी होता है, (इति) ऐसा, न=नहीं, किन्तु, (स्वल्पम्) थोड़े, पीयूषम्=अमृत को, पिबन्=पीता हुआ मनुष्य (अपि) भी, सुखायते=सुखी हो जाता है।

भावार्थः- सम्पूर्ण अमृत को पीने से ही मनुष्य को सुख होगा यह बात नहीं, किन्तु थोड़ासा अमृत पीने से भी सुख हो जाता है, उसी प्रकार इस जीवनचरित्र को विस्तारपूर्वक लिखने में ही पाठकों को आनन्द होगा, यह बात हो नहीं, किन्तु सक्षेप में लिखने से ही आनन्द हो सकेगा। इसलिये मैं वादीभसिंह भी जीवन्धरस्वामी के चरित्र को संक्षेप में कहता हूँ ॥२॥

श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य, सुधर्मो गणनायकः।

यथोवाच मयाप्येत-दुच्यते मोक्षलिप्सया ॥३॥

अन्वयार्थौ—सुधर्मः=सुधर्माचार्य, गणनायकः=गणधर, श्रेणिकप्रश्नम्=श्रेणिक राजा के प्रश्न को, उद्दिश्य=लक्ष्यकरा एतत्=इस जीवन्धरचरित्र को, यथा=जिस प्रकार, उवाच=कह हुये, मया=मुझ ग्रन्थकर्त्ता के द्वारा, अपि=भी, एतत्=यह चरित्र मोक्षलिप्सया=मोक्ष की चाह से (तथा) उसी प्रकार, उच्यते=कहा जाता है ॥३॥

भावार्थः—पूर्वकाल में श्रेणिक राजा के द्वारा पूछे जाने पर सुधर्माचार्य गणधर ने जीवन्धर स्वामी के चरित्र का जिस प्रकार वर्णन किया था, मै भी उनके चरित्र को मोक्षप्राप्ति की इच्छा से केवल उसी प्रकार कहूँगा, हीनाधिक या कल्पित नहीं।

इहास्ति भारते खण्डे, जम्बूद्वीपस्य मण्डने।

मण्डलं हेमकोशाभं, हेमाङ्गदसमाह्वयम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—इह=इस लोक मे, जम्बूद्वीपस्य=जम्बूद्वीप के मण्डने=भूषणस्वरूप, भारते=भरतक्षेत्र सम्बन्धी, खण्डे=आर्यखण्ड मे, हेमकोशाभम्=सुवर्ण के खजाने की कान्ति के समान कान्ति वाला,

हेमाङ्गदसमाह्वयम्=हेमाङ्गद नामक, मण्डलम्=देश, अस्ति है ॥४॥

भावार्थ।—इस लोक में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड मे एक हेमांगदनामक देश है, जिसकी चमकदमक सुवर्ण के खजाने की चमकदमक के समान है ॥४॥

तत्र राजपुरी नाम, राजधानी विराजते ।
राजराजपुरीसृष्टौ, स्रष्टु र्या मातृकायते ॥५॥

अन्वयार्थौ—तत्र=उस देश मे, राजपुरी नाम=राजपुरी नामक, राजधानी=राजा के निवास की प्रधान नगरी, विराजते=सुशोभित है । या=जो नगरी, स्रष्टु.=ब्रह्मा के राजराजपुरीसृष्टौ=कुवेर की अलकापुरी के बनाने के विषय मे, मातृकायते=माता के समान प्रतीत होती है ।

भावार्थः--उस हेमाङ्गद देश मे एक राजपुरी नामक राजधानी है । जिसकी सुन्दरता को देख कर यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने उसे देख कर ही अलकापुरी बनाई हो ॥५॥

तस्यां सत्यन्धरो नाम, राजाऽभूत्सत्यवाङ्मयः ।
वृद्धसेवी विशेषज्ञो, नित्योद्योगी निराग्रहः ॥६॥

अन्वयार्थौ—तस्याम्=उस राजपुरी नगरी मे, सत्यवाङ्मयः=सत्य वचन बोलने वाला, वृद्धसेवी=बडो की सेवा करने वाला, विशेषज्ञ=गूढ कार्यों का जानने वाला, नित्योद्योगी=सदा पुरुषार्थ करने वाला, (च) और निराग्रहः=हठरहित, सत्यन्धर. नाम=सत्यधर नामक, राजा=राजा, अभूत्=था ॥६॥

भावार्थः—उस राजपुरी नगरी मे सत्यवक्ता, गुरुजन का सेवक, गूढरहस्य का ज्ञाता, कार्यपरायण और हठरहित सत्यन्धर राजा राज्य करता था ॥६॥

महिता महिषी तस्य, विश्रुता विजयाख्यया ।
विजयाद्रिश्वनारीणां, पातिव्रत्यादिभिर्गुणैः ॥७॥

अन्वयार्थौ—तस्यो=उस राजा के, पातिव्रत्यादिभिः=पातिव्रत्य आदिक गुणै.=गुण से, विश्वनारीणाम्=सम्पूर्ण स्त्रियो के, विजयात्=जीतने, से विजयाख्यया=विजया नाम से, विश्रुता=प्रसिद्ध (च) और, महिता=सुयोग्य, महिषी=पटरानी, (आसीत्) थी ॥७॥

भावार्थः—उस सत्यन्धर राजा के प्रसिद्ध और परसुयोग्य विजया नाम की पटरानी थी । जिसने पातिव्रत्य और उदारता आदिक गुणो से सब स्त्रियो को जीतकर विजया नाम पाया था ।

सत्यप्यन्तः-पुरस्त्रीणां, समाजे राज-वल्लभा ।
सैवासीन्नापरा काचित्, सौभाग्य हि सुदुर्लभम् ॥८॥

अन्वयार्थौ—अन्तःपुरस्त्रीणाम्=जनानखाने की स्त्रियों के, समाजे=समूह के, सति=होने पर, अपि=भी, राजवल्लभा=राजा के प्यारी, सा=वह विजया, एव=ही (आसीत्) थी, अपरा=और दूसरी, काचित्=कोई, न=नही । नीति.-हि=क्योकि, सौभाग्यम्=अच्छे भाग्य का प्राप्त होना,सुदुर्लभम्=अतिकठिन (भवति) होता है॥८॥

निष्कण्टकाधिराज्योऽय, राजा राज्ञीमनारतम् ।
रमयन्नान्यदज्ञासीत्, प्राज्ञप्राग्रहरोऽपि सन् ॥९॥

अन्वयार्थौ—निष्कण्टकाधिराज्य.=शत्रुभय आदि से रहित है राज्य जिसका ऐसा, अयम्=यह, राजा=सत्यन्धर राजा, प्राज्ञप्राग्रहर.=विद्वानो मे अग्रेसर, सन्=होता हुआ, अपि=भी, अनारतम्=सदा, राज्ञीम्=रानीको, रमयन्=भोगता हुआ, अन्यत् न अज्ञासीत् । और कुछ नही जानता था ।

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति ।
न वैदुष्य न मानुष्यं, नाभिजात्य न सत्यवाक् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—विषयासक्तचित्तानाम्=विषयभोगो मे लवलीन मन वाले (जनानाम्=मनुष्यो का), क=कौनसा, गुण=गुण, न नश्यति=नष्ट नहीं हो जाता । किन्तु सर्वे गुणा. नश्यन्ति । तेषु=उनमे, वैदुष्यम्=पण्डितपना, मानुष्यम्=मनुष्यपना, आभिजात्यम्=कुलीनपना (च=और) सत्यवाक्=सत्यवचन, अपि=भी, न तिष्ठति=नही ठहरता ॥१०॥

भावार्थ:--जो मनुष्य विषयभोग मे आसक्त हो जाता है, उसके प्राय: सभी गुणो की इतिश्री हा जाती है। अर्थात् ऐसे मनुष्यो मे विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक भी गुण नही रहता। अतः विषयी सत्यधर के भी सब गुण कूच कर गये थे ।।१०।।

पराधनजाद दैन्यात, पैशून्यात् परिवादत:
पराभवात्किमन्येभ्यो, न विभेति हि कामुक ।।११।

अन्वयार्थौ—कामुक =विषयासक्त मनुष्य, परारावनजात्= दूसरे की खुशामद से उत्पन्न, दैन्यात्=दीनता से, पैशून्यात्=चुगली से, परिवादत =निन्दा से (च) और, पराभवात्=तिरस्कार से न विभेति=नही डरता (पुन)=फिर, अन्येभ्य =और बातो से, किम्=क्या, (भेष्यति) डरेगा (न भेष्यतीत्यर्थ) अर्थात् नही डरेगा ।।११।।

भावार्थ.—जो मनुष्य विषय भोगो मे आसक्त हो जाता है वह उसके कारण होने वाली अपनी दीनता, चुगली, बदनामी और अपमान आदि को पर्वाह नही करता। कामी सत्यन्धर ने भी इनकी पर्वाह न की और दिनोदिन विषयासक्त होता गया।

पाकं त्याग विवेक च, वैभव मानितामपि
कामार्ता: खलु मुञ्चन्ति किमन्यै स्वञ्च जीवितम्।।१२।।

अन्वयार्थौ—कामार्ता =विषयभोग की इच्छा से पीडित, जीवा =जीव, पाकम्=भोजन को, त्यागम्=दान को, विवेकम्=कर्तव्या-कर्त्तव्य के विचार को वैभवम्=सम्पत्ति को, (च) और, मानिताम्= पूज्यता को, अपि=भी, खलु=निश्चय से, मुञ्चन्ति=छोड देते है। अन्यै.=और से, किम्=क्या, स्वम्=अपने, जीवितम्=जीवन को, अपि=भी, मुञ्चन्ति || दे छोते हैं ।।१२।।

भावार्थ:—कामासक्त प्राणी भोजन, दान, विवेक, धन दौलतऔर बड़प्पन आदि का जरा भी ख्याल नही करते। और

की बात क्या भोग विलास के पीछे वे अपनी जान पर भी पानी फेर देते है। भोगासक्त सत्यन्धर ने भी इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया ॥१२॥

पुनरैच्छदयं दातुं, काष्ठाङ्गाराय काश्यपीम्।
अविचारितरम्यं हि, रागान्धानां विचेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ-पुन =फिर, अयम्=यह सत्यन्धर, काष्ठाङ्गाराय=काष्ठागार के लिये, काश्यपीम्=पृथ्वी को, दातुम्=देने को, ऐच्छत्=इच्छा करता हुआ। नीति —हि=क्योंकि, रागान्धानाम्=विषयो मे मोहित, जनानाम्=मनुष्यो का, विचेष्टितम्=कार्य, अविचारित-रम्यम्=विना विचार किये ही अच्छा (भवति) प्रतीत होता है ॥१३॥

भावार्थः—विषयो मे मोहित जन कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किये बिना ही स्वीकृत कार्य को अच्छा मानते है। अत-एव सत्यन्धर ने विषयासक्त हो पूर्वापर विशेष विचार किये बिना ही काष्ठाङ्गार को राज्य देने का दृढ़ निश्चय किया॥१३॥

तावता तं समभ्येत्य, मन्त्रिमुख्या अबूबुधन्।
देव ! देवैरपि ज्ञातं, विज्ञाप्यं श्रूयतामिदम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, मन्त्रिमुख्याः=सत्यन्धर के प्रधान, प्रधान मन्त्री, समभ्येत्य=पास आकर, तम्=उस राजा को, अबूबुधन्=समझाने लगे। (यत्) कि, देव=हे राजन्, देवैः=आपके द्वारा ज्ञातम्=जाना हुआ, अपि=भी, इदम्=यह, विज्ञाप्यम्=समाचार, श्रूयताम्=सुनिये ॥

भावार्थः—जिस समय सत्यन्धर राजा ने काष्ठाङ्गार को राज्य देने की इच्छा की, उसी समय पता चलते ही उसके कई प्रमुख मन्त्री उसके पास आये और समझाने लगे कि हे राजन जो बात हम कहेंगे, उसे आप भली प्रकार जानते ही हैं फिर भी कृपया आप हमारे वक्तव्य को सुनिये ॥१४॥

हृदयं च न विश्वास्य, राजभिः किं परो नरः ।
किन्तु विश्वस्तवद्‌दृश्यो, नटायन्ते हि भूभुजः ॥१५॥

अन्वयार्थो—राजभि =राजाओ के द्वारा, हृदयम्=अपना हृदय, च=भी, न विश्वास्यम्=विश्वास करने के योग्य नही होता, (पुनः)= फिर, पर =अन्य, नर =मनुष्य, विश्वास्य किम्=विश्वास करने के योग्य हो सकता है क्या ? अर्थात् नही । किन्तु विश्वस्तवद्‌दृश्य =विश्वस्त के समान अवश्य देखना चाहिये । नीति हि=क्योकि, भूभुज =राजा लोग नटायन्ते=नट के समान प्रवृत्ति करते हैं ॥१५॥

भावार्थः—राजाओ को जब अपने हृदय का भी विश्वास नही करना चाहिये, तो फिर दूसरे मनुष्यो का कहना ही क्या है ? किन्तु दूसरे मनुष्यों के समक्ष जैसे नट अपने अभिनय (भेष) को इस खूबी से वनाता है कि दर्शको को उसकी असलियत का जरा भी पता नही चल पाता, उसी प्रकार राजा भी ऐसा व्यवहार करे कि, दूसरे लोग यह समझें कि राजा तो हमारा बहुत विश्वास करता है । तात्पर्य यह है कि आप भी राजा हैं अतएव आपको भी काष्ठाङ्गार का इतना विश्वास नही करना चाहिये ॥ १५॥

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमत सौख्य-मपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१६॥

अन्वयार्थो –यदि=अगर, परस्पराविरोधेन=एक दूसरे के विरोध के विना, त्रिवर्ग =धर्म, अर्थ और काम ये तीनो पुरुषार्थ, सेव्यते =सेवन किये जाते है (तर्हि) तो, अनर्गलम्=बाधारहित, सौख्यम्= सुख, भवेत्=मिलता है, च=और, अनुक्रमात्=क्रम से, अपवर्ग =मोक्ष, अपि=भी, (भवेत्) प्राप्त होता है ॥१६॥

भावार्थः—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का

यथासमय एक दूसरे के विरोध रहित सेवन करता है, व निर्बाध सुख को पाता है और परम्परया मोक्ष भी पा लेता है ॥१६।

तत्स्त्याज्यौ न धर्मार्थौ, राजभिः सुखकाम्यया ।
अद· काम्यति देवश्चे-दमूलस्य कुतः सुखम् ॥१७॥

अन्वयार्थों—तत =इसलिये, राजभि =राजाओ के द्वारा सुखकाम्यया=सुख की इच्छा से, धर्मार्थौ=धर्म और अर्थ पुरुषार्थ, न त्याज्यौ=नही छोडे जाना चाहिये । च=और, चेत्=यदि देवः=आप, अद =इस सुख को, काम्यति=चाहते हैं । तर्हि=तो भवद्भि =आपके, द्वारा, अपि=भी, धर्मार्थौ न त्याज्यौ=धर्म और अर्थ पुरुषार्थ नही छोडे जाना चाहिये । नीति·—हि=क्योकि, अमूलस्य=विना कारण के, सुखम्=सुख, कुत =कैसे (सम्भवति हो सकता है ॥१७॥

भावार्थ—जब कि तीनो पुरुषार्थों के निर्बाध पालन से ही सुख और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, तो सुख को चाहने वाले राजाओ का कर्त्तव्य है कि वे केवल कामासक्त हो धर्म और अर्थ पुरुषार्थ का सेवन करना नही छोड़े । आप भी राजा हैं, इनमे आपको भी कामासक्त हो धर्म का पालन और राज्य की सम्हाल करना नही छोड़ना चाहिए अन्यथा सारे विषयसेवन पर पानी फिर जावेगा ॥१७॥

नाशिनं भाविन प्राप्यं, प्राप्ते च फलसन्ततिम् ।
विचार्यैव विधातव्य-मनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥१८॥

अन्वयार्थों—(प्राप्यम्)=पाने योग्य वस्तु को, नाशिन=नष्ट होने वाली, भाविनम्=फिर पैदा होने वाली, च=और, तस्मिन्=उस वस्तु के, प्राप्ते=प्राप्त हो जाने पर, भव्याम्=होने वाली, फलसततिम्=फलो की परम्परा को, विचार्य=विचार कर, एव=ही कार्यम्=तद्विषयिककार्य, विधातव्यम्=करना चाहिये । अन्यथा=नही तो, अनुताप =पश्चाताप, भवेत्=होता है ॥१८॥

भावार्थः—संसार की प्राप्त करने योग्य प्रत्येक वस्तु पूर्व पर्याय की अपेक्षा नष्ट और भविष्यत्पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होती है तथा उसके पा लेने पर क्या फल होगा, इत्यादि विचार कर ही किसी वस्तु को पाने का कार्य करना चाहिये। यदि पूर्वोक्त विचार बिना ही कार्य किया जावेगा, तो पश्चात्ताप होगा और कार्य करना विफल होगा। इस प्रकार मन्त्रियों ने सत्यन्धर को बहुत कुछ समझाया ॥१८॥

इति प्रबोधितोऽप्येष, धुरि राज्ञां न्यवेसयत् ।
काष्ठाङ्गारमहो मोहाद्, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अहो = आश्चर्य की बात है, (यत्) कि, इति= पूर्वोक्त रीति से, प्रबोधितः=समझाया गया, अपि=भी, एषः=यह सत्यधर राजा, मोहात्=अज्ञानता से, काष्ठाङ्गारम्=काष्टाङ्गार को, राज्ञाम्=राजाओं के, धुरि=अग्रभाग में, न्यवेसयत्=नियुक्त करता हुआ। नीतिः—हि= क्योंकि, बुद्धिः = वि— कर्मानुसारिणी = कर्मों के अनुकूल (भवति) होता है ॥१९॥

भावार्थः— यद्यपि मन्त्रियों ने सत्यन्धर राजा का बहुत कुछ समझाया पर उसने अज्ञानता से अपनी हठ नहीं छोड़ी और काष्ठाङ्गार को सर्व राजाओं का प्रधान बना ही दिया। नीतिकार कहते हैं, कि बुद्धि भवितव्य के अनुकूल ही होती है। अतएव सत्यन्धर का भवितव्य भी खराब था, इससे उसके भी खोटी बुद्धि उपजी, जिससे उसने काष्ठाङ्गार को राज्य का प्रधान नेता बना दिया।

विषयान्ध-विचारेण, विरक्तानां नृपस्य तु ।
अकृष्यमाणरागेण, कालो विलयमीयिवान् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—विरक्तानाम्=विषयों में विरक्त पुरुषों का, कालः =समय, विषयान्धविचारेण=विषयों में अन्धता के विचार से, विलयम्= विनाश को, ईयिवान्=प्राप्त होता है। तु=किन्तु, नृपस्य=राजाओं का,

कालः =समय,प्रकृष्यमाणरागेण=वढते हुये अनुराग से, विलयम्=विनाश को, ईयिवान्=प्राप्त होता है ॥२०॥

भावार्थ —जो मनुष्य विषयों से विरक्त होते हैं, वे सदा विषय-परित्याग के उपायों की खोज एवं क्रिया में ही अपना समय लगाते हैं किन्तु (विषयासक्त) राजा, विषयों की चाह और प्राप्ति के उपायों में ही अपना बहुमूल्य जीवन बरबाद करते हैं।

सा तु निद्रावती स्वप्न,-मद्राक्षीत्क्षणदात्क्षये ।
अस्वप्नपूर्वं जीवानां, न हि जातु शुभाशुभम् ॥२१॥

अन्वयार्थौ—तु=और, निद्रावती=सोती हुई, सा=वह विजया रानी, क्षणदाक्षये=रात्रि के पिछले भाग में, स्वप्नम्=तीन स्वप्नों को, अद्राक्षीत्=देखती हुई । नीतिः—हि = क्योंकि, जीवानाम्=मनुष्यों के अस्वप्नपूर्वम्=स्वप्न के हुये विना, शुभाशुभम्=शुभ और अशुभ कार्य जातु=कभी, न (भवति) नहीं होता ॥२१॥

भावार्थ.—प्रत्येक शुभाशुभ कार्य के पूर्व में मनुष्य को प्राय कोई स्वप्न अवश्य आया करता है। अतएव विजया को भी भावी शुभ और अशुभ सूचक तीन स्वप्न दिखलाई दिये ॥२१॥

वैभातिकविधेरन्ते, विभोरन्तिकमीयुषी ।
अर्धासननिविष्टेय,-मभाषिष्ट च भूभुजः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—वैभातिकविधे =प्रात.कालिक क्रियाओंके,अन्ते= समाप्त होने पर, विभो. =राजा के,अन्तिकम्=पास को, ईयुषी=प्राप्त हुई, च = और, अर्धासननिविष्टा = आधे आसन पर बैठी हुई, इयम् = यह विजया रानी, भूभुजः = राजा से (स्वप्नम्) तीनों स्वप्नों को, अभाषिष्ट=कहती हुई ॥२२॥

भावार्थः—विजया रानी शौच और दातौन आदि प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओं से निवृत्त होकर पति के पास आई और उनके अर्धासन पर बैठ कर स्वप्नों का समाचार सुनाने लगी ॥२२॥

श्रुत्वा स्वप्नत्रयं राजा, ज्ञात्वा च फलमक्रमात् ।
गति वक्तुमुपादत्त, किञ्चिन्न्यञ्चन्मना भवन् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—राजा=सत्यन्धर राजा, स्वप्नत्रयम्=तीनो स्वप्नो को, श्रुत्वा=सुनकर, च = और, फलम् = फलो को, ज्ञात्वा = जानकर, किञ्चित्=कुछ, न्यञ्चन्मना. =खिन्न मन, भवन् = होता हुआ, अक्रमात्= अक्रम से, प्रतिवक्तुम्=उत्तर देने को, उपादत्त=प्रारम्भ करता हुआ ।

भावार्थः—सत्यन्धर राजा अपनी रानी के तीनों स्वप्नों को सुनकर उनके फलों को जान कर अपनी मृत्यु का निश्चय कर कुछ दुखी हुआ, पीछे क्रमभंग कर स्वप्नों का फल कहने लगा ।

पुत्रमित्रकलत्रादौ, सत्यामपि च सम्पदि ।
आत्मीयापायशङ्का हि, शंकु प्राणभृतां हृदि ॥२४॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योकि, पुत्रमित्रकलत्रादौ=पुत्र, मित्र और स्त्री आदिक, सम्पदि=सम्पत्ति के, सत्याम्=होने पर, अपि=भी, आत्मीयापायशङ्का=अपने विनाश की शका, प्राणभृताम्=प्राणियो के, हृदि=हृदय में, शकु=काटे के समान (दुखयति) दुख देती है ॥२४॥

भावार्थः—पुत्रादि विशाल कुटुम्ब और अटूट सम्पत्ति के होने पर भी मनुष्य को अपने मरण की शंका शरीर में चुभे हुये कॉटे के समान दुख देती है। अतएव सत्यन्धर के भी स्वप्न के फल से अपनी मृत्यु का निश्चय होने से असह्य दुख का अनुभव हुआ ॥२४॥

देवि ! दृष्टस्त्वया स्वप्ने, बालाशोकः समौलिकः ।
आचष्टे सोदयं सुनु,—मष्टमालास्तु तद्वधूः ॥२५॥

अन्वयार्थौ—देवि=हे रानी, त्वया=तेरे द्वारा, स्वप्ने=स्वप्न में, दृष्टः=देखा गया, समौलिक=मुकुटसहित, बालाशोक. =छोटा अशोकवृक्ष, सोदयम्=भाग्यशाली, सूनुम्=पुत्रको, आचष्टे=सूचित करता है, तु=और,

अष्टमालाः=आठ मालायें, तद्वधूः = उसके आठ स्त्रियों को (आचक्षते) सूचित करती हैं ॥२५॥

भावार्थः—अब सत्यन्धर राजा स्वप्नों का फल सुनाता है कि हे रानी तुमने जो "मुकुटसहित छोटा अशोकवृक्ष" देखा है, उसका फल यह है कि तुम्हारे एक भाग्यशाली पुत्र होगा और 'आठ मालाओं' के देखने का फल यह है कि उस पुत्र के आठ स्त्रियां होवेंगी ॥२५॥

आर्यपुत्र ! ततः पूर्वं, दृष्टनष्टस्य किम्फलम् ।
कङ्केलेरिति चेद्देवि !, कथयत्येष किञ्चन ॥२६॥

अन्वयार्थौ—आर्यपुत्र=हे स्वामिन् !, ततः=उन दोनो स्वप्नो से, पूर्वम्=पहले, दृष्टनष्टस्य=पहिले दृष्टिगोचर हुये और पीछे नष्ट हुये, कङ्केलेः=अशोक वृक्ष का, किम्=क्या, फलम्=फल, अस्ति=है, देवि=हे रानी, चेत्=यदि, इति=ऐसा पूछती हो, तर्हि=तो, एष=यह स्वप्न, अपि=भी, किञ्चिन=कुछ, कथयति=कहता है ॥२६॥

भावार्थः—रानी ने कहा कि हे स्वामिन् ! अन्य दो स्वप्नों का फल तो जाना परन्तु "दिख कर तत्काल नष्ट हुये अशोकवृक्ष" के देखने का फल क्या है ? तब राजा ने उत्तर दिया कि यह स्वप्न भी कुछ (मेरा मरण) सूचित करता है ॥२६॥

इतीशवाक्यं शुश्रूषी, महिषी भुवि पेतुषी ।
मूर्च्छिता तन्मुखग्लाने-र्वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, ईशवाक्यम्=स्वामी के वचन को, शुश्रूषी=सुनने वाली, महिषी=पटरानी, तन्मुखग्लानेः=राजा के मुख की मलीनता से, मूर्च्छिता=मूर्च्छित (सती) होती हुई, भुवि=पृथ्वी पर पेतुषी=गिर पडी । नीति.—हि=क्योंकि, वक्त्रम्=मुख की आकृति, मानसम्=मन के भाव को, वक्ति=प्रगट कर देती है ॥२७॥

भावार्थ—'यह स्वप्न भी कुछ सूचित करता है' इस प्रकार राजा का संदेहजनक वचन सुन कर और राजा के मुख को कुछ मलीन (फीका) देख कर विजया रानी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। नीतिकार कहते हैं कि मुख की आकृति आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट कर देती है। अतएव यद्यपि सत्यन्धर ने अपने मरण की बात स्पष्ट नहीं कही थी, तो भी राजा के मुख के मालिन्य से विजया ने परख लिया कि इस स्वप्न का फल कटुक है ॥२७॥

तन्मोहान्मोहितो राजा, तामेवायमबूबुधत् ।
सत्यामप्यभिषक्तौ, जागर्त्येव हि पौरुषम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—तन्मोहात्=उस विजया रानी में अनुराग से, मोहित:=अनुरक्त, अयम्=यह राजा=सत्यंधर राजा ताम्=उस विजया रानी को, एव=ही अबूबुधत्=समझाता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, अभिषक्तौ=संसर्ग से होने वाली पीड़ा के, सत्याम्=होने पर, अपि=भी, पौरुषम्=पुरुषत्व, जागर्ति एव=जागृत ही रहता है ॥२८॥

भावार्थ:—असह्य अभिनव-पीड़ा के उपस्थित हो जाने पर भी महापुरुषों का विवेक नष्ट नहीं होता, अतएव धीर सत्यन्धर भी स्वमृत्यु के ज्ञानरूप नूतनपीड़ा के उपस्थित होने पर भी पुरुषत्व से हीन नहीं हुआ और उसने विजया को भी निम्नप्रकार धैर्य बँधाया ॥२८॥

स्वप्नदृष्टकृते सख्यो, नष्टासुं किं तनोषि माम् ।
न हि रक्षितुमिच्छन्तो, निर्दहन्ति फलद्रुमम् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—स्वप्नदृष्टकृते=स्वप्न के देखने मात्र से, सखः=शोभ, माम्=मुझको, नष्टासुम्=मरा हुआ, किम्=क्यों, तनोषि=समझती हो। नीतिः—हि=क्योंकि, फलद्रुमम्=फलयुक्त वृक्ष को, रक्षितुम्=रक्षा करने को, इच्छन्तः=चाहने वाले, जनाः=मनुष्य, तम्=उस वृक्ष को, न निर्दहन्ति=नहीं जलाते हैं ॥२९॥

भावार्थः—सत्यन्धर राजा विजया रानी को समझाता है कि हे देवी ! जो व्यक्ति फल फूलों से हरे भरे वृक्ष की रक्षा करना चाहता है वह उसको जलाता नहीं है किन्तु खात और सिंचन आदि से उसकी रक्षा ही करता है । उसी प्रकार तुम भी यदि मेरी कुशल चाहती हो तो स्वप्न देखने मात्र से मेरे अशुभ की आशंका करना तुम्हे भी उचित नहीं है ।२६।।

विपदः परिहाराय, शोकः किं कल्पते नृणाम् ।
पावके न हि पातः स्या-दातपक्लेशशान्तये ।।३०।।

अन्वयार्थौ—यतः=क्योंकि, विपदः =विपत्ति के, परिहाराय= दूर करने के लिए, नृणाम्=मनुष्यो के, शोकः=रंज, कल्पते किम्=उचित है क्या ? अपि तु न=किन्तु नहीं । नीतिः—हि=क्योंकि, आतपक्लेशशान्तये=गर्मी की पीडा को शान्त करने के लिये, पावके=अग्नि में, पातः = गिरना, न स्यात्=नही होता ।।३०।।

भावार्थ—जिस प्रकार गर्मी से सताया हुआ मनुष्य उसको शांत करने के लिये, अग्नि में नहीं गिरता, किन्तु पंखे की हवा या छाया आदिक का सहारा ही लेता है, उसी प्रकार विपत्ति को दूर करने के लिये तुमे भी शोक करना उचित नहीं । क्योंकि शोक से विपत्ति की वृद्धि ही होती है । उसको दूर करने के लिये तो विपत्तिनाशक उपायों को ही तलाश करना चाहिये ।।३०।।

ततो व्यापत्प्रतीकारं, धर्ममेव विनिश्चिनु ।
प्रदीपै र्दीपिते देशे, न ह्यस्ति तमसो गतिः ।।३१।।

अन्वयार्थौ—ततः=इस लिये, व्यापत्प्रतीकारम्=आपत्ति के नाशक, धर्मम्=धर्म को, एव=ही, विनिश्चिनु=उपार्जन करो । नीतिः—हि=क्योंकि, प्रदीपैः =दीपको से, दीपिते=प्रकाशित, देशे=स्थान में, तमस =अन्धकार की, गति =सत्ता, न अस्ति=नहीं हो सकती ।।३१।।

भावार्थः—जहां पर दीपक का प्रकाश होता है, वहां अन्धकार अपना पग नहीं बढ़ा सकता, उसी प्रकार जो धर्म को पालता है, उस पर विपत्ति भी नहीं आ सकती। किन्तु खेद करने से विपत्ति ही बढ़ती है। इसलिये खेद को छोड़ धर्म पालन करना चाहिए, जिससे आई हुई आपत्ति दूर हो ॥३१।

इत्यादिस्वामिवाक्येन, लब्धाश्वासा यथापुरम् ।
पत्या साकमसौ रेमे, दुःखचिन्ता हि तत्क्षणे ॥३२॥

अन्वयार्थौ—इत्यादिस्वामिवाक्येन=स्वामी के इस प्रकार के उपदेश से, लब्धाश्वासा=प्राप्त हो गई है तसल्ली (सन्तोष) जिसको ऐसी, असौ=यह विजयारानी, पत्या साकम्=पति के साथ, यथापुरम्=पूर्व सदृश, रेमे=विषयभोग करने लगी। नीतिः—हि=क्योंकि, दुःखचिन्ता= दुःख की याद, तत्क्षणे=दुःख के समय में, एव=ही, भवति=होती है ॥३२॥

भावार्थः—सत्यन्धर राजा के पूर्वोक्त उपदेश से संतुष्ट होकर विजया रानी उसके साथ पूर्व की तरह भोग भोगने लगी। नीतिकार कहते हैं कि-दुःख की याद दुःख के समय ही होती है। किन्तु कार्यान्तर में सलग्न होने पर सारा दुःख भूल जाता है। अतएव जब ये दोनों फिर से भोगों में आरूढ़ हो गये, तब इनका भी सारा दुःख कूच कर गया। ३२॥

अथ प्रबोधितं स्वप्ना-दप्रबुद्धममुं पुनः ।
बोधयन्तीव पत्नीय-मन्तर्वत्नीधुरां दधौ ॥३३॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके अनन्तर, स्वप्नात्=स्वप्न से (पूर्वम्)= पहिले, प्रबोधितम्=सचेत किये, च=और, पुनः=फिर, अप्रबुद्धम्= भूले हुए, अमुम्=इस राजा को, पुनः=फिर, बोधयन्ती इव=सचेत कराती हुई के समान, इयम्=यह विजया रानी, अन्तर्वत्नीधुराम्=गर्भवती के भार को, दधौ=धारण करती हुई ॥३३॥

भावार्थः—इस विजया रानी ने अशुभ स्वप्न से उस सत्यन्धर राजा को 'अब तुम्हारी मृत्यु होगी इस प्रकार' पहिले सचेत कर ही दिया था, किंतु जब वह फिर से विषयों में लीन होने के कारण उस बात को भूल गया, तब विजया ने उसे सचेत करने के लिये ही मानो गर्भ धारण किया ॥३३॥

सदोहलामिमां वीक्ष्य, दुःस्वप्नफलनिश्चयात् ।
अनुशेते स्म राजाय–मात्मरक्षापरायणः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, राजा=सत्यंधर राजा, इमाम्=इस विजयारानी को, सदोहलाम्=गर्भवती, वीक्ष्य=देख कर, दुःस्वप्नफल-निश्चयात्=खोटे स्वप्न के फल के निश्चय से, आत्मरक्षापरायणः = अपनी रक्षा करने में तत्पर, (सन्)=होता हुआ, अनुशेते स्म=पश्चात्ताप करने लगा ॥३४॥

भावार्थ —यह सत्यन्धर राजा अपनी रानी को गर्भवती देखकर अब मेरे मरने का समय निकट है ऐसा विचार कर अपनी रक्षा की कोशिश करता हुआ निम्नप्रकार पश्चात्ताप करने लगा।

मन्त्रिणां लङ्घितं वाक्य–मभाग्येन मया मुधा ।
विपाके हि सतां वाक्यं,विश्वसन्त्यविवेकिनः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—अभाग्येन = अभागी, मया = मैंने, मन्त्रिणाम्= मन्त्रियो का, वाक्यम्=वचन, मुधा=व्यर्थ, लङ्घितम्=उल्लंघन किया। नीति.—हि = निश्चय से, अविवेकिनः = विवेकहीन पुरुष, सताम् = सज्जनो के, वाक्यम्=वचन को, विपाके=दुःख आ पडने पर, विश्वसन्ति= विश्वास करते हैं ॥३५॥

भावार्थः—अविवेकी जन आपत्ति के आ जाने पर ही सज्जनों के वचन का विश्वास करते हैं, कुशलता के समय नहीं। इसलिये अविवेकी सत्यन्धर भी 'काष्ठाङ्गार को राज्य न दीजिये,

स्वयं ही सम्हाल कीजिये' इस प्रकार हितकारी मंत्रियों के वचनों को न मान कर मृत्यु के पंजे में फँसने पर उनकी याद कर पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने अभाग्यवश मंत्रियों के हितकारी वचन का व्यर्थ उल्लङ्घन किया ॥३५॥

न ह्यकालकृता वाञ्छा, सम्पुष्णाति समीहितम् ।
किं पुष्पावचयः शक्यः, फलकाले समागते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, अकालकृता = असमय में की गई, वाञ्छा=इच्छा, समीहितम्=मनोरथ को, न सम्पुष्णाति = पूर्ण नहीं करती, यथा=जैसे, फलकाले =फल देने के समय के, समागते=आ जाने पर, पुष्पावचयः =फूलो का चुनना, शक्य : किम्=हो सकता है क्या ? अपि तु न=किन्तु नही ॥३६॥

भावार्थः—राजा विचार करता है कि जिस प्रकार वृक्ष में फल आ जाने पर फूल नहीं मिल सकते, उसी प्रकार असमय में की गई इच्छा भी पूर्ण नहीं होती। अतएव मंत्रियों के वचन के मानने का जब मौका था, तब तो मैंने माना नहीं, अब उसके मानने की चाह करने से क्या लाभ ? ॥३६॥

इत्यार्तो वंशरक्षार्थं, केकियन्त्र-मचीकरत् ।
आस्था सतां यशःकाये, न ह्यस्थायिशरीरके ॥३७॥

अन्वयार्थौ—इति=पूर्वोक्त रीति से, आर्तः=खिन्न वह सत्यन्धर राजा, वंशरक्षार्थम्=वंश की रक्षा के लिये, केकियन्त्रम्=मयूराकृतियंत्रम् को, अचीकरत्=बनाता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, सताम्=सज्जनों का आस्था=विश्वास, यशःकाये=कीर्तिरूपी शरीर में, एव=ही, भवति=होता है, अस्थायिशरीरके=नश्वर औदारिक शरीर में, न=नहीं ॥३७॥

भावार्थः—उदार महापुरुष कीर्तिरूपी स्थायी शरीर में ही प्रेम करते है, नश्वर मनुष्यदेह में नहीं। अतएव महाराजा सत्य-

न्धर ने भी स्वमरण का दु:ख छोड़ वंश की रक्षा के लिये हवाई जहाज बनवाया और उसके द्वारा अपनी अविच्छिन्न सन्तान परम्परा से फैलने वाली कीर्ति की इच्छा की ॥३७॥

आक्रीडे दोहदक्रीडा–मनुभोक्तुं विशाम्पतिः ।
व्यजीहरच्च यन्त्रस्थां, पत्नीं वर्त्मनि वार्मुचाम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—विशांपतिः=राजा, आक्रीडे=बगीचे में, दोहदक्रीडाम् =गर्भवती रानी की इच्छित क्रीडा को, अनुभोक्तुम् = भोगने के लिये, पत्नीम् = स्त्री को, यन्त्रस्थाम्=हवाई जहाज में स्थित, कृत्वा = करके, वार्मुचाम्=मेघों के, वर्त्मनि = मार्ग में, व्यजीहरत्=विहार करने लगा ।

भावार्थ.—सत्यन्धर राजा, विजया रानी के दोहद (गर्भ कालीन मनोरथ) को पूर्ण करने के लिये राजोद्यान में उसकी इच्छानुसार अनेक क्रीडाएँ करता हुआ उसे हवाई जहाज में बिठा कर आकाश में उड़ने का अभ्यास करने लगा ॥३८॥

तावतैव कृतघ्नाख्यां, राजघाख्यां च साधयन् ।
स्वविधेयां भुवं चेति, काष्ठाङ्गारो व्यचीचरत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, एव = ही, कृतघ्नाख्याम् = कृतघ्न नाम को, राजघाख्याम् = राजघातक नाम को, च = और भुवम्=पृथ्वी को, स्वविधेयाम् = अपने आधीन, साधयन्=साधन करता हुआ, काष्ठाङ्गारः =काष्ठाङ्गार, इति=वक्ष्यमाण रीति से, व्यचीचरत् = विचार करने लगा ॥३९॥

भावार्थ.—जब राजा और रानी दोहद क्रीडाओं को करने लगे, तब काष्ठाङ्गार ने 'कृतघ्न' और 'राजघातक' नाम पाने के योग्य बनते हुए राज्य का स्वतंत्र सर्वे सर्वा बनने की इच्छा से निम्नप्रकार विचार किया ॥३९॥

जीवितात्तु पराधीना,–ज्जीवानां मरणं वरम् ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ॥४०॥

अन्वयार्थौ—पराधीनात्=दूसरे के आधीन, जीवितात्=जीने से, जीवानाम्=जीवो का, मरणम्=मर जाना, एव=ही वरम्=कुछ अच्छा, अस्ति=है। हि=क्योकि, कानने=वन में, मृगेन्द्रस्य=सिंह के, मृगेन्द्रत्वम्=वनचर पशुओ का स्वामी पना, केन=किसने, वितीर्णम्=दिया है। अपितु केनापि न=अर्थात् किसी ने नही ॥४०॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार विचार करता है कि पराधीन रहने की अपेक्षा तो प्राणियों का मर जाना ही अच्छा है। इसलिये मुझे भी सत्यन्धर के आधीन रहना अच्छा नहीं। और जैसे जंगल में सिंह अपने बल और विक्रम द्वारा ही सर्व चौपायों का राजा बन बैठता है; किसी के बनाने से नहीं, उसी प्रकार मुझे भी पुरुषार्थ कर राजा को मार कर राज्य का एकाधिकारी बन कर ही विश्राम लेना चाहिए। क्योंकि जब तक राजा जीवित है तब तक मेरी पूरी दाल नहीं गल पाती ॥४०॥

अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो, राजद्रोहो विधीयताम्।
इति राजद्रुहा नित्य, दैवतेनाभिधीयते ॥४१॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गार, राजद्रुहा=राजद्रोही, दैवतेन=देवसमूह के द्वारा, राजद्रोह=राजा के साथ विद्रोह, विधीयताम्=करना चाहिये, इति=इस प्रकार, नित्यम्=सदा, (अहम्=मैं) अभिधीयते=कहा जाता हूँ, इति=इस प्रकार, मन्त्रिभ्य=मन्त्रियो से, अचीकथत्=कहता हुआ ॥४१॥

भावार्थः—पश्चात् उस काष्ठाङ्गार ने कपट जाल रच कर मन्त्रियों से कहा कि राजद्रोही देवता नित्य ही आकर मुझसे कहते हैं कि तुमको सत्यन्धर राजा के साथ युद्ध कर उसे मार कर स्वतन्त्र राजा बन जाना चाहिये ॥४१॥

स्वन्तं किन्तु दुरन्तम्वा, किमुदर्क वितर्क्यताम्।
अतर्कितमिदं वृत्तं, तर्कल्ढं हि निश्चलम् ॥४२॥

अन्वयार्थौ—अतर्कितम्=अविचारित, इदम्=यह, वृत्तम्=समाचार, स्वन्तम् किम्=अच्छे परिणाम वाला होगा क्या? वा=अथवा, दुरन्तम् नु=खोटे परिणाम वाला होगा क्या? वा=अथवा, किम् उदर्कम्=किस परिणाम वाला, स्यात्=होगा, इति=यह, वितर्क्यताम्=तुम सब को विचारना चाहिये। हि=क्योंकि, तर्करूढम्=तर्क पर आरूढ बात, निश्चलम्=निश्चित (भवेत्=हो जाती है) ॥४२॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार ने अपने मंत्रियों से कहा कि देवता जो सत्यधन्र के साथ द्रोह करने की प्रेरणा करते हैं, इसका अच्छा, बुरा या कैसा परिणाम होगा, इस विषय पर आप सब विचार कीजिये। क्योंकि इस बात पर अब तक विचार नहीं किया गया है। विचार करने पर ही इसका परिणाम निश्चित होगा ॥४२॥

जिहेमि वक्तुमप्येत–दुक्ति दैवभयादिति।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्,कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—अहम्=मैं, एतत्=इस देवोक्त बात को, वक्तुम्=कहने के लिये, अपि=भी, जिहेमि=लज्जित होता हूँ। किन्तु, दैवभयात्=देवो के भय से, इति=यह, उक्तिः=कहना है। नीतिः—हि=क्योंकि, पापिनाम्=पापियो के, मनसि=मनमें, अन्यत्=और, वचसि=वचन में, अन्यत्=कुछ और, च=और, कर्मणि=कार्य में, अन्यत्=कुछ और (एव=ही) भवति होता है ॥४३॥

भावार्थः—कपटी मनुष्य एक ही कार्य के विषय में मन में तो कुछ और विचारते हैं, वचन से कुछ और ही कहते हैं तथा तद्विषयिक क्रिया किसी दूसरी प्रकार ही करते हैं। तदनुसार मायावी काष्ठाङ्गार के मनमें तो स्वयं सत्यन्धर के मारने की चाह थी, परन्तु कपट जाल रच मंत्रियों से कहने लगा कि 'सत्यन्धर के साथ युद्ध करो' इस प्रकार दैववचन को मुझे तो कहते हुए

भी लज्जा आती है कि—कोई क्या कहेगा, किन्तु दैव के भय से ही मुझे ऐसा कहने को विवश होना पड़ा है । अन्यथा न जाने दैव क्या बवाल उपस्थित करेगा ? ॥४३॥

तद्वाक्याद्वाच्यतो वंश्या, यमिनः प्राणि-हिंसनात् ।
क्षुद्रा दुर्भिक्षतश्चैव, सभ्याः सर्वे हि तत्रसुः ॥४४॥

अन्वयार्थौ—तद्वाक्यात्=काष्ठाङ्गार के उस वचन से, वंश्या.=कुलीन पुरुष, वाच्यतः=निन्दा से, यमिनः=साधुजन, प्राणिहिंसनात्=जीवघात से, च=और, क्षुद्रा.=दीनपुरुष, दुर्भिक्षितः=अकाल से, एवम्=इस प्रकार, सर्वे=सब, सभ्या=सज्जन पुरुष, तत्रसु.=डर गये ॥४४॥

भावार्थः—सत्यन्धर के साथ युद्ध करने की इच्छासूचक काष्ठाङ्गार के वचन को सुन कर कुलीनपुरुष निन्दा (ऐसी खोटी सलाह कैसे दी ऐसी) से, साधुजन जीवघात (युद्ध में जीवघात अनिवार्य होने से) क्षुद्रजन अकाल (ग्राम और धन दौलत जला देने, हड़ताल वगैरह हो जाने तथा ग्राम छोड़ भाग जाने के कारण) से भीत हो गये । तथा विप्लव की सम्भावना कर सभी के होश हवास जाते रहे ॥४४॥

आत्मघ्नीं धर्मदत्ताख्यः, सचिवो वाचमूचिवान् ।
गाढा हि स्वामिभक्तिःस्या-दात्मप्राणानपेक्षिणी॥४५॥

अन्वयार्थौ—नीति.—हि=क्योंकि, गाढा=अटल, स्वामिभक्तिः=अपने स्वामी के प्रति प्रेम, आत्मप्राणानपेक्षिणी=अपने प्राणों की अपेक्षा नहीं करने वाला, स्यात्=होता है । अतः=इसलिये, धर्मदत्ताख्यः=धर्मदत्त नामक, सचिवः=मन्त्री, आत्मघ्नीम्=अपने प्राणों का विध्वंस कराने वाले, वाचम्=वचन को, ऊचिवान्=बोला ॥४५॥

भावार्थः—जिस सेवक का अपने स्वामी के प्रति हार्दिक प्रेम होता है, वह उसके प्रति जान तक न्योछावर करने को कटि-

बद्ध रहता है। तदनुसार अपने स्वामी राजा सत्यन्धर के अनन्य भक्त धर्मदत्त मन्त्री ने भी ऐसा कहने पर काष्ठाङ्गार मेरी क्या दुर्दशा करेगा, इसकी जरा भी परवाह न कर "सत्यन्धर के साथ युद्ध करने का विचार करना सभ्यता और धर्म के अनुकूल नहीं और खतरनाक भी है" इस प्रकार सूचक काष्ठाङ्गार के विरुद्ध निम्नप्रकार कथन किया ॥४५॥

राजानः प्राणिनां प्राणा-स्तेषु सत्स्वेव जीवनात् ।
तत्तत्र सदसत्कृत्यं, लोक एव कृतं भवेत् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—राजानः=राजा लोग, प्राणिनाम्=प्राणियों के, प्राणाः=प्राणस्वरूप, सन्ति=हैं, तेषु=उन राजाओं के, सत्सु=होने पर, एव=ही, जीवनात्=प्राणधारण रहने से, तत्=इसलिये, तत्र=उन राजाओं के विषय में, कृतम्=किया हुआ, सत्=अच्छा, च=और, असत्=बुरा, कृत्यम्=व्यवहार, लोके=जनता के विषय मे, एव=ही, कृतम्=किया हुआ, भवेत्=होता है ॥४६॥

भावार्थः—धर्मदत्त मंत्री, काष्ठाङ्गार को समझाता है कि—'अनायका विनश्यन्ति' इस नीति के अनुसार राज्यशून्य प्रजा का कुशल नहीं होता, निर्बलों को सबल समूचा ही उड़ाने को कटिबद्ध रहते हैं। इसलिए प्राणरक्षा के कारण होने से (कारण में कार्य का उपचार होने से) प्रजा के प्राणस्वरूप राजा के विषय में जो अच्छा या बुरा व्यवहार किया जाता है वह जनता पर ही किया हुआ समझना चाहिए। इसलिए तुम भी राजा का जो बुरा विचार रहे हो, वह राजा का ही नहीं, किन्तु समस्त जनता का बुरा सोचना है ॥४६॥

एवं राजद्रुहां हन्त, सर्व-द्रोहित्व-सम्भवे ।
राजध्रुगेव किं न स्यात्, पञ्चपातकभाजनम् ॥४७॥

अन्वयार्थौ—एवम्=उपर्युक्त युक्ति से, राजद्रुहाम्=राजद्रोहियों

के, सर्वद्रोहित्वसम्भवे=समस्त जनता के साथ द्रोहीपन के संभव होने पर, राजध्रुक्=राजद्रोही, पञ्चपातकभाजनम्=पांचो पापो का कर्त्ता, एव=ही, न स्यात् किम्=नही होता है क्या? किन्तु स्यात् एव=होता ही है।

भावार्थः—धर्मदत्त मन्त्री, काष्ठाङ्गार से कहता है कि—जो मनुष्य राजा से भी द्रोह करते नहीं डरता वह अन्य मनुष्यों के साथ द्रोह करते तो डरेगा क्यों? इसलिए वह पाचों पापों का करने वाला भी होता है इसमे कोई शंका नहीं रहती। इस प्रकार अगर आप भी राजा के साथ द्रोह करेंगे तो पच पातक के भाजन बनेंगे ॥४७॥

रक्षन्त्येवात्र राजानो, देवान्देहभृतोऽपि च।
देवास्तु नात्मनोऽप्येवं, राजा हि परदेवता॥ ४८॥

अन्वयार्थौ—अत्र=इस लोक मे, राजान.=राजा लोग, देवान्=देवों को, च=और, देहभृत.=प्राणियों को, अपि=भी, रक्षन्ति=रक्षा करते हैं। तु=किन्तु, देवा:=देवता, आत्मान=अपनी, अपि=भी, न रक्षन्ति=रक्षा नही कर सकते। एवम्=इसलिये, हि=निश्चय से, राजा=राजा, एव=ही, परदेवता=उत्तमदेव (अस्ति=है) ॥४८॥

भावार्थः—धर्मदत्त समझाता है कि—इस लोक मे मूर्ति-स्वरूप देवता तो अपने आपकी भी रक्षा नहीं कर सकते; अज्ञानी पशु आदिक द्वारा उनका तिरस्कार प्रत्यक्ष ही देखा जाता है; किन्तु राजा अपनी, प्रजा की और देवताओं की भी रक्षा करते हैं। इससे राजा देवों से भी बढ़ कर होते हैं। अतः ऐसे राजा के साथ तेरी कृतघ्नता प्रगट करना महान अन्याय होगा ॥४८॥

किञ्चात्र दैवतं हन्ति, दैवतद्रोहिणं जनम्।
राजा राजद्रुहां वंशं, वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥४९॥

अन्वयार्थौ—किञ्च=इसके अतिरिक्त, अत्र=इस लोक में, दैवतम्=देवता लोग, दैवतद्रोहिणम्=देवताओ (अपने) से द्रोह करने

वाले, जनम्=प्राणी को, एव=ही, हन्ति=दुख देते हैं। किन्तु, राजा=राजा, राजद्रुहाम्=राजा (अपने) के साथ द्रोह करने वालों के, वशम्=बंश को, वंश्यान्=वंश के मनुष्यों को, च=और, अन्यत्=अन्य धनदौलत आदि को, तत्क्षणे=उसी समय, हन्ति=नष्ट कर देता है ॥४९॥

भावार्थः—धर्मदत्त समझाता है कि इस लोक में जो मनुष्य जिस देवता का अपमान करता है, वह देवता केवल उसी मनुष्य को दुःख दे सकता है, किन्तु जो मनुष्य राजा का तिरस्कार करता है, वह राजा उस मनुष्य को, उसके वंशजों को और धन दौलत आदि को उसी समय नष्ट भ्रष्ट कर देता है। इसलिए हे काष्ठाङ्गार ! तू भी राजा के साथ अन्याय मत कर अन्यथा तेरा, तेरे कुटुम्ब का और तेरी धन दौलत का भी क्षण-मात्र में पता नहीं चलेगा ॥४९॥

अर्थिनां जीवनोपाय-मपायं चाभिभाविनाम् ।
कुर्वन्तः खलु राजानः,सेव्या हव्यवहा यथा ॥५०॥

अन्वयार्थौ—अर्थिनाम्=अर्थीजनों के, जीवनोपायम्=जीवन के उपाय को, च=और, अभिभाविनाम्=तिरस्कार करने वालो के, अपायम्=नाश को, कुर्वन्त.=करने वाले, राजानः=राजा लोग, खलु=निश्चय से, हव्यवहा यथा=अग्नियो के समान, सेव्या=सेवन करने योग्य हैं ॥५०॥

भावार्थः—धर्मदत्त मन्त्री काष्ठाङ्गार से कहता है कि राजा लोग अपने इच्छित कार्य के लिये प्रार्थना करने वालों की तो इच्छा को पूर्ण कर देते हैं, किन्तु अपमानादि करने वालों का नाश तक कर देते हैं। इसलिये मनुष्य जिस प्रकार अग्नि को डर कर सेवन करता है; जरा ही असावधानी हुई कि अङ्गोपाङ्ग जल जाता है, उसी प्रकार राजा से डर कर चलने में ही मनुष्य का भला हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये यदि तू भी

अपनी कुशल चाहता है, तो राजा से विपरीत न चल ॥५०॥

इति धर्म्यं वचोऽप्यासीन्मर्मभित्तीव्रकर्मणः ।
पित्तज्वरवतः क्षीरं, तिक्तमेव हि भासते ॥५१॥

अन्वयार्थौ—इति=पूर्वोक्त, धर्म्यम्=हितकारक, वचः=वचन, अपि=भी, तीव्रकर्मणः=अति अशुभ कर्मोदय वाले, तस्य=उस कष्ठागार के, मर्मभित्=हृदयविदारक, असीत्=हुआ। नीति—हि=क्योंकि, पित्तज्वरवतः=पित्तज्वर युक्त प्राणी के, क्षीरम्=दूध, तिक्तम्=कडुआ एव=ही, भासते=मालूम होता है ॥५१॥

भावार्थः—जैसे मीठा भी दूध पित्तज्वर वाले को कडुवा ही लगता है, उसी प्रकार धर्मदत्त मन्त्री की उपर्युक्त (पूर्वोक्त) शिक्षा भी पापी काष्ठाङ्गार को हितकर प्रतीत नहीं हुई ॥५१॥

स कार्तघ्न्यादिदोषं च, गुरुद्रोहं च किं परैः ।
परिवादं च नाद्राक्षीत्,दोषं नार्थी हि पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थौ—सः=वह कष्ठाङ्गार, कार्तघ्न्यादिदोषम्=कृतघ्नता आदिक दोषो को, च=और, गुरुद्रोहम्=बडे जन के साथ द्रोह को, न अद्राक्षीत्=नही विचारता हुआ। परैः किम्=औरो से तो क्या, परिवादम्=निन्दा को, अपि=भी, न अद्राक्षीत्=नहीं विचारता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, अर्थी=कार्य बनाने का इच्छुक व्यक्ति, दोषम्=दोषो को, न पश्यति=नही विचारता है ॥५२॥

भावार्थः—जो मनुष्य अपने स्वार्थसाधन की धुन मे मस्त हो जाता है, वह दोषों की ओर नजर नहीं देता, अतएव काष्ठाङ्गार के भी राजा को मार स्वतंत्र बनने की इच्छा का भूत सवार था, जिसके हेतु उसने भी "मैं लोक में कृतघ्न तथा बड़े और हितैषी जनों के साथ द्रोहकारी कहलाऊंगा और लोक में मेरी बदनामी भी हो जावेगी" इत्यादि दोषों की जरा भी पर्वाह नहीं की ॥५२॥

मथनो नाम तत्स्यालः, तद्वाचं बहु॒मन्यत ।
तद्धि पाणौ कृतं दात्रं,परिपन्थिविधायिनः ।।५३।।

अन्वयार्थौ—मथनः नाम=मथन नामक, तत्स्यालः=उस काष्ठाङ्गार का साला, तद्वाचम्=उस काष्ठाङ्गार के वचन को, बहु=बहुत, अमन्यत=आदर देता हुआ, और, तत्=वह आदर देना, हि=निश्चय से, परिपन्थिविधायिनः=खोटा कार्य करने वाले, तस्य=उस काष्ठाङ्गार के, पाणौ=हाथ में, कृतम्=दिये हुये, दात्रम्=हँसिया (हथयार) के समान (जातम्=हुआ) ।।५३।।

भावार्थः—जैसे कोई किसी के मारणरूप अकार्य के करने में स्वयं उद्यत हो और उस समय यदि उसके हाथ मे कोई हथियार दे दिया जावे तो उसका हौसला और भी बढ़ जाता है। उसी प्रकार राजद्रोहरूप कुत्सित कार्य में स्वयं उद्यत काष्ठाङ्गार का दुःसाहस मथननामक साले की सम्मति पाकर और भी बढ़ गया ।

प्राहैषीच्च बलं हन्तुं, राजानं हन्त पापधीः ।
पयो ह्यास्यगतं शक्यं, पाननिष्ठीवनद्वये ।।५४।।

अन्वयार्थौ—हन्त=बड़े खेद की बात है कि, पापधीः=पापी काष्ठाङ्गारः=काष्ठाङ्गार, राजानम्=राजा को, हन्तुम्=मारने को, बलम्=सेना को, च=भी, प्राहैषीत्=भेजता हुआ । नीति.—हि=क्योंकि, आस्यगतम्=मुख में रखा हुआ, पयः=दूध या जल, पाननिष्ठीवनद्वये=पीने या थूकने में से किसी एक में, शक्यम्=समर्थ होता है ।।५४।।

भावार्थः—जैसे मुख में लिये हुये दूध या पानी को भीतर पी लेने या बाहर उगल देने के सिवाय मुख में ही रखे रहना आदि कोई तीसरी गति नहीं हो सकती, उसी प्रकार काष्ठाङ्गार के असद्विचार को भी छोड़ देने या तदर्थ कोशिश करने के सिवाय कोई तीसरी गति नहीं हो सकती थी, अतएव उसने अपना विचार तो नहीं छोड़ा, किन्तु राजाको मारने के लिये सेना ही भेज दी ।

दौवारिकमुखादेत,–दुपलभ्य रुषा नृपः ।
उदतिष्ठत संग्रामे, न हि तिष्ठति राजसम् ॥५५॥

अन्वयार्थो—नृप.=सत्यन्धर राजा, दौवारिकमुखात्—द्वारपाल के मुख से, एतत्=इस सेना के आने के समाचार को, उपलभ्य=जान कर, रुषा=क्रोध से, संग्रामे=युद्ध के लिये, उदतिष्ठत=उठ खड़ा हुआ । नीति.—हि=क्योंकि, राजसम्=तेजस्विता, न तिष्ठति=छिपी नहीं रह सकती ॥५५॥

भावार्थः—जब द्वारपाल ने राजा को काष्ठाङ्गार की सेना के आने का समाचार सुनाया तब राजा भी क्रोधित होकर युद्ध के लिये चल पड़ा । ठीक ही है कि भला ऐसी अवस्था में राजाओं का राजसी स्वभाव कैसे शान्त रह सकता है ? इसलिये क्षत्रिय सत्यन्धर ने भी अपने अपमान और काष्ठाङ्गार की नीचता को न सह, सावधान हो युद्धाङ्गण की ओर अपना पग बढ़ाया ॥५५॥

तावत्तार्धासनाद्‌ भ्रष्टां, नष्टासुं गर्भिणीं प्रियाम् ।
दृष्ट्वा पुनर्न्यवर्तिष्ट, स्त्रीष्ववज्ञा हि दुःसहा ॥५६॥

अन्वयार्थो—तावता=इतने में ही, सः=वह सत्यन्धर राजा, गर्भिणीम्=गर्भवती, प्रियाम्=रानी विजया को, अर्धासनात्=आधे आसन से, भ्रष्टाम्=गिरी हुई, और, नष्टासुम्=मूर्छित, दृष्ट्वा=देख कर, पुन=पीछे, न्यवर्तिष्ट=लौटा आया । नीति.—हि=क्योंकि, स्त्रीषु=स्त्रियों के विषय में (कृता=किया गया) अवज्ञा=अपमान, दुःसहा=असह्य होता है ॥५६॥

भावार्थः—कोई भी विचारशील मनुष्य स्त्रियों के अपमान को सहन नहीं कर सकता, इसीलिये सत्यन्धर राजा भी विजया को मूर्छित छोड़ जाना उसका अपमान समझ वापिस लौट आया ॥५६॥

अबोधयच्च तां पत्नीं, लब्धबोधो महीपतिः ।
तत्त्वज्ञानं हि जागर्ति, विदुषामार्तिसम्भवे ॥५७॥

अन्वयार्थौ—च=और, लब्धबोधः=तत्त्वज्ञ, महीपतिः = राजा, ताम् = उस विजया को, अबोधयत्=समझता हुआ । नीति. — हि= क्योंकि, विदुषाम्=विद्वानों के, आर्तिसम्भवे=पीडा के होने पर, अपि=भी, तत्त्वज्ञानम्=कर्तव्य का विवेक, जागर्ति एव=स्थिर ही रहता है ॥५७॥

भावार्थः—धीर वीर पुरुष दुःसह आपत्ति के आजाने पर भी 'विपदि धैर्यम्' इत्यादि नीति के अनुसार अधीर नहीं होकर कर्त्तव्यारूढ़ ही रहते हैं । अतएव विवेकी सत्यन्धर भी अपनी आपत्ति की पर्वाह न कर रानी को निम्नप्रकार समझाने लगा ।

शोकेनालमपुण्यानां, पापं किं न फलप्रदम् ।
दीपनाशे तमोराशिः, किमाह्वानमपेक्षते ॥५८॥

अन्वयार्थौ—शोकेन = शोक से, अलम् = बस, यत. = क्योंकि, अपुण्यानाम् = पुण्यहीन (जनानाम् = मनुष्यों के) पापम् = पाप, फल-प्रदम् = फल को देने वाला, न भवति किम् = नहीं होता है क्या ? अपि तु स्यादेव = किन्तु होता ही है । नीतिः —यथा=जैसे, दीपनाशे= दीपक के बुझ जाने पर, तमोराशिः = अन्धकार का समूह, आह्वानम्= बुलाने को, अपेक्षते किम्=चाहता है क्या ? अपि तु न=किन्तु नहीं ॥५८॥

भावार्थः—सत्यन्धर राजा विजया रानी को समझाता है कि जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने पर अँधेरा अपने आप ही आजाता है, उसे बुलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार पुण्य के नष्ट हो जाने पर दु.ख को बुलाने की भी आवश्यकता नहीं होती । तात्पर्य यह है कि अपने भी पाप का उदय आया है, इससे दुःख और आपत्ति का आना अनिवार्य है, इससे तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥५८॥

यौवनं च शरीरं च, सम्पच्च व्येति नाद्भुतम् ।
जलबुद्बुदनित्यत्वे, चित्रीया न हि तत्क्षये ॥५६॥

अन्वयार्थौ—यौवनम् = जवानी, शरीरम् = शरीर, च = और, सम्पत्=धन दौलत, व्येति=नष्ट होती है । अत्र=इसमें, अद्भुतम्= आश्चर्य, नास्ति = नहीं है । यथा=जैसे, जलबुद्बुदनित्यत्वे = पानी के बबूले के बहुत देर तक ठहरने पर, चित्रीया=आश्चर्य (भवति=होता है) किन्तु, तत्क्षये=उसके उत्पन्न होते ही नष्ट होने पर, न = नहीं ॥५६॥

भावार्थः—सत्यन्धर अपनी रानी को समझाता है कि, जिस प्रकार जल का बबूला देर तक ज्यों का त्यों ठहरे तब तो आश्चर्य होता है, किन्तु यदि उठते ही नष्ट हो जावे तो कोई आश्चर्य नहीं होता । उसी प्रकार जवानी, शरीर और धन दौलत भी ज्यों के त्यों स्थिर रहें तब तो आश्चर्य हो, किन्तु इनके परिवर्तन या नाश होने पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये । इससे यदि मेरे नश्वर-स्वभाव धन दौलत और शरीर के भी नाश होजाने की सम्भावना है तो खेद करना व्यर्थ ही है ॥५६॥

संयुक्तानां वियोगश्च, भविता हि नियोगतः ।
किमन्यैरङ्गतोऽप्यङ्गी, निःसङ्गो हि निवर्तते ॥६०॥

अन्वयार्थौ—च=और, संयुक्तानाम्=मिले हुये, पदार्थानाम्= पदार्थों का, वियोग. = विछोह, नियोगतः = नियम से, भविता= होता है । अन्यै.किम्=और से तो क्या, किन्तु, अङ्गतः = शरीर से, अङ्गी=आत्मा, अपि=भी, निसङ्गः=सम्बन्ध रहित (सन्=होता हुआ) निवर्तते=निकल जाता है ॥६०॥

भावार्थः—सत्यन्धर समझाता है कि—जो पदार्थ कारण-वश परस्पर में मिले हुये हैं, उनका एक न एक दिन जुदा होना अनिवार्य है । अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या किन्तु शरीर और आत्मा जो परस्पर दूध और पानी के समान एकमेक होरहे

हैं, वे भी मृत्युसमय अलग होते हुये दिखलाई देते हैं। फिर हम तुम तो प्रत्यक्ष ही जुदे हैं, ऐसी हालत में यदि हमारा तुम्हारा वियोग हो जावे तो क्या आश्चर्य है ॥६०॥

अनादौ सति संसारे, केन कस्य न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावश्च, सर्वमेतद्धि कल्पना ॥६१॥

अन्वयार्थौ—संसारे = संसार के, अनादौ = आदि रहित, सति = होने पर, केन सह = किसी के साथ, कस्य = किसी की, बन्धुता = मित्रता, च = और, शत्रुभावः = शत्रुता, सर्वथा = बिलकुल भी, न = नहीं (अस्ति = है) हि = निश्चय से, एतत् = यह मित्रता और शत्रुता का व्यवहार, कल्पना = कल्पनामात्र (एव = ही, अस्ति = है) ॥६१॥

भावार्थ.—इस संसार का कोई शुरूआत नहीं है और इसमें न तो किसी की किसी के साथ मित्रता है और न शत्रुता ही है। हम अशुभकर्म के उदय से होने वाली असाता के निमित्त को शत्रु और शुभकर्म के उदय होने वाली साता के निमित्त को मित्र मान लेते हैं, किन्तु यह हमारी भूल और कल्पना मात्र ही है। इसलिये मेरे ऊपर भी अशुभ कर्मोदय से ही ये दुःख के बादल मड़रा रहे हैं। इस प्रकार राजा ने विजया को समझाया ॥६१॥

इति धर्म्यं वचस्तस्या, लेभे नैव पदं हृदि।
दग्धभूम्युप्तबीजस्य, न ह्यङ्कुरसमर्थता ॥६२॥

अन्वयार्थौ—इति = यह पूर्वोक्त, धर्म्यम् = उचित, वचः = उपदेश, तस्याः = उस विजया रानी के, हृदि = हृदय में, पदम् = स्थान को, एव = ही, न लेभे = नहीं पा सका। नीति.—हि = क्योंकि, दग्धभूम्युप्तबीजस्य = जली हुई पृथ्वी में बोये हुये बीज के, अंकुरसमर्थता = अंकुर को पैदा करने का सामर्थ्य (न अवलोक्यते = नहीं देखा जाता है) ॥६२॥

भावार्थः—जिस प्रकार जली हुई पृथ्वी में बोया हुआ बीज व्यर्थ ही जाता है—उससे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, उसी

प्रकार सत्यन्धर राजा ने रानी को बहुत उपदेश दिया, किन्तु उसके क्षुब्ध हृदय में उसे स्थान तक नहीं मिला, फिर मानने की तो बात ही क्या ॥६२॥

अयं त्वापन्नसत्त्वां ता-मारोप्य शिखियन्त्रकम् ।

स्वयं तद्ध्रामयामास, हन्त क्रूरतमो विधिः ॥६३॥

अन्वयार्थौ—तु = तदनन्तर, अयम् = यह० सत्यन्धर राजा, आपन्नसत्त्वाम्=गर्भवती, ताम् = उस विजया रानी को, शिखियन्त्रकम्= हवाई जहाज में, आरोप्य=बिठाकर, तत्=उस हवाई जहाज को, स्वयम् = अपने आप, भ्रामयामास=घुमाता हुआ । नीति.—हन्त = खेद है, यत्=कि, विधि. =भाग्य, क्रूरतम. =बहुत कठोर(भवति होता है) ॥६३॥

भावार्थः—पश्चात् सत्यन्धर राजा ने विजया को हवाई जहाज में बिठा कर आकाश में उड़ा दिया । नीतिकार कहते हैं कि, भाग्य अटल होता है । अतएव जब इन राजा और रानी के अशुभ कर्म का उदय आया तो इन्हें भी वियोग जनित दुःख का अनुभव करना पड़ा ॥६३॥

वियतास्मिन्गते योद्धुं, स मोहादुपचक्रमे ।

न ह्यङ्गुलिरसाहाय्या,स्वयं शब्दायते तराम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—स =वह सत्यन्धर राजा, वियता=आकाश मार्ग से, अस्मिन् = इस हवाई जहाज के, गते सति=चले जाने पर, मोहात्= मोह से, योद्धुम्=युद्ध करने को, उपचक्रमे=प्रारम्भ करता हुआ । नीति —हि=क्योंकि, असाहाय्या=सहायतारहित, अङ्गुलिः=अङ्गुलि, स्वयम् = अपने आप, न शब्दायते तराम्=शब्द नही करती ॥६४॥

भावार्थः—हवाई जहाज के आकाश में चले जाने पर सत्यन्धर राजा राज्य की चाह, युद्धभीरुत्व की आशङ्का और अक्षमता के विचार से मोहित हो काष्ठाङ्गार की सेना के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ । क्योंकि एक हाथ से ताली या एक

अंगुली से चुटकी नहीं बजती, अतएव भले ही सेना आ डटी थी, पर सत्यन्धर शान्ति रखता तो युद्ध नहीं होता, किन्तु वह भी शान्त नहीं रहा, इसलिये दोनों ओर घोर युद्ध होने लगा ॥६४॥

अथ युद्ध्वा चिरं योद्धा, मुधा प्राणिवधेन किम्।
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्, गत्यधीनं हि मानसम् ॥६५॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, योद्धा = शूरवीर सत्यन्धर राजा, चिरम् = बहुत काल तक, युद्ध्वा = युद्ध करके, मुधा = व्यर्थ, प्राणिवधेन प्राणियों की हिंसा से, किम् = क्या लाभ (अस्ति = है) इति = इस प्रकार, ऊहेन = विचार से, विरक्तः = युद्ध से विरक्त, अभूत् = हो गया। नीति — हि = क्योंकि, मानसम् = मन का विचार, गत्यधीनम् = आगे होने वाली शुभाशुभ अवस्था के अनुसार (भवति = होता है) ॥६५॥

भावार्थ.—जीव की भविष्य में जैसी गति होनी होती है; उसके भाव की प्रायः उसी के अनुकूल हुआ करते हैं, तदनुसार सत्यन्धर की भी भविष्य में शुभगति होनी थी, जिससे वह भी बहुत समय तक युद्धकर अन्त में युद्धजन्य हिंसा से विरक्त होगया।

विषयासङ्गदोषोऽयं, त्वयैव विषयीकृतः ।
साम्प्रतं वा विषप्रख्ये. मुञ्चात्मान्विषये स्पृहाम् ॥६६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मा, अयम् = यह विषयासङ्गदोषः = पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में आसक्ति रखने से हानि, त्वया = तूने, एव = ही, विषयीकृत. = प्रत्यक्ष करली है। वा = अतएव, साम्प्रतम् = इस समय, विषप्रख्ये = विष के समान, विषये = पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में, स्पृहाम् = इच्छा को, मुञ्च = छोड ॥६६॥

भावार्थः—सत्यन्धर राजा विरक्त हो विचारते हैं कि हे आत्मन् पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में आसक्ति रखने से जो जो

हा नयां होती हैं उनका तू प्रत्यक्ष अनुभव ही कर चुका है। जिस प्रका॰ विषभक्षण प्राणान्त कर देता है, उसीप्रकार विषयों में लवलीन होने से भी प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। इसके लिये हाथी और मछली आदि की आसक्ति ज्वलन्त उदाहरण हैं। अतएव तू अपना भला चाहता है, तो अब भी सांसारिक विषयों से नाता तोड़ ॥६६॥

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं, त्वयात्मन्भुज्यते ततः।
उच्छिष्टं त्यज्यतां राज्य–मनन्ता ह्यसुभृद्भवाः ॥६७॥

अन्वयार्थौ— आत्मन्=हे आत्मन्, त्वया=तेरे द्वारा, इदम्=यह, सर्वम्=सब वस्तु, भुक्तपूर्वम् = पूर्व में भोगी हुई, एव = ही, भुज्यते= भोगी जाती है। तत =इसलिये, उच्छिष्टम् = जूंठा, राज्यम् = राज्य, त्यज्यताम् = छोडा जाना चाहिये, हि=क्योकि, असुभृद्भवा. =प्राणियों की पर्यायें, अनन्ता· =अनन्त (भवन्ति=होती हैं) ॥६७॥

भावार्थ —हे आत्मन ! तू अतीत कालीन अनंत पर्यायों में जिन-जिन वस्तुओं का अनेक बार भोग कर चुका है, उन्हीं भुक्त राज्यादिकों का फिर फिर से भोग कर रहा है। और एक बार भोगी हुई वस्तु जूठी समझी जाती है, इसलिये जूठन के समान राज्य से अब भी मुख मोड़ कर अपने हित मे लग ॥६७॥

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्, मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥६८॥

अन्वयार्थौ—विषया. =पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय, चिरम् =बहुत काल तक, स्थित्वा = रह कर, अपि = भी, यदि=अगर, अवश्यम् = अवश्य, नश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं, तर्हि = तो, स्वयम् = अपने द्वारा ही, त्याज्याः = त्याग देना चाहिये। हि = क्योकि, तथा=ऐसा करने पर, मुक्तिः =कर्मबंध का अभाव, स्यात्=होता है। च=और, अन्यथा= इसके

विपरीत करने पर, संसृतिः=संसार, एव=ही, स्यात्=होता है ॥६८॥

भावार्थः—जब कि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय अवश्य नष्ट हो जाते हैं, तब जो मनुष्य विचारपूर्वक उनका परित्याग कर देता है, वह पापबन्ध से रहित हो जाता है। इसके विपरीत विषय ही जब जीव का सम्बन्ध छोड़ कर नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य उन्हें नहीं त्यागता, तो उसके संसार-परिभ्रमण का कारण पाप का बंध होता ही रहता है ॥६८॥

त्यज्यते रज्यमानेन, राज्येनान्येन वा जनः।
भज्यते त्यज्यमानेन, तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम् ॥६९॥

अन्वयार्थौ—रज्यमानेन = अनुराग के विषयभूत, राज्येन = राज्य के द्वारा, वा = और, अन्येन = अन्य दूसरी वस्तुओ के द्वारा, जन =प्राणी, त्यज्यते = छोडा जाता है। और, त्यज्यमानेन=त्याग की विषयभूत वस्तुओ मे, भज्यते = सेवन किया जाता है। तत् = इसलिये, विवेकिनाम्=विचारवान् पुरुषो के, तत्त्याग =उन दोनो प्रकार की वस्तुओ का त्याग, अस्तु=हो ॥६९॥

भावार्थः—प्राणी जिस वस्तु को भोगने की इच्छा करता है, वह वस्तु उसे प्राप्त ही नहीं होती, या उससे सम्बन्ध छोड़ अलग हो जाती है और जिसे वह नहीं चाहता, वह अनिच्छित वस्तु उसे अपने आप प्राप्त हो जाती है और उसका पिण्ड भी नहीं छोड़ती। इसलिए विवेकियों को सांसारिक इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार की वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए ॥६९॥

इति भावनया राजा, वैराग्यं परमीयिवान्।
त्यक्त्वा सङ्गं निजाङ्गं च, दिव्यां सम्पदमासदत् ॥७०॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, भावनया = भावना से, परम्=

अत्यन्त, वैराग्यम् = विरक्तता को, ईयिवान् = प्राप्त हुये, राजा = सत्यन्धर महाराज, सङ्गम्=परिग्रह को, च= और, निजाङ्गम्=अपने देह को, त्यक्त्वा=छोड़ कर, दिव्याम्=स्वर्गसम्बन्धी, सम्पदम् = ऐश्वर्य को, प्रासदत्=प्राप्त हुये ॥७०॥

भावार्थः—महाराज सत्यन्धर ने युद्ध से विरक्त होकर संसार, शरीर और भोगों की असारता का पूर्वोक्त विचार करते करते शरीर और परिग्रह से सदा को नाता तोड़ स्वर्ग की विभूति को प्राप्त किया। अर्थात् वे मर कर देव हुए ॥७०॥

पौरा जानपदाः सर्वे, निर्वेदं प्रतिपेदिरे।
पीडा ह्यभिनवा नृणां, प्रायो वैराग्यकारणम् ॥७१॥

अन्वयार्थौ—तदा=उस समय, सर्वे=सब, पौरा =पुरवासी, च= और, जानपदाः=नगर निवासी, निर्वेदम्=वैराग्य को, प्रतिपेदिरे = प्राप्त हुये। हि = क्योंकि, अभिनवा = नूतन, पीडा=दुःख, नृणाम् = मनुष्यों के, प्रायः=अधिकतर, वैराग्यकारणम्=वैराग्य का कारण (भवति=होती है) ॥७१॥

भावार्थ—जब मनुष्य किसी नूतन पीड़ा का अनुभव या श्रवण करता है; तब वह संसार की असारता का विचार कर विरक्तसा होने लगता है, तदनुसार सत्यन्धर के स्वर्गवासरूप नवीन दुःख से समस्त नगर और देशवासी विरक्तता का अनुभव करने लगे।७१॥

अधिस्त्रि रागः क्रूरोऽयं, राज्यं प्राज्यमसूनपि।
तद्वञ्चिता हि मुञ्चन्ति, किन्न मुञ्चन्ति रागिणः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—अधिस्त्रि=स्त्रियों के विषय में, अयम् = यह अनुभूत, रागः = अति आसक्ति, क्रूरः = भयङ्कर (अस्ति होती है)। हि= क्योंकि, तद्वञ्चिताः=उस स्त्रीराग से ठगे हुये जन, प्राज्यम्=विशाल,

राज्यम्=राज्य को, च=और, असून्=प्राणों को, अपि = भी, मुञ्चन्ति= छोड देते हैं। नीतिः—रागिण.=विषयासक्त पुरुष, किम् = क्या क्या, न मुञ्चन्ति=नही छोड देते हैं। किन्तु, सर्व मुञ्चन्ति=किन्तु सभी कुछ छोड देते हैं ॥७२॥

भावार्थः—विरक्त जनता विचार करती है कि, स्त्रियों में अधिक असक्ति करना वहुत भयङ्कर है। स्त्रीभोग में लम्पटी जन राज्यपाट, धनदौलत और प्राणों की भी आहुति दे बैठते हैं। ठीक ही कहा है कि विषयी जन सभी कार्योंसे हाथ धो वैठते है।

नारीजघनरन्ध्रस्थ-विण्मूत्रमयचर्मणा।
वराह इव विड्भक्षी, हन्त मूढः सुखायते ॥७३॥

अन्वयार्थौ—हन्त = खेद की वात है, यत् = कि, मूढः = मूर्खजन, नारीजघनरन्ध्रस्थविण्मूत्रमयचर्मणा = स्त्री की जाघ में स्थित निन्द्य मलमूत्र आदि से भरे हुये चमडे से, विड्भक्षी=विष्टा खाने वाले वराहः इव=शूकर के समान, सुखायते=सुख मानता है ॥७३॥

भावार्थ —विरक्त जनता विचार करती है कि जिस प्रकार विष्टा (टट्टी) खाने वाला शूअर अस्पृश्य विष्टा को खाता हुआ भी अपने को सुखी और भला मानता है, उसी प्रकार स्त्री के मल मूत्रादि अपवित्र वस्तु से भरे हुए अस्पृश्य गुप्ताङ्ग को भोग कर मूर्ख मनुष्य अपने को सुखी और भला मानता हुआ नहीं लजाता है, यह दुःख की वात है ॥७३॥

किं कीदृशं कियत्क्वेति, विचारे सति दुःसहम्।
अविचारितरम्यं हि, रामासम्पर्कजं सुखम् ॥७४॥

अन्वयार्थौ—अविचारितरम्यम्=विचार किये बिना ही प्रिय, रामासम्पर्कजम्=स्त्री के सेवन से उत्पन्न, सुखम् = सुख, किम् = क्या, कीदृश्यम्=कैसा, कियत्=कितना, च=और, क्व = कहा (अस्ति = है)।

इति=इस प्रकार, विचारे सति = विचार करने पर, दु सहम् = असह्य (भवति=होजाता है) ॥७४॥

भावार्थः—जनता विचार करती है कि, स्त्रीसेवन करने से जो सुख होता है, उसके विषय में जब तक "यह क्या है; कैसा है; कितना है और कहां है" ऐसा विचार नहीं किया जावे, तभीतक वह सुन्दर मालूम होता है, किन्तु जब उपर्युक्त बातों पर विचार किया जावे तब उसमें जरा भी सार नहीं दिखलाई देता ॥७४॥

निवारिताप्यकृत्ये स्या-न्निष्फला दुष्फला च धीः।
कृत्ये तु नापि यत्नेन, कोऽत्र हेतु र्निरूप्यताम् ॥७५॥

अन्वयार्थौ—निष्फला=फलरहित, च = और, दुष्फला = खोटे फल वाली, धी. = बुद्धि, निवारिता सती = रोकी गई, अपि=भी, अकृत्ये=खोटे कार्य में, स्यात्=प्रवृत्त हो जाती है। तु=किन्तु, कृत्ये= अच्छे कार्य में, यत्नेन=कोशिश करने से, अपि=भी, न स्यात् = प्रवृत्त नही होती । अत्र=इसमें, क =कौन, हेतु. = कारण (अस्ति = है, इति = यह) निरूप्यताम्=विचारना चाहिये ॥७५॥

भावार्थ:—जनता विचार करती है कि, बुद्धि खोटे कार्य मे तो अपने आप ही प्रवृत्त हो जाती है, किन्तु अच्छे कार्य मे कोशिश करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती; इस बात में क्या कारण है, इसका विचार करना चाहिये ।७५॥

निश्चित्याप्यघहेतुत्वं, दुश्चित्तानां निवारणे ।
येनात्मन्निपुणो नासि, तद्धि दुष्कर्मवैभवम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, त्वम् = तुम, दुश्चित्तानाम्= रागद्वेष आदिक बुरे विचारो के, अघहेतुत्वम्=पाप का कारण, निश्चित्य = निश्चय करके, अपि = भी, निवारणे = रोकने में, येन=जिस कारण से, निपुण. =योग्य, न=नही, असि=हो, हि=निश्चय से, तत्=वह, दुष्कर्मवैभवम्=पापकर्म का प्रभाव (एव=ही, अस्ति है) ॥७६॥

भावार्थः—हे आत्मन्! शुभाशुभ रागद्वेष आदि विभाव-परिणति नवीन द्रव्यकर्म के बन्ध का कारण है ऐसा जानकर भी तुम उसके रोकने में प्रयत्नशील नहीं होते, इसका कारण पूर्व-सञ्चित पापकर्म का उदय ही समझना चाहिये ॥७६॥

हेये स्वयं सती बुद्धि,-र्यत्नेनाप्यसती शुभे।
तद्धेतुकर्म तद्वन्त-मात्मानमपि साधयेत् ॥७७॥

अन्वयार्थौ—बुद्धिः = बुद्धि, हेये = खोटे कार्य में, स्वयम् = अपने आप, सती = प्रवृत्त, च = और, शुभे = अच्छे कार्य में, यत्नेन= कोशिश करने से, अपि=भी, असती=अप्रवृत्त (स्यात्=होती है) च=और, तद्धेतुकर्म=उसका कारण पापकर्म, आत्मानम्=आत्मा को, अपि=भी, तद्वन्तम्=वैसा ही विपरीतप्रवृत्तिकर्त्ता, साधयेत्=बना देता है ॥७७॥

भावार्थः—बुद्धि के खोटे कार्य में स्वतः प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य में कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने में कारण भूत पापकर्म, आत्मा (जीव) को भी खोटे कार्य में प्रवृत्ति करने वाला और करणीय कार्यों में प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है।

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः, किम्प्राप्यः किन्निमित्तिकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चे-दस्थाने हि मति र्भवेत् ॥७८॥

अन्वयार्थौ—अहम् = मैं, कः = कौन, कीदृग्गुणः = कैसे कैसे गुणों वाला, क्वत्यः = कहां से आया, किम्प्रायः =किस वस्तु का प्रापक, च= और, किन्निमित्तिकः =किस हेतु (अस्मि = हूँ) ? इति=इस प्रकार, ऊहः = विचार, चेत्=यदि, प्रत्यहम्=प्रतिदिन, नो भवेत्=नही हो, तर्हि=तो, मतिः =बुद्धि, अस्थाने=अयोग्य कार्य में, भवेत्=प्रवृत्त हो जाती है ॥७८॥

भावार्थः—मैं कौन (परद्रव्यों से भिन्न शुद्धस्वरूप) हूँ, मुझ में कौन कौन गुण (शुद्ध ज्ञान दर्शनादि ही) हैं, मैं पूर्व किस पर्याय (न जाने नरकादि किस दुःखमय पर्याय) से आया हूं,

मुझे इस पर्याय में क्या प्राप्त करना है (रत्नत्रयस्वरूप धर्म, न कि विषयभोग) और मैं किस हेतु पैदा हुआ हूं (परोपकार, धर्मरक्षा और आत्मकल्याण के हेतु) इस प्रकार विचार यदि प्रतिदिन नहीं किया जावे, तो मनुष्य कर्त्तव्यभ्रष्ट हो कुकार्य में प्रवृत्त होजाता है ॥७८॥

मुह्यन्ति देहिनो मोहा–न्मोहनीयेन कर्मणा ।
निर्मितान्निर्मिताशेष–कर्मणा धर्मवैरिणा ॥७९॥

अन्वयार्थौ—देहिन.=प्राणी, निर्मिताशेषकर्मणा=समस्त कर्मों के उत्पादक कारण, धर्मवैरिणा = धर्मबाधक, मोहनीयेन = मोहनीय, कर्मणा=कर्म से, निर्मितात्=रचे गये, मोहात्=मोह से, मुह्यन्ति=मोहित होते हैं ॥७९॥

भावार्थ.—प्रत्येक प्राणी समस्त ज्ञानवरणादि कर्मों के जनक और धर्म (रत्नत्रय) घातक मोहनीय कर्म के उदय से आत्मेतर पर वस्तुओं मे मोहित होकर आत्मस्वरूप को भूल सांसारिक दु:खों के चंगुल में फँस रहे हैं ॥७९॥

किन्नु कर्तुं त्वयारब्धं, किन्नु वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सज्य, हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥८०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्=हे आत्मा, त्वया=तूने, किम् = क्या, कर्तुम्=करने के लिये, आरब्धम्=शुरू किया था । वा=और, अधुना= अब, त्वया=तेरे द्वारा, किम्=क्या, क्रियते = किया जा रहा है । हन्त= खेद है, यत्=कि, आरब्धम्=प्रारम्भ किये हुये कार्य को, उत्सृज्य=छोड़ कर, बाह्येन=पर पदार्थों से, मुह्यसि=तुम मोहित हो रहे हो ॥८०॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! तूने कौन कार्य करना तो शुरू किया था और इस समय कौन कार्य कर रहा है । बड़े खेद की बात है कि तुम शुरू किये हुये आत्महित का परित्याग कर इस समय बाह्य पदार्थों में मोहित हो रहे हो ॥८०॥

इदमिष्टमनिष्टं वे–त्यात्मन्सङ्कल्पयन्मुधा ।
किन्तु मोमुह्यसे बाह्ये, स्वस्वान्तं स्ववशीकुरु॥८१॥

अन्वयार्थौ– आत्मन् = हे आत्मा ! इदम् = यह अमुक वस्तु, इष्टम्=इष्ट, वा=और, इदम्=यह वस्तु, अनिष्टम्=अनिष्ट (अस्ति=है) इति = इस प्रकार, सङ्कल्पयन्=कल्पना करता हुआ, त्वम् = तू, बाह्ये= पर वस्तुओ में, मुधा = व्यर्थ, किन्तु = क्यों, मोमुह्यसे=मोहित होता है। किन्तु, स्वस्वान्तम्=अपने मनको, स्ववशीकुरु = अपने वश कर ॥८१॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! इस असार ससार मे यद्यपि कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है, सब अपने २ स्वभाव से परिणम रही है। किन्तु तेरा अतिचपल मन ही स्वेष्ट वस्तु को अच्छी और स्वानिष्ट वस्तु को बुरी मान उनमें राग द्वेष करता है। अतएव तेरा कर्तव्य है कि तू अपने चंचल मन को ही स्वाधीन कर जिससे वह स्वच्छन्दता से बाह्यवस्तुओं में ऐसी कल्पना ही नहीं कर सके और उसके अपराधसे तूभी रागी द्वेषी न कहलावे।

लोकद्वयाहितोत्पादि, हन्त स्वान्तमशान्तिमत् ।
न द्वेक्षि द्वेक्षि ते मौढ्या–दन्यं सङ्कल्प्य विद्विषम् ॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मा ! हन्त = खेद की बात है, यत्= कि, त्वम् = तू, लोकद्वयाहितोत्पादि=उभयलोक के नाशक, अशान्तिमत्= अशान्तिस्वरूप, ते = अपने, स्वान्तम्=मन से, न द्वेक्षि=द्वेष नही करता। किन्तु, मौढ्यात्=मूर्खता से, अन्यम् = दूसरे पदार्थ को, विद्विषम् = शत्रु, सङ्कल्प्य = मान कर, तम् = उससे, द्वेक्षि = द्वेष करता है ॥८२॥

भावार्थः—हे आत्मन ! हेय कार्यों मे प्रवृत्ति कराकर अपयश और पापबध आदि द्वारा ऐहिक और पारलौकिक हित के नाशक तथा इष्टानिष्ट में प्रवृत्ति या निवृत्ति आदि द्वारा अशान्तिजनक वास्तविक शत्रुभूत अपने चंचल चित्त से तो तू द्वेष

नहीं करता, किन्तु मूर्खतः से पर पदार्थों को शत्रु मान कर उनसे द्वेष करता है, यह तेरा अक्षम्य अविवेक है ॥८२॥

अन्य–दीय–मिवात्मीय–मपि दोषं प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयं, युक्तः कायेन चेदपि ॥८३॥

अन्वयार्थो—अन्यदीयम्=परसम्बन्धी, दोषम् इव=दोष के समान, आत्मीयम्=स्वसम्बन्धी, दोषम्=दोष को, अपि=भी, प्रपश्यता समः=देखने वाले के समान, क =कौन (अस्ति=है, यत =क्योंकि) अयम्=यह, चेदपि=यद्यपि, कायेन=शरीर से, युक्त =सहित (अस्ति=है, तथापि=तो भी) मुक्त.=मुक्त के समान (अस्ति=है) ॥८३॥

भावार्थ —जो मनुष्य दूसरों के ऐबों को तलाशता है, उस दुष्ट के पापबन्ध के सिवाय कोई अन्य वस्तु हाथ नहीं आती; किन्तु जो अपने ही ऐबों (दोषों) को तलाशता है, वह उन्हें जान, उनको दूर कर कालान्तर में निर्दोष हो जाता है इसलिये आत्मदोषदर्शी यद्यपि शरीर सहित है तो भी मुक्त (अकर्मा, दोषरहित) प्राणी के समान है। अतएव अन्य के दोषों को न देख केवल आत्मदोष की ही तलाश करना समझदार का कर्त्तव्य है ॥८३॥

इत्याद्यूहपरे लोके, केकी तु वियता गतः ।
पातयामास राज्ञीं तां, तत्पुरप्रेतवेश्मनि ॥८४॥

अन्वयार्थो—लोके=जनसमुदाय के, इत्याद्यूहपरे सति=पूर्वोक्त विचार में मग्न रहने पर, एव=हाँ, वियता=आकाश मार्ग से, गत.=गया हुआ, केकी=हवाई जहाज, ताम्=उस, राज्ञीम्=विजया रानी को, तत्पुरप्रेतवेश्मनि=उसी राजपुरी की श्मशान भूमि में, पातयामास=गिराता हुआ ॥८४॥

भावार्थ—सत्यन्धर राजा के वियोग से दुखित जनता पूर्वोक्त रीति से संसार की असारता को विचार ही रही थी

कि—इतने मे ही जो हवाई जहाज सत्यन्धर राजा के द्वारा रानी को बिठाकर पहले आकाश में उड़ा दिया गया था, उसने रानी को उसी राजपुरी नगरी की श्मशान भूमि मे आ पटका ॥८४॥

जीवानां पापवैचित्रीं, श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।
पश्येयुरधुनेतीव, श्रीकल्पाभूदकिञ्चना ॥८५॥

अन्वयार्थौ—जीवानाम् = प्राणियो की, पापवैचित्रीम् = पापो की विचित्रता को, पुरा = पहिले, श्रुतौ = आर्ष कथा ग्रन्थो में, श्रुतवन्त = सुनने वाले जन, अधुना = इस समय, पश्येयु' = प्रत्यक्ष देखलें, इति = इस कारण से, एव ही, श्रीकल्पा = लक्ष्मीतुल्य, सा = वह विजया रानी, अकिञ्चना = जन और धन शून्य, अभूत् = हो गई ॥८५॥

भावार्थः—जो मनुष्य पापों की विचित्रता को पहिले कथाग्रन्थों मे ही सुना करते थे, वे मुझे पूर्वाह्ण में तो पुण्योदय से ऐश्वर्यशालिनी महारानी और सौभाग्यवती तथा अपराह्ण मे ही राज्यशून्य, निर्धन और विधवा हुई देख पापों की विचित्रता को प्रत्यक्ष देख लेवें, इस बात को शब्दोच्चारण बिना प्रगट करती हुई मानों वह विजया रानी धन और जन शून्य हो गई ॥८५॥

क्षणनश्वरमैश्वर्य-मित्यर्थं सर्वथा जनः ।
निरणैषीदिमां दृष्ट्वा, दृष्टान्ते हि स्फुटायते मतिः ॥

अन्वयार्थौ—जन. = जनसमुदाय, इमाम् = इस विजया रानी को, दृष्ट्वा = देखकर, ऐश्वर्यम् = धन और जन रूप विभूति, क्षणनश्वरम् = क्षण भर में नष्ट होने वाली (अस्ति = है) इत्यर्थम् = इस बात को, सर्वथा = भली प्रकार, निरणैषीत् = निश्चित करता हुआ। नीति. — हि = क्योंकि, दृष्टान्ते = दृष्टान्त के मिल जाने पर, मति = बुद्धि, स्फुटायते = स्पष्ट हो जाती है ॥८६॥

भावार्थ.—दृष्टान्त के मिल जाने पर बात खुलासा हो

जाती है। अतएव अग्रिम श्लोकोक्त विजया की विभूति की क्षण-क्षीणता रूप दृष्टान्त को देखकर जनता ने भी ऐश्वर्य की क्षण-नश्वरता का दृढ निश्चय कर लिया ॥८६॥

पूर्वाह्णे पूजिता राज्ञी, राज्ञा सैवापराह्णके।
परेतभूशरण्याभूत, पापाद् विभ्यतु पण्डिताः ॥८७॥

अन्वयार्थौ—या = जो, राज्ञी = रानी, पूर्वाह्णे = दिन के पूर्व भाग में, राज्ञा = राजा के द्वारा, पूजिता = सत्कृत की गई थी। सा = वह रानी, एव = ही, अपराह्णके = दिन के पिछले भाग मे, परेतभूशरण्या = श्मशान भूमि के शरण, अभूत् = हो गई। अतएव, पण्डिता = समझदार जन, पापात् = पाप से, विभ्यतु = डरें ॥८७॥

भावार्थ.—जिस रानी ने दिन के पूर्व मे अपने पतिदेव सत्यन्धर राजा से सत्कार पाया था, वह रानी पापोदय से दिन के उत्तरभाग मे ही धन और जन शून्य एवं विधवा होकर श्मशान के कारण हो गई' अतएव आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे पाप से डरें, जिससे ऐसी दुखद हालतों का सामना नहीं करना पड़े ॥८७॥

सा तु मूर्च्छापराधीना, सूतिपीडामजानती।
मासि वैजनने सूनुं, सुषुवे हन्त तद्दिने ॥८८॥

अन्वयार्थौ—तु = और, मूर्च्छापराधीना = मूर्च्छा के आधीन, अत-एव, सूतिपीडाम् = प्रसव के दुख को, अजानती = नही जानती हुई, सा = वह विजया रानी, वैजनने = दशवें, मासि = महिने में, तद्दिने = सत्यन्धर राजा के स्वर्गवास के दिन, एव = ही, सूनुम् = सुपुत्र को, सुषुवे = जनती हुई ॥८८॥

भावार्थः—पश्चात् उस विजया ने दशवें प्रसूति मास मे सत्यन्धर के स्वर्गवास के दिन ही श्मशान भूमि में एक पुत्र प्रसव

किया। किन्तु श्मशान के भयङ्कर दृश्य देख मूर्च्छित होने के कारण उसे प्रसवकालिक वेदना का लेशमात्र भी अनुभव नहीं हुआ ॥८८॥

तावता देवता काचिद्, धात्रीवेषेण सन्यधात् ।
तत्रैव पुत्रपुण्येन, पुण्ये किं वा दुरासदम् ॥८९॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, काचित् = कोई, देवता = देवी, पुत्रपुण्येन = प्रसूत पुत्र के पुण्योदय से, धात्रीवेषेण = धाय के वेश मे, तत्र = वहा पर, एव ही, सन्यधात् = आई। नीति.—वा = क्योंकि, पुण्ये = पुण्योदय के होने पर, किम् = कौन वस्तु, दुरासदम् = दुष्प्राप्य, भवति = होती है। किन्तु, किमपि न = कुछ भी नही ॥८९॥

भावार्थ.—पुण्योदय के होने पर दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते हैं। अतएव पुत्र के उत्पन्न होते ही उसके पुण्योदय से कोई देवी धाय का रूप धारण कर पुत्ररक्षा और विजया की सहायता के हेतु श्मशान मे ही विजया के पास आई ॥८९॥

तां पश्यन्त्या अभूत्तस्या, उद्वेलः शोकसागरः ।
सन्निधौ हि स्वबन्धूनां, दुःखमुन्मस्तकं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थौ—ताम् = उस धाय को, पश्यन्त्या = देखने वाली, तस्या = उस विजया रानी का, शोकसागर. = शोकरूपी समुद्र, उद्वेलः = सीमातीत, अभूत् = हो गया। नीति,—हि = क्योंकि, दु.खम् = दुःख, स्वबन्धूनाम् = अपने हितैषियो के, सन्निधौ = समीप में, उन्मस्तकम् = वृद्धिङ्गत, भवेत् = हो जाता है ॥९०॥

भावार्थ.—शुभचिन्तक जन के समीप आ जाने पर दुखी मनुष्य का दुःख वढ़ ही जाता है, तदनुसार शुभचिन्तक धाय (देवी) के आने पर विजया के पुत्ररक्षा आदि की चिन्तारूप दुःख और भी बढ़ गया ॥९०॥

देवता तु समाश्वास्य, जातमाहात्म्यवर्णनैः ।
ऊर्णादिदर्शनोद्भूतै,र्देवीं तामित्यवोचयत् ॥९१॥

अन्वयार्थौ—तु=पश्चात्, देवता=धायस्वरूप देवी, ऊर्णादिदर्शनोद्भूतै.=भोरी आदि के देखने से ज्ञात, जातमाहात्म्यवर्णनै=पुत्र के प्रभाव के वारबार दिखलाने से, ताम्=उस, देवीम्=विजया रानी को, समाश्वास्य=धैर्य बंधाकर, इति=वक्ष्यमाण प्रकार से, अवोचयत=कहती हुई ॥९१॥

भावार्थ—धाय के भेष से आगत देवी ने प्रसूत पुत्र के भोंरो, लहसुन, मस्सा शख आदि शुभ लक्षणों से उसके भविष्य प्रभाव का परिज्ञान कर बारबार उनके प्रदर्शन और फलावबोधन द्वारा रानी को संतुष्ट कर अधविज्ञान द्वारा जान कर इस प्रकार कहा।

पुत्राभिवर्धनोपाये, देवि ! चिन्ता निवर्त्यताम् ।
क्षत्रपुत्रोचितं कश्चि-देनं सम्वर्धयिष्यति ॥९२॥

अन्वयार्थौ—देवि=हे रानी, एनम्=इस राजकुमार को, क्षत्रपुत्रोचित यथा स्यात्तथा=क्षत्रियकुमार के योग्य रीति से, कश्चित्=कोई महाजन, सम्वर्धयिष्यति=बढावेगा। अतएव, पुत्राभिवर्धनोपाये=स्वपुत्र की वृद्धि और पालन आदिके विषय में, चिन्ता=फिकर, निवर्त्यताम्=छोड़ देना चाहिये ॥९२॥

भावार्थः—हे देवी ! कोई प्रसिद्ध महाजन इस राजकुमार को क्षत्रियकुमार के अविरुद्ध ही रक्षा और पालनपोषण अवश्य करेगा, इसलिये तुम्हे इस विषयिक चिन्ता नहीं करना चाहिये।

इत्युक्ते कोऽपि हृष्टोऽभूद्, विसृष्टप्रेतसूनुकः ।
सूनुं सूनृतयोगीन्द्र-वाक्यात्तत्र गवेषयन् ॥९३॥

अन्वयार्थौ—इत्युक्ते=ऐसा कहे जाने पर, विसृष्टप्रेतसूनुक.=जिसने मृत स्वपुत्र का मृत्युसंस्कार कर दिया है ऐसा, क.=कोई अपरि-

चित जन, सूनृतयोगीन्द्रवाक्यात्=किसी मुनि के सत्यार्थ और प्रिय वचन से, तत्र=श्मशान भूमि में, सूनुम्=पुत्र को, गवेषयन्=तलाशता हुआ, दृष्टः=दृष्टिगोचर, अभूत्=हुआ ॥६३॥

भावार्थ—जिस समय देवी विजया को समझा रही थी, उसी समय, उसी दिन मृत स्वपुत्र का मृत्युसंस्कार कर (हे भव्य ! अपने मृत बालक के अंतिम संस्कार के हेतु जब तू श्मशान में जावेगा, तब तुझे वहाँ एक बालक पड़ा मिलेगा और इसका तू पालन पोषण करेगा इस प्रकार) एक अवधिज्ञानी दिगम्बर जैन मुनि के कहे यथार्थ वचन से श्मशान मे ही पुत्र को तलाशता हुआ एक व्यक्ति विजया के दृष्टिगोचर हुआ ॥६३॥

तद्दर्शनेन तद्वाक्यं, प्रमाणं निर्णिनाय सा ।
निश्चलादविसम्वादाद्,वस्तुनो हि विनिश्चयः ॥६४॥

अन्वयार्थौ—सा=वह विजया रानी, तद्दर्शनेन=उस व्यक्ति के देखने से, तद्वाक्यम्=उस देवी के पूर्वोक्त वचन को, प्रमाणम्=सत्य, निर्णिनाय=मानती हुई । नीतिः—हि=क्योंकि, निश्चलात्=अटल, अविसम्वादात्=निर्विवाद वचन से, वस्तुन=वस्तु या वात का, विनिश्चयः=अटल निश्चय, भवति=हो जाता है ॥६४॥

भावार्थ—दृढ़ निश्चायक प्रमाण के मिल जाने पर वस्तु, कार्य या वात का पूर्ण निश्चय हो जाता है। अतएव अभ्यागत व्यक्ति के देखने से विजया ने भी देवी के वचन की पूर्ति होते देख उसे सत्य माना ॥६४॥

ततो गत्यन्तराभावाद्, देवताप्रेरणाच्च सा ।
पित्रीयमुद्रयोपेत-माशास्यान्तर्धात् सुतम् ॥९५॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके वाद, सा=वह विजया रानी, गत्यन्तराभावात्=उपायान्तर के न होने से, च=और, देवताप्रेरणात्=

देवी की प्रेरणा से, सुतम्=स्वपुत्र को, पित्रीयमुद्रया = पिता की अंगूठी से, उपेतम्=युक्त, कृत्वा=करके, च=और, आशास्य = आशीर्वाद देकर, अन्तर्धात्=छिप गई ॥९५॥

भावार्थः— पश्चात वह विजया रानी पुत्र के सुरात्या पालन पोषण के अन्य उपाय के न होने और देवी की प्रेरणा से उसे पिता (सत्यन्धर) के नाम से अंकित अंगूठी पहिना कर जीव (चिरकाल तक जीओ) इस प्रकार आशीर्वाद देकर समीपस्थ झाड़ियों मे ही छिप गई ॥९५॥

गन्धोत्कटोऽपि तं पश्यन्, नातृपद्वैश्यनायकः ।
एधोन्वेषिजनैर्दृष्टः, किं वा न प्रीतये मणिः ॥९६॥

अन्वयार्थौ—तम्=उस पुत्र को, पश्यन् = देखता हुआ, वैश्यनायक = वैश्यश्रेष्ठ, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट, अपि = भी, न अतृपत्=तृप्त नही हुआ । वा=जैसे, एधोन्वेषिजनैः = ईन्धन तलाशने वाले मनुष्यो के द्वारा, दृष्टः = देखा गया, मणिः =मणि, प्रीतये=हर्ष के लिये, न भवति किम्=नही होता है क्या ? किन्तु, भवति एव=होता ही है ॥९६॥

भावार्थ.— जिस प्रकार पर्याप्त लकड़ियों के मिल जाने से ही प्रसन्न होने वाले लक्कड़हारों के किसी मणि के मिल जाने पर होने वाली खुशी का पार नहीं रहता; उसी प्रकार सुन्दर पुत्र के अनायास ही हाथ आ जाने पर गन्धोत्कट भी मारे खशी के अपने से नहीं समाया और बहुत देर तक टकटकी लगाये हुये उसके रूपामृत का पान करता रहा ॥९६॥

हर्षकण्टकिताङ्गोऽय—मादधान — स्तमङ्ग—जम् ।
जीवेत्याशिषमाकर्ण्य, तन्नाम समकल्पयत् ॥९७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, तम् = उस, अङ्गजम् = पुत्र को, आदधान = उठाता हुआ, अतएव, हर्षकण्टकिताङ्ग = हर्ष से रोमाञ्चित है

शरीर जिसका ऐसा, अयम्=यह गन्धोत्कट, जीव = जिओ, इति = इस, आशिषम्=आशीर्वाद को, श्रुत्वा = सुनकर, तन्नाम = उस पुत्र का वही नाम, समकल्पयत्=रखता हुआ ॥६७॥

भावार्थः—जब गन्धोत्कट ने उस पुत्र को जमीन पर से उठाया, तब मारे हर्ष के उसके रोंगटे खड़े हो गये। पश्चात् उसने गुप्त विजया के द्वारा दिये गये 'जीव' आशीर्वाद के अनुसार उसका 'जीवक या जीवन्धर' नाम रखा। ६७॥

अमृतं सूनुमज्ञानात्, संस्थितं कथमभ्यधाः ।
इति क्रुध्यन्स्वभार्यायै, सानन्दोऽयमदात्सुतम् ॥९८॥

अन्वयार्थौ—सुनन्दा = गन्धोत्कट की स्त्री, अपि = भी, नन्दनस्य =पुत्रके, अवलोकनात्=देखने से, अभ्यनन्दीत्=आनन्दित हुई। नीतिः— हि—क्योंकि, पुत्रा =सामान्य पुत्र, अपि = भी, प्राणवत्=प्राणों के समान, प्रीतये = आनन्द के लिये, भवन्ति=होते हैं। पुनः=फिर, मृतोत्पन्नाः किम्=पहिले मर गये पीछे से जीवित हुये पुत्रों का तो कहना ही क्या है ॥६८॥

भावार्थः—गन्धोत्कट ने घर पहुँच कर 'जीवित पुत्र को मृत क्यों बताया'? इस प्रकार बनावटी क्रोध कर अपनी स्त्री सुनन्दा को पुत्र सौंप दिया। तात्पर्य-कि अन्य का पुत्र जान कर सुनन्दा इसका सुरीत्या पालन नहीं करेगी, इसलिये गन्धोत्कट ने यह बनावटी क्रोध किया और असली रहस्य गुप्त रखा, तथा भोले पन एवं नवजात शिशु होने से वह भी इसका भेद नहीं जान सकी। ६८॥

अभ्यनन्दीत्सुनन्दापि, नन्दनस्यावलोकनात् ।
प्राणवत्प्रीतये पुत्रा, मृतोत्पन्नास्तु किम्पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थौ—सुनन्दा = गन्धोत्कष्ट की स्त्री, अपि = भी, नन्दनस्य पुत्र के, अवलोकनात् = देखने से, अभ्यनन्दीत् = आनन्दित हुई, नीति.—

हि=क्योंकि, पुत्रा.=सामान्य पुत्र, अपि=भी, प्राणवत्=प्राणों के समान, प्रीतये=आनन्द के लिये, भवन्ति=होते हैं। पुन.=फिर, मृतोत्पन्नाः किम्=पहिले मर गये पीछे से जीवित हुये पुत्रों का तो कहना ही क्या है? ॥६६॥

भावार्थ—जब कि पुत्रमात्र का दर्शन ही अनन्दप्रद होता है, तब भला मर कर उसी पर्याय में जीवित होने वाले पुत्र के दर्शन से उत्पन्न हुए आनन्द का तो कहना ही क्या है? प्रकृत में उत्पन्न होते ही मृत, पुनः तुरन्त ही सजीव हुए पुत्र को देख सुनन्दा भी हर्ष से फूली नहीं समाई ॥६६॥

देवता जननीमस्य, वन्धुवेश्मपराङ्मुखीम् ।
दण्डकारण्यमध्यस्थ-मनैषीत्तापसाश्रमम् ॥१००॥

अन्वयार्थौ—देवता=देवी, अस्य=इस जीवन्धर की, वन्धुवेश्मपराङ्मुखीम्=भाई के घर जाने की इच्छा न करने वाली, जननीम्=माता को, दण्डकारण्यमध्यस्थम्=दण्डक वन के बीच में स्थित, तापसाश्रमम्=तपस्वियों के आश्रम को, अनैषीत्=ले गई ॥१००॥

भावार्थः—उस देवी ने विजया से उसके भाई के यहाँ जाने का वहुत अनुरोध किया, किन्तु जब वह वहां जाने को राजी नहीं हुई, तब वह देवी उसे दण्डकवन में स्थित तपस्वियों के आश्रम में ले गई ॥१००॥

कृत्वा च तां तपस्यन्तीं, सतोषा सा मिषादगात् ।
समीहितार्थसंसिद्धौ,मनः कस्य न तुष्यति ॥१०१॥

अन्वयार्थौ—सा=वह देवी, ताम्=उस विजया रानी को, तपस्यन्तीम्=तपस्विनी, च=भी, कृत्वा=वना कर, सतोषा सती=सन्तुष्ट होती हुई, मिषात्=किसी वहाने से, अगात्=चली गई। नीति—हि क्योंकि, समीहितार्थसंसिद्धौ=अभिलषित कार्य के पूर्ण हो जाने पर,

कस्य=किसका, मनः=मन, न तुष्यति=सन्तुष्ट नहीं होता। किन्तु, सर्वेषां मनः तुष्यति=सब का मन सन्तुष्ट हो जाता है ॥१०१॥

भावार्थः—अभीष्ट कार्य के पूर्ण हो जाने पर सभी का मन सन्तुष्ट हो जाता है. इस नीति के अनुसार वह देवी भी अपने अभीष्ट (जीवन्धर और विजया के जीवनादि की सुव्यवस्था) के सिद्ध होने पर सन्तुष्ट होकर किसी बहाने से अपने स्थान को चली गई ॥१०१॥

आवात्सीद्राजपत्नी च, वत्सं निजमनोगृहे ।
जिनपादाम्बुजं चैव, ध्यायन्ती हन्त तापसी ॥१०२॥

अन्वयार्थौ—च=और, हन्त खेद की बात है कि, तापसी=तप तपने वाली, राजपत्नी=रानी विजया, जिनपादाम्बुजम्=जिनराज के चरणकमलों को, ध्यायन्ती=ध्यान करती हुई, निजमनोगृहे=अपने मनरूपी मन्दिर में, वत्सम्=स्वपुत्र को, ध्यायन्ती=ध्याती हुई, अवात्सीत् रहने लगी ॥१०२॥

भावार्थः—देवी के अन्तर्धान हो जाने पर तपस्विनी विजया रानी सतत जिनदेव के चरणारविन्द का ध्यान करती हुई जब कभी पुत्रचिन्ता से भी व्याकुल हो उठती थी ।१०२॥

अनल्प-तूल-तल्पस्थ-सवृन्त प्रसवा-दपि ।
निर्भरं हन्त सीदन्त्यै,दर्भशय्याप्यरोचत ॥१०३॥

अन्वयार्थौ—हन्त=खेद की बात है कि, अनल्पतूलतल्पस्थस-वृन्तप्रसवात्=बहुत ज्यादह रुई से बने मोटे गद्दे पर पड़े हुये डण्डी सहित एक फूल से, अपि=भी, निर्भरम्=अत्यन्त, सीदन्त्यै=दुखित होने वाली, तस्यै=उस विजया रानी के लिये, दर्भशय्या=डाभ की आसनी, अपि=भी, अरोचत=प्रिय लगने लगी ॥१०३॥

भावार्थः—जो विजया रानी, राजभवन में बहुत ज्यादह रुई से बने हुए मोटे गद्दे पर पड़े हुए फूलों की एक डण्डी से भी

दुःख का अनुभव करती थी, उसी को तप तपते समय खुरदरी दुःखोत्पादक डाभ की शय्या और आसनी आदि भी प्रिय और सुखद प्रतीत होने लगी ॥१०३॥

स्वहस्तलूननीवारोऽप्याहारोऽस्याः परेण किम् ॥
अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०४॥

अन्वयार्थी—तथा, परेण=और से, किम्=क्या, किन्तु, अस्या.= इस विजया रानी का, आहार = भोजन, अपि=भी, स्वहस्तलूननीवार = अपने हाथ से काटा हुआ धान्य, अभूत्=हुआ। नीति=हि=क्योंकि, कृतम्=बाधा हुआ, शुभाशुमम्=शुभ या अशुभ कर्म, अवश्यम्=अवश्य, अनुभोक्तव्यम्=भोगना पडता है ॥१०४॥

भावार्थ—जीव को किये हुए पुण्य पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार विजया को भी पूर्वबद्ध पापकर्म के उदय से सुख से भोजन तक नहीं मिला—अपने हाथ से काटे हुए धान्य से ही गुजारा करना पड़ा ॥१०४॥

अथ गन्धोत्कटायार्थ,-मर्भकार्थं महोत्सवम् ।
आत्मार्थं गणयन्मूढः, काष्ठाङ्गारोऽप्यदान्मुदा ॥१०५॥

अन्वयार्थी—अथ = इसके पश्चात् मूढ =मूर्ख, काष्ठाङ्गार = काष्ठाङ्गार, अर्भकार्थम्=पुत्र जन्म के हेतु, महोत्सवम् = महान उत्सव को, आत्मार्थम् = अपने राजा होने के हेतु, गणयन् = समझता हुआ, मुदा=हर्ष से, गन्धोत्कटाय=गन्धोत्कट के लिये, अर्थम्=धन को, अदत्=देता हुआ ॥५०१॥

भावार्थः—पुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में गन्धोत्कट ने एक बड़ा भारी उत्सव मनाया, जिसको मूर्ख काष्ठाङ्गार ने अपने राजा होने की खुशी में किया हुआ समझ खुश हो गन्धोत्कट सेठ को बहुत सा धन (पारितोषिक) दिया ॥१०५॥

तत्क्षणे तत्पुरे जातान्, जातानपि तदाज्ञया ।
लब्ध्वा वैश्यपतिः पुत्रं, मित्रैः सार्धमवर्धयत्॥१०६॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, वैश्यपति =वैश्यमुख्य गन्धोत्कट, तत्पुरे= उस राजपुरी नगरी में, तत्क्षणे=उस जीवन्धर के जन्मदिन में, जातान्= उत्पन्न हुये, जातान्=औरो के अन्य बालको को, अपि=भी, तदाज्ञया= उस काष्ठाङ्गार की आज्ञा से, लब्ध्वा = प्राप्त कर, मित्रैः सार्धम्=मित्रो के साथ, पुत्रम्=अपने पुत्र जीवन्धर को, अवर्धयत्=बढाता हुआ ॥१०६॥

भावार्थः—उत्सव के कारण गन्धोत्कट और काष्ठाङ्गार में परस्पर प्रेम तो हो ही गया था, अतएव गन्धोत्कट जीवन्धर के उत्पन्न होने के समय राजपुरी में उत्पन्न हुये औरों के बालकों को राजा काष्ठाङ्गार की आज्ञा से अपने यहां बुला कर उनके साथ अपने पुत्र जीवन्धर का पालन करने लगा ॥१०६।

अथ जातः सुनन्दायाः,नन्दाढ्यो नाम नन्दनः ।
तेन जीवन्धरो रेजे, सौभ्रात्रं हि दुरासदम्॥१०७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, सुनन्दायाः = सुनन्दा के नन्दाढ्य नाम=नन्दाढ्य नामक, नन्दनः=पुत्र, जात =पैदा हुआ, तेन=उससे, जीवन्धरः=जीवन्धर, रेजे=सुशोभित होगया । नीतिः— हि=क्योंकि, सौभ्रात्रम्=योग्य भाई का मिलना, दुरासदम्=अतिकठिन, (भवति=होता है) ॥१०७॥

भावार्थः—कुछ समय बाद गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा के एक नन्दाढ्य नामक सुयोग्य पुत्र पैदा हुआ, जिससे जीवन्धर की शोभा और वृद्धिङ्गत हुई । ठीक ही है कि संसार में भाई तो बहुत होते हैं, पर सुयोग्य भाई का मिलना अतिकठिन है ॥१०७॥

एवं सद्बन्धुमित्रोऽय,-मेधमानो दिने दिने ।
अतिशेते स्म शीतांशु,-मकलङ्काङ्गभावतः ॥१०८॥

अन्वयार्थौ—एवम्=इस प्रकार, सद्बन्धुमित्रः=योग्य भाई और मित्रो सहित, दिने दिने=प्रतिदिन, एधमानः=बढता हुआ, अयम्=यह जीवन्धर, अकलंकाङ्गभावतः=अपने निर्दोष शरीर से, शीतांशुम्=चन्द्रमा को, अपि=भी, अतिशेते स्म=पराजित करता हुआ ॥१०८॥

भावार्थः—अपने भाई तथा मित्रों के साथ शुक्लपक्ष के चन्द्रसमान प्रतिदिन बढ़ते हुए जीवन्धर ने, अपने सर्वाङ्गसुन्दर (काणखञ्जोन्नासवधिरकुब्जत्वादिकलङ्कविहीन) शरीर से कलङ्की (शशाङ्क होने से) चन्द्र को भी लज्जित कर दिया ॥१०८॥

ततः शैशवसम्भूष्णु, – सर्व व्यसन दूरगः ।
पञ्चमं च वयो भेजे,भाग्ये जाग्रति का व्यथा ॥१०९॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, शैशवसम्भूष्णुसर्वव्यसनदूरगः=बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाली सब प्रकार की आपत्ति और खोटी आदतो से रहित, सः=वह जीवन्धर, पञ्चमम्=पञ्चम, वयः=वर्ष को, भेजे=प्राप्त हुआ । नीतिः=हि—क्योकि, भाग्ये=भाग्य के, जाग्रति सति=जागृत होने पर, का=कौन सा, व्यथा=दुख (भवति=होता है) किन्तु, कापि न=कोई भी नही ॥१०९॥

भावार्थः—भाग्यशाली मनुष्य किसी भी दुःख या दुर्व्यसन के चंगुल में नहीं फँसता, तदनुसार सौभाग्यशाली जीवन्धर ने भी क्रम से बढ़ते हुये सर्व प्रकार की आपत्ति और दुर्व्यसनों से दूर रहते हुए पंचम वर्ष में पग बढ़ाया ॥१०९॥

अथानर्थकमव्यक्त,–मतिहृद्यं च वाङ्मयम् ।
मुक्त्वातिव्यक्तगीरासीत्,स्वयं शृण्वन्ति हि स्त्रियः॥११०॥

अन्वयार्थौ—अथ=पश्चात्, सः=वह जीवन्धर, अनर्थकम्=अर्थहीन, अव्यक्तम्=अस्पष्ट, च=और,अतिहृद्यम्=अतिमिष्ट,वाङ्मयम्=शब्दसमूह को, मुक्त्वा=छोड़ कर, अतिव्यक्तगीः=सुस्पष्ट बोलने वाला, आसीत्=हो गया । नीतिः—हि=क्योकि, स्त्रियः=स्त्रिया, स्वयम्=

अनुजीवकमेवात्र, जीवलोके विपश्चितः।
इति निश्चयतः सूरिः, सुतरां प्रीतिमव्रजत् ॥३॥

अन्वयार्थौ—सूरिः=आर्यनन्दी गुरु, अत्र जीवलोके=इस ससार में, विपश्चितः=सब विद्वान्, अनुजीवकम् = जीवन्धर स्वामी से हीन, एव=ही (सन्ति=हैं) इति=ऐसे, निश्चयतः =निश्चय से, सुतराम्=अपने आप, प्रीतिम्=आनन्द को, अव्रजत्=प्राप्त हुये ॥३॥

भावार्थः—जीवन्धर की योग्यता देख कर इस भूमण्डल पर जितने विद्वान हैं, उनमें जीवन्धर से टक्कर लेने वाला कोई भी नहीं, ऐसा दृढ़ निश्चय कर आर्यनन्दी गुरु बहुत प्रसन्न हुये ॥३॥

आत्मकृत्यमकृत्यं च, सफलं प्रीतये नृणाम्।
किम्पुनः श्लाघ्यभूतं तत्,विद्यास्थापनात्परम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—नृणाम्=मनुष्यो के, अकृत्यम्=खोटा, च=भी,कृत्यम् =अपने द्वारा कृत कार्य, सफल सत्=सफल होता हुआ, प्रीतये=प्रीति के लिये,(भवति = होता है) पुनः=फिर श्लाघ्यभूतं किम् = अपने प्रशस्त कार्य के सफल होने पर तो कहना ही क्या है ? च = और, विद्यास्थापनात्=विद्यादान से, परम्=उत्तम, तत् = वह प्रशस्तकार्य, किम् = कौन, अस्ति=हो सकता है ? अर्थात्, किमपि न = कोई भी नही ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य यदि किसी खोटे कार्य को प्रारम्भ कर उसमें सफलता प्राप्त करता है, तो भी उसे अपार हर्ष होता है, फिर यदि किसी प्रशस्त कार्य में सफलता प्राप्त करले, तब तो उसकी खुशी का वर्णन ही नहीं हो सकता। और इस लोक में विद्यादान से बढ़कर कोई अन्य श्रेयस्कर कार्य भी नहीं है। अतएव जीवन्धर को विद्याप्रदान कर आर्यनन्दी महाराज का प्रसन्न होना भी उचित ही था ॥४॥

अथ प्रसन्नधीः सूरि -- रन्तेवासिनमेकदा ।
एकान्ते हि निजप्रान्त-मावसन्तमचीकथत् ॥५॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, प्रसन्नधी.=प्रसन्नचित्त, सूरि.=गुरु आर्यनन्दी, एकदा=एक समय, निजप्रान्तम्=अपने समीप, एकान्ते=निर्जन स्थान में, आवसन्तम्=बैठे हुए, अन्तेवासिनम् = विद्यार्थी जीवन्धर से, अचीकथत्=कहने लगे ॥५॥

भावार्थः--विद्या पढ़ाने के बाद एक समय जब दोनों गुरु शिष्य प्रसन्नता से किसी एकान्त में बैठे हुए थे, उस समय गुरु महाराज ने जीवन्धर से अधोलिखित वृत्तान्त कहा ॥५॥

श्रुतशालिन्महाभाग ! श्रूयतामिह कस्यचित् ।
चरितं चरितार्थेन, यदत्यर्थं दयावहम् ॥६॥

अन्वयार्थौ—श्रुतशालिन्=हे शास्त्रविशारद, महाभाग=भाग्यशील जीवन्धर ! यत्=जो, चरितम्=चरित्र, चरितार्थेन=सुनने से, अत्यर्थम्=अत्यन्त, दयावहम्=करुणाजनक (अस्ति=है, एवम्भूतम्=ऐसा) कस्यचित्=किसी प्रसिद्ध पुरुष का (तत्=वह चरित्र) श्रूयताम्=सुनो ॥६॥

भावार्थ:--आर्यनन्दी ने जीवन्धर से कहा कि हे सर्वशास्त्रनिपुण ! भाग्यशील ! जीवन्धर ! मैं इस समय किसी प्रसिद्ध पुरुष के चरित्र को सुनाता हूं, जो अतिशय करुणाजनक है । उसे तुम ध्यान देकर सुनो ॥६॥

विद्याधरास्पदे लोके, लोकपालाह्वयान्वितः ।
लोकं वै पालयन्भूपः,कोऽपि कालमजीगमत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—विद्याधरास्पदे=विद्याधरों के निवासस्थान स्वरूप, लोके=देश में, लोकम्=प्रजा को, पालयन् = पालन करता हुआ, क = कोई, लोकपालाह्वयान्वित =लोकपालनामक, भूप'=राजा, कालम्=समय को, अजीगमत्=विता रहा था ॥७॥

अपने आप ही, वृणवन्ति=वरण कर लेती हैं ॥११०॥

भावार्थ.—स्त्रियाँ सुयोग्य पति को स्वयं वर लिया करती हैं। इस नीति के अनुसार सुसंस्कृत वाणीरूप कामिनी ने भी कमनीय जीवन्धरकुमाररूप योग्यपति को स्वय वर लिया वह निरर्थक, अस्पष्ट वा तोतली बोली को छोड सुस्पष्टभाषी हो गया।

आचार्यकवपुः कश्चि,—दार्यनन्दीति कीर्तितः।
आसीदस्य गुरुः पुण्याद्, गुरुरेव हि देवता ॥१११॥

अन्वयार्थी—(तदा=उस समय) आचार्यकवपु=आचार्य पद प्राप्त, आर्यनन्दी इति कीर्तित=आर्यनन्दी नाम से प्रसिद्ध, कश्चित्=कोई विद्वान्, अस्य=इस जीवन्धर के, पुण्यात्=पुण्य से, गुरु=अध्यापक, आसीत=हुये। हि=क्योंकि, गुरु=अध्यापक, एव=ही, देवता=देव, कथ्यते=कहा जाता है ॥१११॥

भावार्थ:—अभीष्ट फलप्रद गुरु यद्यपि कठिनाइयों से प्राप्त हुआ करते हैं तथापि जीवन्धर के पुण्योदय से आचार्य पदधारक विख्यात आर्यनन्दी विद्वान गुरु इन्हें स्वयमेव प्राप्त हुए।

निष्प्रत्यूहेष्ट-सिद्ध्यर्थं, सिद्ध—पूजादिपूर्वकम्।
सिद्धमातृकया सिद्धा—मथ लेभे सरस्वतीम् ॥११२॥

अन्वयार्थी—अथ=इसके बाद, स=वह जीवन्धर, निष्प्रत्यूहेष्टसिद्ध्यर्थम्=निर्विघ्न अभीष्टसिद्धि के लिये, सिद्धपूजादिपूर्वकम्=सिद्धमहाराज की पूजा आदि करके, सिद्धमातृकया=अ, इ, उ, ऋ, क, ख इत्यादि सिद्धिमातृका या वर्णमाला नाम से, सिद्धाम्=प्रसिद्ध, सरस्वतीम्=विद्या को, लेभे=प्राप्त करता हुआ ॥११२॥

भावार्थ:—गुरु की प्राप्ति के पश्चात् विद्या की निर्विघ्न सिद्धि के लिये सिद्धपूजन, हवन और दानादि उत्सव कर जीवन्धर ने वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय) सीखना प्रारम्भ किया ॥११२॥

॥ इति प्रथमो लम्बः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयो लम्बः

अथ विद्यागृहं किञ्चि – दासाद्य सखिमण्डितः ।
पण्डिताद्विश्वविद्याया–मध्यगीष्टातिपण्डितः ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सखिमण्डितः = मित्रमण्डल सहित, जीवन्धरः = जीवन्धर, किञ्चित् = किसी, विद्यागृहम् = विद्यालय को, आसाद्य = प्राप्त कर, विश्वविद्यायाम् = समस्त विद्याओं में, पण्डितात् = विद्वान् (आर्यनन्दिनः = आर्यनंदी से) अध्यगीष्ट = पढ़ा, च = और, अतिपण्डितः = अद्वितीय विद्वान्, अपि = भी, आसीत् = होगया ॥१॥

भावार्थः—जीवन्धर ने प्रारम्भिक शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् मित्रों के साथ किसी पाठशाला में प्रविष्ट होकर सर्वविद्याविशारद आर्यनन्दी गुरु से अध्ययन कर अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त की ॥१॥

तस्य प्रश्रयसुश्रूषा – चातुर्याद् गुरुगोचरात् ।
स्मृता इवाभवन्विद्या, गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥२॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस जीवन्धर की, गुरुगोचरात् = गुरु विषयिक, प्रश्रयसुश्रूषाचातुर्यात् = विनय और सेवा सुश्रूषा की चतुराई से, विद्याः = विद्याएँ, स्मृताः इव = स्मरण की हुई के समान, अभवन् = प्राप्त होगईं । नीति. – हि = क्योंकि, गुरुस्नेहः = गुरु का प्रेम, कामसूः = इच्छाओं को पूर्ण करने वाला (भवति = होता है) ॥२॥

भावार्थः—यह नियम है कि जिस पर गुरु का हार्दिक प्रेम होता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, तदनुसार जीवन्धर की विनय और सेवासुश्रूषा से उनके गुरु आर्यनन्दी का भी उन पर अनन्य प्रेम होगया था। यही कारण है जो उन्हें समस्त विद्याएँ इतनी आसानी से प्राप्त होगईं कि जैसे पढ़ कर भूली हुई विद्याओं का स्मरण ही कर लिया हो ॥२॥

भावार्थः--विद्याधर लोक में एक लोकपाल नामक राजा न्यायपूर्वक प्रजापालन कर रहा था ॥७॥

क्षणक्षीणत्वमैश्वर्ये, क्षीवाणामिव बोधयत् ।
क्षेपीयः पश्यतां नश्य-दभ्रमैक्षिष्ट सोऽधिराट् ॥८॥

अन्वयार्थौ—एक समय, सः=उस, अधिराट्=राजा ने, क्षीवाणाम्=धनादि में उन्मत्त जनों के, ऐश्वर्ये=ऐश्वर्य के विषय में, क्षणक्षीणत्वम्=क्षण भर में नाशपने को, बोधयत् इव=सूचित करते हुए के सदृश, पश्यताम्=देखने वालों के, अग्रे=सन्मुख, क्षेपीयः=अतिशीघ्र, नश्यत्=नष्ट होने वाले, अभ्रम्=मेघ को, ऐक्षिष्ट=देखा ॥८॥

भावार्थः—एक समय लोकपाल राजा ने, धनादि से मत्त हुए पुरुषों को, यह तुम्हारा सारा ऐश्वर्य मेरे समान क्षणस्थायी है, इसमें उन्मत्त होना बड़ी भूल है—इत्यादि, ऐश्वर्य की क्षणभङ्गुरता को ही मानो दर्शाने वाले क्षणभङ्गुर मेघ को देखा ॥८॥

तद्वीक्षणेन वैराग्यं, विजजृम्भे महीभुजः ।
पम्फुलीति हि निर्वेगो, भव्यानां कालपाकतः ॥९॥

अन्वयार्थौ—तद्वीक्षणेन=उस मेघ के देखने से, महीभुजः=राजा के, वैराग्यम्=वैराग्य, विजजृम्भे=उत्पन्न होगया । नीतिः—हि=क्योंकि, कालपाकतः=काललब्धि के आजाने से, भव्यानाम्=मोक्ष के इच्छुक जीवों के, निर्वेगः=वैराग्य, पम्फुलीति=विशेषरूप से प्रगट हो जाता है ॥९॥

भावार्थः—जब भव्यजीवों के आत्मकल्याण का समय (काललब्धि) आ जाता है, तब उनके सांसारिक विषयों से उदासीनता होने लगती है, तदनुसार लोकपाल राजा का सुधार काल भी निकट था; जिससे उसको भी क्षणोत्पन्नविनाशी मेघ को देख वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥९॥

ततोऽयं पुत्रनिक्षिप्त – राज्यभारः क्षितीश्वरः।
जैनीं दीक्षामुपादत्त, यस्यां कायेऽपि हेयता ॥१०॥

अन्वयार्थौ—ततः=इसके बाद, अयम्=यह, क्षितीश्वर= [illegible], पुत्रनिक्षिप्तराज्यभारः सन्=पुत्र पर छोड़ दिया है राज्यभार जिसने ऐसा होता हुआ, यस्याम्=जिस दिगम्बर दीक्षा में, काये=शरीर के विषय में, अपि=भी, हेयता=हेयपना (भवति=होता है एतभ्भूताम्=ऐसी) जैनीम्=जिनेन्द्रोक्त, दीक्षाम्=दिगम्बर मुनिदीक्षा को, उपादत्त=ग्रहण करता हुआ ॥१०॥

भावार्थः—उस लोकपाल राजा ने मेघावलोकन से, विरक्त होकर राज्य तो पुत्र के सुपुर्द कर दिया और जिसमे निज शरीर को भी त्याज्य समझा जाता है ऐसी दिगम्बर जैन मुनिदीक्षा धारण करली ॥१०॥

तपांसि तप्यमानस्य, तस्य चासीदहो पुनः।
भस्मकाख्यो महारोगो, भुक्तं यो भस्मयेत् क्षणात्॥११॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, अहो=आश्चर्य की बात है (यत्=कि) तपांसि=तपों को, तप्यमानस्य=तपने वाले, तस्य=उस लोकपाल मुनि के, भस्मकाख्यः=भस्मकनामक, महारोगः=राजरोग, आसीत्=होगया, यः=जो, भुक्तम्=खाये हुए को [illegible]=क्षण भर में भस्मयेत्=भस्म कर देता है ॥११॥

भावार्थः—जब लोकपाल राजा दिगम्बर मुनि होकर तपश्चर्या करने लगा, तब उसको, अन्न को खाते ही क्षणमात्र में भस्म कर देने वाला भस्मकनामक महारोग होगया ॥११॥

न हि वारयितुं शक्यं, दुष्कर्माल्पतपस्यया।
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं, दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योकि, अल्पतपस्यया = थोडी तपश्चर्या से, दुष्कर्म=अतिशय खोटा कर्म, वारयितुम्=नष्ट करने के लिये, न शक्यम्= समर्थ नही होता। यथा = जैसे, विस्फुलिङ्गेन = अग्नि की चिनगारी से, आर्द्रम्=गीला, ईन्धनम् = इंधन, दग्धुम् = जलाने को, शक्यम् किम् = समर्थ हो सकता है क्या ? अपि तु न=किन्तु नही ॥१२॥

भावार्थः—जैसे अग्नि की चिनगारी द्वारा गीला इंधन (लकड़ी कंडा आदि) नहीं जलाया जा सकता, किन्तु उसके जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार थोड़े तप से प्रबल खोटा कर्म भी नष्ट नहीं किया जासकता, किन्तु उसके नष्ट करने के लिये घोर तप की आवश्यकता होती है। तदनुसार लोकपाल मुनि की थोड़ी तापश्चर्या के द्वारा पूर्वबद्ध महान अशुभ कर्मोदय नहीं रोका जासका, जिससे तप तपते समय भी उसे भस्मक नामक राजरोग हुआ ॥१२॥

अशक्त्यैव तपः सोऽयं, राजा राज्यमिवात्यजत् ।
श्रेयांसि बहुविघ्नानी–त्येतन्न ह्यधुनाभवत् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—सः=प्रसिद्ध, अयम् = यह मुनिरूप, राजा = लोकपाल राजा, अशक्त्या=शक्ति के न होने से, एव=ही, राज्यम् इव= राज्य के समान, तप =तप को, अपि = भी, अत्यजत् = छोडता हुआ। नीतिः—हि=क्योकि, श्रेयासि=प्रशस्त कार्य, बहुविघ्नानि = बहुविघ्न-युक्त (भवन्ति=होते हैं) इति=इस प्रकार, एतत्=यह नियम, अधुना-इस समय नया, न=नही, अभवत्=हुआ है। अपि तु प्राचीन. एव ॥१३॥

भावार्थः—भूतपूर्व लोकपाल राजा (मुनि) ने राज्यावस्था में जिस प्रकार राज्य का परित्याग कर दिया था, उसी प्रकार भस्मक रोग जनित बाधा के न सह सकने से तप भी छोड़ दिया। क्योंकि "अच्छे कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं" यह नियम अनादि से ही चला आया है। तदनुसार प्रकृत मुनिराज के प्रशस्त कार्यरूप तपश्चर्या में भी भस्मक रोगरूप विघ्न आ उपस्थित हुआ।

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्, स्वैराचारी हि पातकी।
गुल्मेनान्तर्हितो गृह्णन्, विष्किरानिव नाफलः ॥१४॥
अवर्तिष्ट यथेष्टं सः, पाखण्डतपसा पुनः।
चित्रं जैनी तपस्या हि, स्वैराचारविरोधिनी ॥१५॥

अन्वयार्थौ—पुन.=फिर, स्वैराचारी=स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला, अतएव, पातकी=पापी, सः=भूतपूर्व लोकपाल राजा, तपसा=तप से, आच्छादितः तिष्ठन्=युक्त होता हुआ, गुल्मेन=झाडी से, अन्तर्हित=छिपे हुए, और, विष्किरान्=पक्षियो को, गृह्णन्=पकड़ने वाले, नाफल. इव=चिडीमार के समान, पाखण्डतपसा=मिथ्यातप के द्वारा, यथेष्टम्=इच्छानुसार, अवर्तिष्ट=प्रवृत्ति करने लगा। नीतिः—हि=क्योंकि, जैनी=जैनधर्मोक्त, तपस्या=तपश्चर्या, स्वैराचारविरोधिनी=इच्छानुसार प्रवृत्ति करने की विरोधक (अस्ति=होती है) इति चित्रम्=यह आश्चर्य की बात हैं ॥१४॥१५॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई चिड़ीमार झाड़ियों में छिपे रहने के कारण पक्षियों को दिखलाई नहीं देता, किन्तु वहाँ छिपा हुआ भी वह जीव हिंसाविषयिक अनेक पापाचार रचता है। इसी प्रकार यह मुनि भी दर्शकों को ढोंगी दीखता हुआ भी, छिपे छिपे अनेक स्वेच्छाचार और पापाचार करता हुआ पाखण्ड-युक्त प्रवृत्ति करने लगा। और जैन धर्मोक्त दिगम्बर मुनिधर्म में स्वच्छन्दता का ढकोसला जरा भी सह्य नहीं होता, अतएव वह मुनिपद भ्रष्ट हो उन्मार्गगामी कहलाने लगा ॥ १४,१५ ॥

अथ भिक्षुः बुभुक्षुः सन्, गन्धोत्कटगृहं गतः।
उपतापरुजोऽप्येष, धार्मिकाणां भिषक्तमः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—अथ=पश्चात्, एकदा=एक समय, उपतापरुजः=अति दुःखजनक रोगसहित सन्=होता हुआ, अपि भी, धार्मिकाणाम्=

धर्मात्माओं का, भिषक्तम.=उत्तम चिकित्सक, एषः = यह, भिक्षुः = मुनि, बुभुक्षुः सन् = भोजन का इच्छुक होता हुआ, गन्धोत्कटगृहम् = गन्धोत्कट सेठ के घर, गतः = गया ॥१६॥

भावार्थ.—भस्मक रोग से पीड़ित, स्वयं भ्रष्ट होकर भी सन्मार्ग प्रदर्शक उपदेश द्वारा भव्य जीवों के संसाररूप रोग को जड़ से उखाड़ने वाले उत्तम वैद्यस्वरूप वह साधु एकदिन भूखसे व्याकुल होकर आहारार्थ गन्धोत्कट सेठ के मकान पर गया ॥१६॥

धर्मिकाणां शरण्यं हि, धार्मिका एव नापरे ।
अहे र्नकुलवत्तेषां, प्रकृत्यान्ये हि विद्विषः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, धार्मिकाणाम् = धर्मात्माओं के, शरण्यम् = रक्षक, धार्मिकाः=धर्मात्मा, एव=ही, भवन्ति = होते हैं। अपरे = दूसरे दुर्जन न=नहीं। हि=निश्चय से, अन्ये=दूसरे दुर्जन, अहेः = सर्प के, नकुलवत् = नेवले के सदृश, प्रकृत्या = स्वभाव से, तेषाम्=उन सज्जनों के, विद्विषः = शत्रु (भवन्ति=होते हैं) ॥१७॥

भावार्थः- धर्मात्माओं के सहायक धर्मात्मा ही होते हैं, दुर्जन नहीं। दुर्जन तो, जिस प्रकार नेवला स्वभाव से ही सर्प का वैरी है, उसी प्रकार धर्मात्माओं का स्वाभाविक वैरी होता है। अतएव धर्मात्मा साधु ने भी धर्मात्मा गन्धोत्कट के घर जाना ही उचित समझा ॥ १७ ॥

तत्र मध्येगृहं भिक्षु - रद्राक्षीत्पुत्रपुङ्गवम् ।
अङ्ग त्वां त्वं च तं वीक्ष्य, तद्बुभुक्षामलक्षयः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—भिक्षुः = मुनि, तत्र=गन्धोत्कट के मकान पर, मध्येगृहम् = मकान के भीतर, पुत्रपुङ्गवम्, = सर्व पुत्रों में श्रेष्ठ, त्वाम्= तुमको, अद्राक्षीत् = देखता हुआ। च = और, अङ्ग = हे वत्स, त्वम् = तुम, तम्=उस मुनि को, वीक्ष्य=देख कर, तद्बुभुक्षाम्=उनकी भूख को, अलक्षयः = परखते हुये ॥१८॥

भावार्थ.—भिक्षु ने गन्धोत्कट सेठ के मकान पर आकर अनेक सहचरों के साथ भीतर तुम्हें देखा और तुमने भी उसे देखते ही उसकी भूख को ताड़ लिया ॥१८॥

भोक्तुमारभमाणस्त्वं, पौरोगव मचीकथः ।
भोज्यतामयमित्येष, पुनरेनमबूभुजत् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—भोक्तुम्=भोजन करने को, आरभमाण.=प्रवृत्त, त्वम्=तुम, अयम्=यह भिक्षु, भोज्यताम् = जिमाया जाय, इति = इस प्रकार, पौरोगवम् = रसोइये को, अचीकथः = आज्ञा देते हुये, और, पुनः—पीछे, एषः = इस रसोइया ने, एनम्=इस भिक्षु को, अबूभुजत्= भोजन कराया ॥१६॥

भावार्थः—भोजन करने को प्रवृत्त आपने साधु को भूखा जान कर अपने रसोइये को आज्ञा दी कि इस साधु को भोजन कराओ, तब उसने साधु को सहर्ष भोजन कराना प्रारम्भ किया।

अन्नैस्तद्गृहसम्पन्नै - र्नाभूत्तत्कुक्षिपूरणम् ।
अहो पापस्य घोरत्व-माशाब्धिः केन पूर्यते ॥२०॥

अन्वयार्थौ—तद्गृहसम्पन्नैः= रसोई घर में तैयार हुये, अन्नैः = भोजनो से, तत्कुक्षिपूरणम् = साधु के उदर की पूर्ति, न अभूत्= नही हुई। नीति —पापस्य=पाप की, घोरत्वम्=कठोरता, अहो=आश्चर्य-जनक (भवति=होती है। च = और) आशाब्धि = आशारूपी समुद्र, केन=किसके द्वारा, पूर्यते = पूर्ण किया जा सकता है ? किन्तु केनापि न=किसी के द्वारा नही ॥२०॥

भावार्थ—आशारूपी समुद्र किसी के द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि भस्मक रोग से पीड़ित साधु ने तेरे रसोई घर मे बना हुआ सारा भोजन सफाचट्ट कर दिया, किन्तु फिर भी उसकी भूख शान्त नहीं हुई। क्योंकि पाप का फल दुर्निवार होता है ॥२०॥

अभुञ्जानस्त्वमाश्चर्या-दासीनोऽस्मै वितीर्णवान् ।
कारुण्यादस्य पुण्याद्वा, करस्थं कवलं मुदा ॥२१॥

अन्वयार्थौ—अभुञ्जान=भोजन नही करते हुए, च=और, आश्चर्यात्=आश्चर्य से, आसीन=बैठे हुये, त्वम्=तुम, करस्थम्=अपने हाथ पर रखे हुये, कवलम्=ग्रास को, कारुण्यात्=दया से, वा=अथवा, अस्य=इस साधु के, पुण्यात्=पुण्य से, अस्मै=इसके लिये मुदा=हर्ष से, वितीर्णवान्=देते हुये ॥२१॥

भावार्थ—भोजनालय के समस्त भोज्य पदार्थों के खा चुकने पर भी जब भिक्षु की भूख शान्त न हो सकी, तब स्वयं भूखे और आश्चार्यान्वित तमने करुणा से अथवा इसके पुण्य से प्रेरित हो अपने हाथमें स्थित ग्रास सहर्ष उस सन्यासी को दिया ।

वर्णिनो जठरं पूर्णं, तदास्वादनतः क्षणात् ।
आशाब्धिरिव नैराश्या-दहो पुण्यस्य वैभवम् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—तदास्वादनतः=उस ग्रास के चखने मात्र से, नैराश्यात्=निराशपने से, आशाब्धिः इव=आशारूपी समुद्र के समान, वर्णिन=सन्यासी का, जठरम्=उदर, पूर्णम्=पूर्ण, बभूव=होगया । भीति—पुण्यस्य=पुण्य का, वैभवम्=वैभव अहो=आश्चर्यजनक (भवति=होता है) ॥२२॥

भावार्थः—पुण्य की लीला अपार है । अतएव जब सन्यासी के पुण्य का उदय हुआ, तो उस महारोग के शान्त होने में क्षणमात्र भी देर नहीं हुई और जैसे एकवार पूर्ण विषयाभिलाषा का परित्याग कर देने से कृत्यकृत्यता की प्राप्ति होने पर महान संतोष (अनन्त सुख या विषयाशा का अभाव) हो जाता है, उसी प्रकार गृहनिष्पन्न समस्त अन्न के खा लेने पर भी पूर्ण नहीं हुई सन्यासी की भोजनेच्छा तेरे द्वारा दिये गये एक ग्रास के चखने मात्र से पूर्ण हो गई ॥२२॥

परिव्राडपि सम्प्राप्य, सौहित्यं तत्क्षणे चिरात् ।
महोपकारिणोऽस्याहं, किं करोमीत्यचिन्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—परिव्राट्=सन्यासी, अपि=भी, चिरात्=चिरकाल से, तत्क्षणे=उसी समय, सौहित्यम्=रोगनिवृत्ति को, सम्प्राप्य=प्राप्त करके, महोपकारिणः=महान् उपकारी, अस्य=इस जीवन्धर का, अहम्=मैं, किम्=क्या प्रतीकार, करोमि=करूँ, इति=इस प्रकार, अचिन्तयत्=विचार करने लगा ॥२३॥

भावार्थ:—अनेक उपाय करने पर भी नहीं होने वाली रोगनिवृत्ति को तेरे द्वारा प्रदत्त ग्रासमात्र के आस्वादन से प्राप्त कर उस साधु ने 'इस महारोगनाशक उपकारी का मैं क्या प्रतिकार करूं' इस प्रकार विचार किया ॥२३॥

अपश्चिमफलां विद्यां, निश्चित्यात्र प्रतिक्रियाम् ।
आयुष्मन्तमसौ पश्चाद्-विपश्चितमकल्पयत् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=पीछे, असौ=यह सन्यासी, अत्र=प्रकृत उपकार के विषय में, अपश्चिमफलाम्=उत्तम फलदायक, विद्याम्=विद्यादान को, प्रतिक्रियाम्=प्रत्युपकार स्वरूप, निश्चित्य=निश्चित करके, आयुष्मन्तम्=दीर्घायु आपको विपश्चितम=विद्वान्, अकल्पयत्=बनाता हुआ ॥२४॥

भावार्थ.—पश्चात् उस सन्यासी ने विचार कर तुम्हारे प्रत्युपकारार्थ उत्तम फलदायक विद्या पढ़ाना निश्चित किया और तदनुसार पढ़ा लिखा कर तुम्हें उद्‌भट विद्वान भी बनाया ॥२४॥

विद्या हि विद्यमानेयं, वितीर्णापि प्रकृष्यते ।
न कृष्यते च चौराद्यैः, पुष्यत्येव मनीषितम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, विद्यमाना=मौजूद । इयम्=यह, विद्या=विद्या, वितीर्णा सती=अन्य को दी गई, अपि=भी, प्रकृष्यते

एव=बढ़ती ही जाती है, च=और, चौराद्यै=चोर और बन्धु आदि के द्वारा, न कृष्यते=नही छुडाई जा सकती है। तथा, मनीषितम्=इच्छित कार्य को, पुष्यति एव=पूर्ण ही करती है ॥२५॥

भावार्थः—विद्याधन का प्रभाव ही अचिन्त्य है। व्यय करने पर इसकी वृद्धि ही होती है, चोर तथा बन्धु आदि द्वारा यह छीनी भी नहीं जा सकती है और इच्छापूर्ति करने में भी यह रामबाण के समान है ॥२५॥

वैदुष्येण हि वंश्यत्वं, वैभवं सदुपास्यता ।
सदस्यतालमुक्तेन, विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥२६॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, वैदुष्येण=विद्वत्ता से, वंश्यत्वम्=कुलीनता, वैभवम्=सम्पत्ति, सदुपास्यता=महाजनो द्वारा मान्यता, च=और, सदस्यता=सभ्यता, प्राप्नोति=प्राप्त होती है, च=और, उक्तेन=कहने से, अलम्=बस, किन्तु, विद्वान्=पण्डित, सर्वत्र=सब जगह, पूज्यते=पूजा जाता है ॥२६॥

भावार्थः—विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-सम्पत्ति, मान्यता और सभ्यता आदि ही नहीं प्राप्त होते, किन्तु जगह-जगह आदर भी प्राप्त होता है ॥२६॥

वैपश्चित्यं हि जीवाना – माजीवितमनिन्दितम् ।
अपवर्गेऽपि मार्गोऽय – मदः क्षीरमिवौषधम् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, वैपश्चित्यम्=विद्वत्ता, जीवानाम्=प्राणियों के, आजीवितम्=जीवनपर्यंत, अनिन्दितम्=प्रशंसनीय, भवति=होती है, च=और, अयम्=यह पाण्डित्य, औषधम्=दवाई स्वरूप, क्षीरम् इव=दुग्ध के समान, अपवर्गे=मोक्ष के विषय में, अपि=भी, मार्ग.=मार्गस्वरूप (अस्ति=है) ॥२७॥

भावार्थः—विद्वत्ता मनुष्य के जीवनपर्यन्त प्रतिष्ठाजनक होती है और जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ साथ औष-

धिस्वरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजनसाधक होती हुई मोक्ष का कारण भी होती है। इसीलिये उस सन्यासी ने विद्वान् बनाना ही सर्वोत्तम समझ आपको विद्वान् बनाया ॥२७॥

इत्युदन्तं गुरोः श्रुत्वा, शिष्यो नोत्तरमूचिवान् ।
स्ववाचा किन्तु वक्त्रेण, शैष्योपाध्यायिका हि सा ॥२८॥

अन्वयार्थौ—शिष्यः = विद्यार्थी जीवन्धर, गुरोः = गुरु आर्यनन्दी के, इति = पूर्वोक्त, उदन्तम् = वृत्तान्त को, श्रुत्वा = सुन कर, स्ववाचा = अपने वचन से, उत्तरम् = उत्तर को, न ऊचिवान् = नहीं देता हुआ, किन्तु, वक्त्रेण = मुख की चेष्टा से, एव = ही, उत्तरम् = उत्तर को, ऊचिवान् = देता हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, सा = वह, एव = ही, शैष्योपाध्यायिका = वास्तविक शिष्य और गुरु पना (अस्ति = है) ॥२८॥

भावार्थः—विनयी शिष्य का अपने गुरु के समीप सभ्यता से बर्ताव करना ही 'आदरणीय गुरु-शिष्यपना' है। जीवन्धर ने भी ६ से २८ वें श्लोकपर्यन्त गुरुवर के पूर्व वृत्तान्त को सुन अपना एक ओंठ भी नहीं हिलाया, किन्तु मुख के विकास से अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रगट कर अपने सुशिष्यत्व और गुरु के उत्तम गुरुत्व का परिचय दे ही दिया ॥२८॥

विज्ञातगुरुशुद्धिः सः, विशेषात्पिप्रिये तराम् ।
माणिक्यस्य हि लब्धस्य, शुद्धे मोदो विशेषतः ॥२९॥

अन्वयार्थौ—विज्ञातगुरुशुद्धिः = जान ली है गुरु की उत्तमता जिसने ऐसा, सः = वह जीवंधर, विशेषात् = विशेष रूप से, पिप्रियेतराम् = अत्यन्त प्रसन्न हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, लब्धस्य = प्राप्त हुये, माणिक्यस्य = मोती के, शुद्धेः = उत्तमता के निर्णय से, विशेषतः = विशेषरीति से, मोदः = हर्ष, भवति = होता है ॥२९॥

भावार्थ—मनुष्य को किसी मणि के मिल जाने मात्र से ही खुशी हुआ करती है और जब उसकी पूर्ण अच्छाई का परि-

ज्ञान हो जाता है, तब तो उसकी खुशी का पार ही नहीं रहता। उसी प्रकार गुरु का होना ही आनन्दप्रद होता है किन्तु उसकी उत्तमता के निर्णीत हो जाने पर तो आनन्द का कहना ही क्या है? तदनुसार अपने गुरु की पवित्रता का श्रवण कर जीवन्धर के हर्ष का भी ठिकाना नहीं रहा ॥२९॥

रत्नत्रयविशुद्धः सन्, पात्रस्नेही परार्थकृत् ।
परिपालितधर्मो हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—यः = जो, रत्नत्रयविशुद्ध = रत्नत्रय से परिपूर्ण, सन् = सज्जन, पात्रस्नेही = योग्यशिष्य पर प्रेम करने वाला, परार्थकृत् = परोपकारी, परिपालितधर्मः = धर्मपालक, च = और, भवाब्धे = ससाररूपी समुद्र से, तारकः = पार लगाने वाला (भवति = होता है) हि = निश्चय से सः = वह, एव = ही, गुरु = उत्तम अध्यापक (भवेत् = कहलाता है)।

भावार्थ.—जो रत्नत्रय का धारक, सज्जन, पात्रप्रेमी, परोपकारी, धर्मरक्षक और जगतारक होता है, वही यथार्थ गुरु होता है, किन्तु जिसमे उक्त गुण नहीं होते, वह यथार्थ गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं होता ॥३०॥

गुरुभक्तो भवाद्भीतो, विनीतो धार्मिकः सुधीः ।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः, शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥३१॥

अन्वयार्थौ—यः = जो, गुरुभक्त = गुरु का भक्त, भवात् = ससार से, भीत = भयभीत, विनीत = विनयी, धार्मिक = धर्मात्मा, सुधी = कुशाग्रबुद्धि, शान्तस्वान्त = शान्तपरिणामी, अतन्द्रालु = आलस्यरहित, च = और, शिष्टः = सभ्य (भवति = होता) हि = निश्चय से, अयम् = यह, शिष्यः = उत्तम शिष्य, इष्यते = कहलाता है ॥३१॥

भावार्थ —जो गुरुभक्त, संसार से भीत, विनयी, धर्मात्मा कुशाग्रबुद्धि, शान्तिपरिणामी, आलस्यहीन और सभ्य होता है, वही शिष्य वास्तविक शिष्य कहलाता है ॥३१॥

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत् ।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—सती=उत्तम, गुरुभक्ति=गुरुभक्ति, मुक्त्यै=मुक्ति-प्राप्ति के अर्थ (भवति=होती है) वा=तो, क्षुद्रम्=तुच्छ, किम्=किम वस्तु को, न साधयेत्=सिद्ध नही करेगी, किन्तु, सर्वं साधयेत्=सर्व वस्तु और कार्यों को सिद्ध करा सकती है (यत =क्योंकि) त्रिलोकीमूल्यरत्नेन =तीन लोक ही हैं कीमत जिसके ऐसे रत्न से, तुषोत्कर =भूसे का ढेर, दुर्लभ.=अप्राप्य, भवति किम्=हो सकता है क्या ? अपि तु न ॥३२॥

भावार्थः—जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीद सकना नाकुछ बात है, उसी प्रकार निष्कपट भाव से विहित गुरुभक्ति से भी जब परम्परया मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है, तो अन्य लौकिक कार्यों की पूर्ति होना तो नाकुछ बात है ॥३२॥

गुरुद्रुहां गुणः को वा, कृतघ्नानां न नश्यति ।
विद्यापि विद्युदाभा स्या–दमूलस्य कुतः स्थितिः ॥३३॥

अन्वयार्थौ—गुरुद्रुहाम्=गुरु के साथ द्रोह करने वाले, कृतघ्नानाम्=उपकार के न मानने वालो का, क =कौन कौन, गुण.=गुण, न नश्यति=नष्ट नही हो जाता है । किन्तु, सर्वे गुणा नश्यन्ति=सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । तेषाम्=उनकी, विद्या=विद्या, अपि=भी, विद्युदाभा=बिजली के समान क्षणस्थायी, स्यात् = हो जाती है (यत.=क्योंकि) अमूलस्य=बिना जड के, स्थिति =वस्तु की स्थिरता, कुत =कहाँ से (सम्भवति=हो सकती है) ॥३३॥

भावार्थः—गुरुओं के उपकार को नहीं मान उनसे द्रोह करने वाले मनुष्यों के सब गुणों पर पानी फिर जाता है और जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष आदि की सत्ता नहीं रह सकती है, उसी प्रकार उपकारस्मृति और विनय या गुरुभक्ति रूप जड़

बिना विद्यारूपी वृक्ष भी बिजली के समान क्षणमात्र रह कर शुष्क होजाता है ॥ ३३॥

गुरुद्रुहो न हि क्वापि, विश्वास्या विश्वघातिनः ।
अबिभ्यतां गुरुद्रोहा–दन्यद्रोहात्कुतो भयम् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—गुरुद्रुहः=गुरुद्रोही, अतएव, विश्वघातिन.=सब जगत् या सर्व मनुष्यो के साथ द्रोह कर सकने वाले जन, क्व=कही पर, अपि = भी, न विश्वास्याः=विश्वास करने योग्य नही होते हैं । हि= क्योंकि, गुरुद्रोहात्=गुरुद्रोह से, अविभ्यताम्=नही डरने वाले पुरुषो के, अन्यद्रोहात्=दूसरों के साथ द्रोह करने से, भयम्=भय, कुतः = कहा से (सम्भवति=सम्भव हो सकता है) ॥३४॥

भावार्थ.—जो मनुष्य विद्यादान द्वारा ऐहिक और परिलौकिक जीवन को सफल करने वाले गुरु के साथ भी अनुचित व्यवहार करते नहीं लजाता है, वह अन्य जनों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करने से तो लज्जित होगा ही क्यों ? अतएव गुरुद्रोही किसी के भी विश्वास करने योग्य नहीं होता ॥३४॥

अथ कृत्यविदाचार्यः, कृतकृत्यं यथाविधि ।
छात्रं प्रबोधयामास, सद्धर्मं गृहमेधिनाम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, कृत्यवित्=कर्तव्य के जानकार, आचार्यः=गुरु आर्यनन्दी ने, कृतकृत्यम् = पालन किया है शेष कर्त्तव्य जिसने ऐसे, छात्रम्=विद्यार्थी जीवन्धर को, गृहमेधिनाम्=गृहस्थो के, सद्धर्मम् = प्रशस्त धर्म को, यथाविधि=आर्षमार्ग से, प्रबोधयामास= समझाया ॥३५॥

भावार्थः—अपनी जीवन कहानी और विद्यार्थी कर्त्तव्य के उपदेश के पश्चात् कर्त्तव्य-कुशल आचार्य आर्यनन्दी ने शेष सर्व विद्या-कुशल जीवन्धर को 'गृहस्थधर्म' (आचारशास्त्र आदि) का पाठ पढ़ाया। ॥३५॥

पुनश्च राज – पुत्रत्व – मपि बोधयितुं गुरुः।
अनुगृह्याभ्यधात्तस्य, तदुदन्तमिदन्तया ॥३६॥

अन्वयार्थौ—च=और, पुन = पीछे, गुरु = आर्यनन्दी, तस्य= जीवन्धर के, राजपुत्रत्वम्=राजपुत्र पने को, अपि=भी, बोधयितुम्=ज्ञात कराने के लिये, तदुदन्तम् = राजपुत्रत्व के सूचक सर्व वृत्तान्त को, अनुगृह्य=कृपा करके, इदन्तया=यथावत् , अभ्यधात्=कहते हुये ॥३६॥

भावार्थ – सागारधर्म की शिक्षा देने के बाद गुरु आर्यनन्दी ने बिना किसी प्रेरणा के जीवन्धर के राजपुत्रत्वसूचक समाचार को क्रमशः आद्योपान्त कह सुनाया ॥३६॥

काष्ठाङ्गारमसौ ज्ञात्वा, राजघ्नं गुरुवाक्यतः।
सत्यन्धरात्मजः क्रोधात्, सन्नाहं तद्वधे व्यधात् ॥३७॥

अन्वयार्थौ—असौ=यह, सत्यन्धरात्मजः=सत्यन्धर राजा का पुत्र जीवन्धर, गुरुवाक्यतः=गुरु के वचन से, काष्ठाङ्गारम्=काष्ठाङ्गार को, राजघ्नम्=राजा का मारने वाला, ज्ञात्वा=जान कर, क्रोधात्=क्रोध से, तद्वधे=उस काष्ठाङ्गार के मारने के विषय मे, सन्नाहम्=तैयारी को, व्यधात् = करता हुआ ॥३७॥

भावार्थः—गुरुदेव के वचन से काष्ठाङ्गार को अपने पिता सत्यन्धर का प्राणघातक जान कर जीवन्धर क्रोधित होकर काष्ठाङ्गार को मारने की तैयारी करने लगा ॥३७॥

मुहु र्निवार्यमाणोऽपि, सूरिणा न शशाम सः।
हन्तात्मानमपि घ्नन्तः, क्रुद्धाः किं किं न कुर्वते ॥३८॥

अन्वयार्थौ—हन्त=यह खेद की बात है, कि, सूरिणा = गुरु के द्वारा, मुहुः=बार बार, निवार्यमाणः=रोका गया, अपि=भी, सः = वह जीवन्धर, न शशाम=शान्त नही हुआ (यतः=क्योंकि) आत्मानम्= अपने आप को, अपि भी, घ्नन्तः = नष्ट करने वाले, क्रुद्धाः = क्रोधी

जन, किं किम्=क्या क्या दुष्कर्म, न कुर्वते=नही कर डालते हैं ॥३८॥

भावार्थ—काष्ठाङ्गार को मारने में उद्यत जीवन्धरकुमार ने गुरु द्वारा अनेक बार रोके जाने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। बड़े खेद की बात है कि क्रोधी मनुष्य जब आत्मघात तक करने तकको तैयार रहते हैं तब और दुष्कर्म से डरेंगे ही क्या?

वत्सरं क्षम्यतामेकं, वत्सेयं गुरु-दक्षिणा।
गुरुणेति निषिद्धोऽभूत्, कोऽनन्धो लङ्घयेद्‌ गुरुम् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धर, वत्स=हे तात, एकम् = एक, वत्सरम्= वर्ष तक, क्षम्यताम्=क्षमा करो, इयम्=यह, गुरुदक्षिणा = पढ़ने के बाद दी जाने वाली गुरुदक्षिणा (भविष्यति=होगी) इति=इस प्रकार विवशता से, निषिद्धः अभूत्=युद्धसे रोका गया। नीति—हि=क्योंकि, कः=कौन, अनन्धः=ज्ञानवान् (अनेकसगयोच्छेदीत्याद्यनुसारेण) गुरुम् = गुरु को, लङ्घयेत्=अपमानित करेगा, किन्तु, कोऽपि न=कोई भी नहीं॥ ३९॥

भावार्थः—जब जीवन्धर ने क्रोधवश गुरु का कहना नहीं माना, तब 'हे वत्स! एक वर्ष तक युद्ध नहीं करो' यही गुरुदक्षिणा है ऐसा कह विवश कर गुरु ने उसे युद्ध से रोक दिया और वह भी गुरुदेव की आज्ञा को मान गया। क्योंकि समझदार लोग गुरु की अवहेलना कभी नहीं करते ॥३९॥

पश्यन्कोपक्षणे तस्य, पारवश्यमसौ गुरुः।
अशिक्षयत्पुनश्चैनम् – अपथघ्नी हि वाग्गुरोः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—असौ = वह गुरुः=आर्यनंदी गुरु, कोपक्षणे=क्रोध के समय में, तस्य=उस जीवन्धर की, पारवश्यम्=पराधीनता को, पश्यन्=देखता हुआ, एनम्=इस जीवन्धर को, पुनः=फिर, अशिक्षयत्= शिक्षा देता हुआ। हि=क्योंकि, गुरोः=गुरु की, वाक्=वाणी अपथघ्नी= खोटे मार्ग का नाश करने वाली (भवति=होती है) ॥४०॥

भावार्थः—आर्यनन्दी गुरु ने, काष्ठाङ्गार पर क्रोध करते समय जीवन्धर को क्रोध के विवश और कर्तव्यविमूढ़ देख कर निम्नप्रकार शिक्षा और भी दी ॥ ४० ॥

अवशः किमहो मोहा – दकुपः पुत्रपुङ्गव ! ।
सति हेतौ विकारस्य, तदभावो हि धीरता ॥४१॥

अन्वयार्थौ—पुत्रपुङ्गव ! = हे पुत्रोत्तम ! त्वम् = तुम, मोहात् = मोह से, अवश सन् = विवश होते हुए, किम् = क्यो, अकुप = क्रोधित होते थे ? नीति.—हि क्योकि, विकारस्य = क्रोधादिक विकार के, हेतौ सति = कारण के उपस्थित होने पर, अपि = भी, तद्भावः = विकार का न होना, धीरता = धीरपन, कथ्यते = कहलाता है ॥४१॥

भावार्थ.—आर्यनन्दी महाराज जीवन्धर को समझाते हैं कि हे पुत्र ! राग, द्वेष और क्रोधादिक वैभाविक भावों के कारणों के उपस्थित होने पर भो रागी, द्वेषी और क्रोधी आदि नहीं होना ही मनुष्य की धीरता है, फिर तुम इस प्रकार मोहित हो क्रोध के वशीभूत होकर विवेक को जलाञ्जलि क्यों देते हो ? ॥४१॥

अपकुर्वति कोपश्चेत्, किन्न कोपाय कुप्यसि ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने ॥४२॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, अपकुर्वति = अपकार करने वाले मनुष्य पर, ते = तुम्हारा, कोप. = क्रोध (अस्ति = है, तर्हि = तो) त्रिवर्गस्य = धर्म, अर्थ और काम के, च = और, अपवर्गस्य = मोक्ष के, नाशिने = नाशक, कोपाय = क्रोध के लिये, किम् = क्यो, न कुप्यसि = क्रोधित नही होते हो ॥४२॥

भावार्थः—और यदि अपकार करने वाले पर ही तुम क्रोध करते हो, तो जिस प्रकार तुम्हारा पितृवध और राज्यहरण रूप अपकारी काष्ठाङ्गार है, उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का मटियामेट करने रूप तेरा अपकारी तेरा क्रोध भी तो है, इसलिये अपकारी काष्ठाङ्गार से भी महान अपकारी निजी क्रोध पर ही क्रोध कर पहले क्रोध का ही संहार क्यों नहीं कर डालता ? ॥ ४२ ॥

दहेत्स्वमेव रोषाग्नि, र्नापरं विषयं ततः।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे, वह्निमन्यदिधिक्षया ॥४३॥

अन्वयार्थौ – रोषाग्नि.=क्रोधरूपी अग्नि, स्वम्=अपने आपको, एव = ही, दहेत् = जलाती है, अपरम् = दूसरे, विषयम् = पदार्थ को, न=नही । तत =इसलिये, क्रुध्यन् = क्रोध करता हुआ पुरुष, अन्यदिधिक्षया = दूसरे को जलाने की इच्छा से, स्वाङ्गे = अपने शरीर पर, एव=ही, वह्निम्=अग्नि को, निक्षिपति=फेंकता है ॥४३॥

भावार्थ—क्रोध करने से दूसरे की हानि हो या न हो; पर क्रोधकर्त्ता के ज्ञान दर्शनादि रूप निजी स्वभाव का घात तो होता ही है, अतएव क्रोधी का क्रोध करना दूसरे को जलाने की इच्छा से (फेकने के पहिले अपने को ही जला देने वाले) अङ्गार को अपने हाथ से उठा कर फेकने के समान पहिले क्रोधी के ही हानिकारक होता है ॥४३॥

हेयोपादेयविज्ञानं, नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।
किं व्रीहिखण्डनायासै–स्तण्डुलानामसम्भवे ॥४४॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, हेयोपादेयविज्ञानम्=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक, नो=नही, स्यात् = हो, तर्हि = तो, श्रुतौ = शास्त्र के विषय में, श्रम.=परिश्रम करना, व्यर्थः=वेकार (अस्ति=है) नीति —यत: = क्योंकि, तण्डुलानाम्=चावलो के, असम्भवे = असम्भव होने पर, व्रीहिखण्डनायासैः = धान्य के कूटने के परिश्रमों से, किम् = क्या लाभ, (भवति = हो सकता है) ॥४४॥

भावार्थ—जिस प्रकार धान्य के कूटने रूप परिश्रम का फल केवल चांवलों का निकालना ही है; किन्तु चावलों के निकलने की सम्भावना न होने पर धान्य का कूटना व्यर्थ ही है, उसी प्रकार विद्या पढने का फल हेयोपादेय का परिज्ञान होना ही है; किन्तु पढ़ लिख कर भी यदि हेयोपादेय का ज्ञान नहीं हो, तो विद्याभ्यास करना विफल ही समझना चाहिये ॥४४॥

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्, तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।
पाणौ कृतेन दीपेन, किं कूपे पततां फलम् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् = तत्त्वज्ञान के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले पुरुषो के, तत्त्वज्ञानम् = तत्त्वज्ञान, अपि = भी, मोघम् = विफल, स्यात् = होजाता है । यथा = जैसे, कूपे = कुएँ में, पतताम् = गिरते हुये मनुष्यो के, पाणौ = हाथ में, कृतेन = रक्खे हुये, दीपेन = दीपक से, किम् = क्या, फलम् = फल, अस्ति है ? (अर्थात्, किमपि न = कुछ भी नहीं) ॥४५॥

भावार्थ—जिस प्रकार अपने हाथ में प्रज्वलित दीपक रख कर भी कुएँ मे गिरने वाले का दीपक लेना व्यर्थ ही है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान को पाकर भी हेयोपादेयविज्ञान रहित यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने वाले का तत्त्वज्ञान पाना भी व्यर्थ ही है ॥४५॥

तत्त्वज्ञानानुकूलं त - दनुष्ठातुं त्वमर्हसि ।
मुषितं धीधनं न स्याद्, यथा मोहादिदस्युभिः ॥४६॥

अन्वयार्थौ—तत् = इसलिये, त्वम् = तुम, तत्त्वज्ञानानुकूल यथा स्यात्तथा = तत्त्वज्ञान के अनुसार, अनुष्ठातुम् = प्रवृत्ति करने के लिये, अर्हसि = योग्य हो, यथा = जिससे, मोहादिदस्युभि. = मोह आदिक चोरो के द्वारा, ते = तुम्हारा, धीधनम्—बुद्धि रूपी धन, मुषितम् = चुराया, न स्यात् = न जावे ॥४६॥

भावार्थः—उपर्युक्त बातों को जान कर तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम अपनी सारी दैनिक प्रवृत्तियाँ शास्त्रानुकूल ही करो, जिससे कि मोह, क्रोध, काम, मात्सर्य आदि रूप वास्तविक चोरों द्वारा तुम्हारे तत्त्वज्ञान की तात्त्विकता नष्ट नहीं की जावे ॥४६।

स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्, स्वपथोत्सुकमानसान् ।
दुर्जनाहीञ्जहीहि त्वं, ते हि सर्वङ्कषाः खलाः ॥४७॥

अन्वयार्थौ—च=और, त्वम्=तुम, स्त्रीमुखेन=स्त्रियो के, द्वारा, कृतद्वारान्=आने वाले, और, स्वपथोत्सुकमानसान्=स्वकीय कुपथ पर चलने चलाने में ही उत्कण्ठित मन वाले, दुर्जनाहीन्=दुर्जन रूपी सर्पों को, जहीहि=छोड दे। हि=क्योकि, ते=वे, खला.=दुर्जन, सर्वङ्कषा=सब का सत्यानाश करने वाले (भवन्ति=होते हैं) ॥४७॥

भावार्थ—जार, लुच्चे, जुआरी, चार तथा बेईमान आदि दुष्ट पुरुषों की सङ्गति से भी तुम्हे सदा दूर रहना चाहिये, क्योंकि वे सर्वसत्यानाशी स्त्रियों के जरिये आने वाले, खोटे कार्यों में प्रवृत्ति करने कराने वाले और अतिशय क्रूर सर्प के समान प्राणघातक होते हैं ॥४७॥

स्पृष्टानामहिभि र्नश्येद्-गात्रं खल-जनेन तु ।
वंशवैभववैदुष्य-क्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥४८॥

अन्वयार्थौ—अहिभि = सर्पो के द्वारा, स्पृष्टानाम्=डसे हुये, (प्राणिनाम्=प्राणियो का) गात्रम्=शरीर, एव = ही, नश्येत् = नष्ट होता है। तु=किन्तु, खलजनेन=दुष्ट पुरुषो से, स्पृष्टानाम्=सम्बन्ध रखने वालो के, वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकम्=कुल, सम्पत्ति, विद्वत्ता क्षमा और यश आदि सब, क्षणात् = क्षणमात्र में, नश्येत् = नष्ट हो जाते हैं ॥४८॥

भावार्थः—जिस प्राणी को सर्प डसता है, उसका कदाचित् मरण हुआ, तो शरीर ही नष्ट होता है, किन्तु जिसे दुर्जन डसना

है (सम्बन्ध करता है), उसका कुल, धन-दौलत, पांडित्य, क्षमा और कीर्ति आदि पर थोड़े ही समय में पानी फिर जाता है ॥४८॥

खलः कुर्यात्खलं लोक-मन्यमन्यो न कश्चन ।
न हि शक्यं पदार्थानां, भावनं च विनाशवत् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—खलः=दुर्जन पुरुष, लोकम्=दूसरे मनुष्य को, खलम्=दुर्जन, कुर्यात्=कर देता है। किन्तु, अन्य.=दूसरा (सज्जन), कश्चन=किसी को, अन्यम् = दूसरा (सज्जन), न = नही, कुर्यात् = कर पाता है। हि=क्योंकि, पदार्थानाम् = वस्तुओ के, विनाशवत्=नाश के समान, भावनम्=पैदा करना, न शक्यम्=सुकर नही होता ॥४६॥

भावार्थ —जिस प्रकार मकान, जेवर, आदि पदार्थों का नाश कर देना तो बिलकुल सरल बात है; किन्तु नूतन तैयार कर देना अतिशय दुःसाध्य है, उसी प्रकार दुर्जन पुरुष अन्य मनुष्य को दुर्जन तो आसानी से बना लेता है, किन्तु सज्जन दूसरे जन को सज्जन कठिनाई से ही बना पाता है ॥४६॥

सज्जनास्तु सतां पूर्वं, समावर्ज्याः प्रयत्नतः ।
किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं, श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः ॥५०॥

अन्वयार्थौ—तु = इसलिये, पूर्वम् = पहिले, सज्जनाः = सज्जन पुरुष, एव=ही, प्रयत्नतः = प्रयत्न से, सताम्=सज्जनो के, समावर्ज्या = आदरणीय हैं। यतः=क्योंकि, लोके = संसार में, श्लाघ्यम् = प्रशस्त, रत्नम्=रत्न, लोष्टवत्=पत्थर के ढेले के समान, अयत्नत.=बिना प्रयत्न से, प्राप्यम् किम् = प्राप्त हो सकता है क्या ? किन्तु, न=नही ॥५०॥

भावार्थ.—जिसप्रकार संसार में क्षुद्र मणि और काच का मिलना तो सरल है, किन्तु अमूल्य और प्रशस्त रत्न का मिलना महादुर्लभ है, उसी प्रकार कुमार्ग पर प्रवृत्त कराने वाले दुर्जन तो बात की बात में प्राप्त हो सकते हैं; किन्तु परमोपकारी

और सन्मार्गदर्शक सज्जन का समागम होना अतिशय दुःसाध्य ही है, इसलिये आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि दुर्जनों के चंगुल में फँसने के पहिले ही सावधान होकर सज्जनों का समागम प्राप्त करें ॥५०॥

जाग्रत्त्वं सौमनस्यं च, कुर्यात्सद्वागलं परैः ।
अजलाशयसम्भूत–ममृतं हि सतां वचः ॥५१॥

अन्वयार्थौ—सद्वाक्=सज्जनों के वचन, जाग्रत्वम् = शाश्वतिक सावधानता को, च=और, सौमनस्यम् = मन की पवित्रता को, कुर्यात्= करता है, च=और, परैः =और बातों से, अलम्=बस। हि = निश्चय से, सताम् = सज्जनों का, वच. = वचन, अजलाशयसम्भूतम् = जलाशय से उत्पन्न नहीं हुये, अमृतम्=अमृत के समान (भवति=होता है) ॥५१॥

भावार्थः—जिसप्रकार अमृत जाग्रत्त्व (सजीवत्व) और सौमनस्य (देवत्व) को करता है, उसी प्रकार सज्जनों का वचन भी जाग्रत्त्व (सावधानता) और सौमनस्य (विद्वत्ता, उत्तमविचार या सज्जनता) को करता है, किन्तु दोनों में विशेषता यह है कि अमृत तो जलाशय से उत्पन्न हुआ है, किन्तु सद्वचनामृत जलाशय (डलयोरभेदात्—जडाशय=दुष्टाभिप्राय) से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतएव सद्वचनामृत अमृत से भी उत्तम और ग्राह्य है ॥५१॥

यौवनं सत्त्वमैश्वर्य – मेकैकं च विकारकृत् ।
समवायो न किं कुर्या–दविकारोऽस्तु तैरपि ॥५२॥

अन्वयार्थौ— यदा = जब, यौवनम् = जवानी, सत्त्वम् = बल, च=और, ऐश्वर्यम् = सम्पत्ति, एकैकम् = एक-एक, अपि = भी, विकारकृत्=वैभाविक भावोत्पादक या कुमार्गप्रवर्तक, भवति=होता है, तदा=तब फिर, समवायः = तीनों का समूह, किम् = क्या, न कुर्यात् = नहीं कर सकता ? सर्वं कुर्यादिति भाव । तु=इसलिये, तै. = उन तीनों मे एव=ही ते=तेरे, अविकार = विकाराभाव, अस्तु=हो ॥५२॥

भावार्थः—जब कि जवानी, शारीरिकबल और धनाढ्यता पृथक् पृथक् होकर भी अभिमान और रागद्वेष आदि विभाव के उत्पादक तथा अन्याय आदि में प्रवर्तक होते हैं, तो फिर जिस व्यक्ति में तीनों ही एक साथ हों, उसके अभिमान आदिक का ता कहना ही क्या है ? ॥५२॥

न हि विक्रियते चेतः, सतां तद्धेतुसन्निधौ ।
किं गोष्पदजलक्षोभी, क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥५३॥

अन्वयार्थौ—सताम्=सज्जनों का, चेत.=मन, तद्धेतुसन्निधौ=विकार के कारण के मिल जाने पर, न विक्रियते=विकृत नही होता। नीति.—हि=क्योंकि, गोष्पदजलक्षोभी=गाय के खुरप्रमाण गहरे जलमात्र को मैला कर सकने वाला (मेंढक), जलधे=समुद्र के, जलम्=जल को, क्षोभयेत् किम्=मैला कर सकता है क्या ? अपि तु न=किन्तु नही ॥५३॥

भावार्थः—जिस प्रकार मेंढक क्षुद्र जलाशय के, गाय के खुरप्रमाण दो तीन अंगुल गहरे जल को ही अपनी क्रीड़ा और पैर आदि से मैला कर सकता है; किन्तु समुद्र के अगाध जल को नहीं, इसी प्रकार यौवनादि के कारण होने वाले क्रोध आदि विकारभाव क्षुद्र जनों के हृदय में ही अपना असर दिखा सकते हैं, महाजनों के पवित्र और गम्भीर हृदय में नहीं ।५३॥

देशकालखलाः किं तै-श्चला धीरेव बाधिका ।
अवहितोऽत्र धर्मे स्या-दवधानं हि मुक्तये ॥५४॥

अन्वयार्थौ—देशकालखला=कुत्सित देश, कुत्सित काल और दुर्जन (स्यु.=रहें) तैः=उनसे, किम्=क्या, हानि है ? किन्तु, चला=चञ्चल, धीः=अपनी बुद्धि, एव=ही, बाधिका=बिगाड़ करने वाली, स्यात्=होती है। अतएव, अत्र=यहा, धर्मे=आत्मस्वभाव में,

अवहित.=सावधान, भव=होओ, हि=क्योंकि, अवधानम् = आत्मस्वरूप में लीन होना, मुक्तये = मोक्ष के लिये, स्यात्=होता है ॥५४॥

भावार्थः—इस संसार में यद्यपि बुरे स्थान, समय और पुरुष बहुत मिलते हैं, किन्तु यदि मनुष्य अपनी बुद्धि को चंचल नहीं होने दे तो वे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। इसलिये आत्महितैषियों को अपनी बुद्धि स्थिर रख कर परपदार्थों से समताभाव धारण कर मोक्ष के कारणभूत आत्मस्वरूप में लीन होना चाहिये ॥५४॥

शिक्षावचःसहस्रैर्वा, क्षीणपुण्ये न धर्मधीः।
पात्रे तु स्फायते तस्मा-दात्मैव गुरुरात्मनः ॥५५॥

अन्वयार्थो—वा=और, शिक्षावच सहस्रैः=हितकारी हजारों उपदेशों से, अपि=भी, क्षीणपुण्ये=पुण्यहीन मनुष्य में, धर्मधी.=धार्मिक बुद्धि, न भवति = नही होती। तु=किन्तु, पात्रे=योग्य मनुष्य में, स्फायते=स्वयं वृद्धिगत हो जाती है। तस्मात् = इसलिये, आत्मनः= आत्मा का, गुरुः=गुरु, मात्मा=स्वयं आत्मा, एव=ही (अस्ति है) ॥५५॥

भावार्थः—प्रत्येक आत्मा का गुरु उसका वही आत्मा ही है, अन्य कोई व्यक्ति नहीं। यही कारण है कि दूसरों के द्वारा हजारों हितकर उपदेशों को पाकर भी पुण्यहीन जन धार्मिकता की ओर जरा भी पग नहीं बढ़ाता, किन्तु पुण्यात्मा पुरुष के धार्मिक बुद्धि परोपदेश आदि के बिना ही स्वयमेव उत्पन्न होजाती है।

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति, न प्रयान्ति च सत्पथम्।
प्रयान्तोऽपि न कार्यान्तं, धनान्धा इति चिन्त्यताम् ॥५६॥

अन्वयार्थो—धनान्धाः=धनमद से उन्मत्त मनुष्य, सत्पथम्= कल्याणकारी धर्ममार्ग को, न शृण्वन्ति = न सुनते हैं, न बुध्यन्ति = न समझते हैं, न प्रयान्ति=न (उस पर) चलते हैं, च=और, प्रयान्तः=

चलते हुये, अपि=भी, कार्यान्तिम्=कार्य की पूर्णता को, न प्रयान्ति=नही प्राप्त कर सकते। इति=इस प्रकार, चिन्त्यताम्=ध्यान रखना ॥५६॥

भावार्थः—जो मनुष्य धन से मालामाल होते हैं, वे प्रथम तो कल्याणकारी धर्ममार्ग को सुनते ही नहीं हैं और कदाचित् सुन भी लें तो निरक्षर भट्टाचार्य होने से समझते ही नहीं हैं तथा यदि समझ भी लें तो तदनुकूल प्रवृत्ति नहीं करते और प्रवृत्ति भी करें तो थोड़े ही समय मे उस ओर से विमुख हो जाते हैं। हे वत्स! इन बातों को भली प्रकार ध्यान में रखना ॥५६॥

इत्याशास्य तमाश्वास्य, कृच्छ्रं स तपसे गतः।
प्राणप्रयाणवेलायां, न हि लोके प्रतिक्रिया ॥५७॥

अन्वयार्थौ—स.=वे गुरु आर्यनन्दी, तम्=उस जीवन्धर को, इति=पूर्वोक्त, आशास्य=शिक्षा देकर, च=और, आश्वास्य=आश्वासन देकर, कृच्छ्र यथा स्यात्तथा=बड़ी कठिनता से, तपसे=तप के लिये, गत=गये। नीति—हि=क्योंकि, लोके=ससार में, प्राणप्रयाणवेलायाम्=प्राण निकलने के समय में, प्रतिक्रिया=मृत्यु रोकने का कोई उपाय, न भवति=नही होता ॥५७॥

भावार्थः—'मणि मंत्र तंत्र बहु होई' इत्यादि वाक्यानुसार ससार में मृत्युरोधक कोई उपाय नहीं, अतएव उस समय एक धर्म का सहारा लेना ही शान्तिदायक और हितजनक होता है। इसलिये मुमुक्षु गुरु ने भी अपने शिष्य जीवन्धर को उक्त प्रकार शिक्षा देकर सब प्रकार समझा बुझा कर आत्मकल्याण के हेतु वन को प्रस्थान किया ॥५७॥

प्रव्रज्याथ तपःशक्त्या, नित्यमानन्दमव्रजत्।
निष्प्रत्यूहा हि सामग्री, नियतं कार्यकारिणी ॥५८॥

अन्वयार्थौ—अथ=गमनानन्तर, स.=वे गुरु आर्यनन्दी, प्रव्रज्य=दीक्षाधारण कर, तपःशक्त्या=तप के सामर्थ्य से, नित्यम्=

शाश्वतिक (मोक्षस्वरूप), आनन्दम्=आनन्द को, अव्रजत्=प्राप्त हुये। नीतिः—हि=क्योंकि, निष्प्रत्यूहा=विघ्नबाधा रहित, सामग्री=कारणसामग्री, नियतम्=नियम से, कार्यकारिणी=कार्य पूर्ण करने वाली (भवति=होती है) ॥५८॥

भावार्थः—पश्चात् गुरु आर्यनन्दी (लोकपाल राजा) ने पुनर्दीक्षा धारण कर घोर तप को तप, कर्मनाश कर मुक्तिवधू को वरण किया। क्योंकि कार्य की जिस कारण सामग्री में विघ्न आदि प्रतिबन्धक का अभाव होता है, उसके द्वारा कार्यपूर्ति अवश्य ही होती है, अतएव पूर्व तपस्या तो भस्मक रोगरूपी विघ्न की उपस्थिति से सफल नहीं हो सकी थी, किन्तु द्वितीय तपस्या विघ्नाभाव से सफल ही हुई ॥५८॥

तपोवनं गुरौ प्राप्ते, शुचं प्रापत् स कौरवः।
गर्भाधानक्रियामात्र-न्यूनौ हि पितरौ गुरू ॥५९॥

अन्वयार्थः—कौरव=कुरुवंशी, सः=वह जीवन्धर, गुरौ=गुरु के, तपोवनम्=तपश्चर्यार्थवन को, प्राप्ते सति=प्राप्त होने पर, शुचम्=शोक को, प्रापत्=प्राप्त हुआ। नीति—हि=क्योंकि, गुरू=गुरु और गुरुपत्नी, गर्भाधानक्रियामात्रन्यूनौ=गर्भधारण की क्रियामात्र से रहित, पितरौ=माता पिता (एव=ही, स्तः=हैं) ॥५९॥

भावार्थः—शिष्यों की गर्भाधान क्रिया तो माता पिता द्वारा अवश्य अधिक होती है, शेष लालन, पालन और शिक्षादान आदि क्रियाएँ जैसी माता पिता द्वारा होती हैं उनसे भी बढ़कर गुरुजनों द्वारा होती हैं, इसलिये गुरुजन एक प्रकार से माता पिता ही हैं। अतएव गुरुदेव के तपश्चर्यार्थ वन को चले जाने पर जीवन्धर ने बहुत रंज किया ॥५९॥

तत्त्वज्ञानजलेनाथ, शोकाग्निं निरवापयत्।
शल्ये जाग्रति किन्नु स्यात् दानपातिः कदाचन ॥६०॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, सः=वह जीवन्धर, तत्त्वज्ञानजलेन=तत्त्वज्ञानरूपी जल से, शोकाग्निम्=शोकरूपी अग्नि को, निरवापयत्=शान्त करता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, शैत्ये=शीत के, जाग्रति=पडते रहने पर, कदाचन=कभी, आतपार्तिः=गरमी का दुःख, स्यात् किम्=हो सकता है क्या? किन्तु, न=नही ॥६०॥

भावार्थः—जैसे ठंड के रहते गर्मी अथवा जल की सत्ता में अग्नि अपना जोर प्रगट नहीं कर सकती, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी प्रतिकूल सामग्री के अस्तित्व में अपना असर प्रगट नहीं कर सकती। तदनुसार जीवन्धर ने भी शोक के प्रतिकूल 'प्रत्येक वस्तु का वियोग अवश्यम्भावी है' ऐसा निश्चय कर अपने शोक को दूर कर दिया ॥६०॥

अथास्मिन् विद्यया कान्त्या, विदुषां योषितां हृदि।
रथे च योग्यया भाति, तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥६१॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके पश्चात्, विद्यया=विद्वत्ता से, विदुषाम्=विद्वानो के, कान्त्या=कान्ति से, योषिताम्=स्त्रियो के, हृदि=हृदय में, च=और, योग्यया=रथसञ्चालन की चतुराई से, रथे=रथ पर, तस्मिन्=उस जीवन्धर के, भाति सति=सुशोभित होते हुए, तत्र=वहां पर, प्रस्तुतम्=हुआ वृत्तान्त, उच्यते=कहा जाता है ॥६१॥

भावार्थः—रथ-सञ्चालन मे चतुर जीवन्धर कुमार जब गुरु वियोगजनित शोक को दूर कर अपने अनुपम पाण्डित्य से विद्वानों के समूह को तथा शरीर की कमनीय कान्ति से स्त्रीजनों को भी मुग्ध कर रहा था उस समय जो कुछ नवीन घटना हुई उसका वर्णन यहां किया जाता है ॥६१॥

अथैकदा समभ्येत्य, राजाङ्गणभुवि स्थिताः।
गावोऽवस्कन्दिता व्याधै-रिति गोपा हि चुक्रुशुः ॥६२॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, एकदा=एक समय, समभ्येत्य=

है, तदनुसार नन्दगोप नामक एक प्रसिद्ध ग्वाले ने भी राजसेना के पराजित हो जाने पर अपने गोधन की रक्षा के हेतु व्याधसेना को जीतने के विषय में निम्नप्रकार विचार किया ॥६६॥

धनार्जनादपि क्षेमे, क्षेमादपि च तत्क्षये ।
उत्तरोत्तरवृद्धा हि, पीडा नृणामनन्तशः ॥६७॥

अन्वयार्थो—यत् = कि, नृणाम् = मनुष्यों के, धनार्जनात् = धन के कमाने से, अपि = भी, क्षेमे = धन के रक्षण में, च = और, क्षेमात् = धन के रक्षण से, अपि = भी, तत्क्षये = धनके नष्ट होजाने पर, उत्तरोत्तरवृद्धा = आगे आगे बढती हुई, अनन्तशः = अनन्त गुणी, पीडा = पीडा (भवति = होती है) ॥६७॥

भावार्थ.—प्रत्येक मनुष्य के धन कमाने, उसकी रक्षा करने और उसके नाश होने मे क्रम से अनन्तगुणी बढ़ती हुई पीड़ा हुआ करती है। इसी का मुझे (नन्दगोप को) यह प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है ॥६७॥

यथाशक्ति प्रतीकारः, करणीयस्तथापि चेत् ।
व्यर्थः किमत्र शोकेन, यदशोकः प्रतिक्रिया ॥६८॥

अन्वयार्थो—तथापि = तो भी, यथाशक्ति = शक्त्यनुसार, प्रतीकारः = प्रतिकार, करणीयः = करना चाहिये। किन्तु, चेत् = यदि, व्यर्थः = प्रतीकार असफल, स्यात् = होजावे (तर्हि = तो) अत्र = इस असफलता के होने पर, शोकेन = शोक से, किम् = क्या लाभ है? यत् = क्योंकि, अशोकः = शोक का नही करना (एव = ही) प्रतिक्रिया = असफलता का प्रतिकार (भवेत् = हो सकता है) ॥६८॥

भावार्थः—यद्यपि धनार्जन, धनरक्षण और धननाश उत्तरोत्तर दुःखजनक ही हैं, तो भी धननाश का प्रतीकार [रक्षणोपाय] करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। पर कदाचित वह उपाय सफल

न हो तो शोक भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि शोकाभाव से तो धनरक्षा हो सकती है, किन्तु शोक से तो चिन्ताग्रस्त होने के कारण रक्षणोपाय करने में भी विघ्न उपस्थित होता है ॥६८॥

इत्यूहेन स वीराय, विजये हि वनौकसाम् ।
सप्तकल्याणपुत्रीभि र्देया, पुत्रीत्यघोषयत् ॥६९॥

अन्वयार्थो—स = उस नन्दगोप ने, इति = पूर्वोक्त, ऊहेन = विचार से, वनौकसम् = भीलो के, विजये=जीतने मे, वीराय = विजय पाने वाले के लिये, सप्तकल्याणपुत्रिभि. सह = सुवर्ण की सात पुत्रियो के साथ (मे=मेरी) पुत्री = सुपुत्री, देया = देने योग्य है (इति = इस प्रकार) कटके=नगर में, अघोषयत्=घोषणा कराई ॥६९॥

भावार्थः - नन्दगोप ने अपने गोधन की रक्षा के लिये उपर्युक्त विचार कर समस्त नगर में 'जो भीलों की सेना को जीत लेवेगा; उसे स्वर्ण की सात पुतलियों के साथ अपनी सुपुत्री प्रदान करूँगा' इस प्रकार घोषणा करा दी ॥६९॥

सात्यन्धरिस्तु तच्छ्रुत्वा, तद्घोषणमवारयत् ।
उदात्तानां हि लोकोऽय—मखिलो हि कुटुम्बकम् ॥७०॥

अन्वयार्थो—तु = इसके बाद, सात्यन्धरि. = सत्यन्धर के सुपुत्र जीवन्धर ने, तत् = उस, घोषणम्=घोषणा को, श्रुत्वा=सुन कर, अवारयत्=रुकवा दिया। नीति—हि = क्योंकि, उदात्तानाम् = महापुरुषों के, अयम्=यह, अखिल. = सम्पूर्ण, लोक = ससार, एव = ही, कुटुम्बकम्=कुटुम्बस्वरूप (भवति=होता है) ॥७०॥

भावार्थ—महापुरुष समस्त भूमण्डल को अपने कुटुम्ब के समान ही समझते हैं और उसके हितार्थ अपने कष्ट की भी पर्वाह नहीं करते, तदनुसार जिस समय महापुरुष जीवन्धर ने नन्दगोप ग्वाल द्वारा घोषित घोषणा सुनी, तब उसने गोधन की

आकर, राजाङ्गणभुवि=राजद्वार के मैदान में, स्थिता.=ठहरे हुए, गोपा –ग्वाल लोग, अस्माकम्=हमारी, गावः=गायें, व्याधैः= चोर भीलो के द्वारा, अवस्कन्दिता.=चुराली गई हैं, इति=इस प्रकार, चक्रुशु =रोने चिल्लाने लगे ॥६२॥

भावार्थः—एक समय कुछ ग्वाल राजद्वार के मैदान में आकर "हा ! हमारी गायें व्याधों (चोरों) ने रोक ली हैं, हम क्या करें" इस प्रकार रोने चिल्लाने लगे ॥६२॥

काष्ठाङ्गारोऽपि रुष्टोऽभूत्, तदाक्रोशवचःश्रुतेः ।
असमानकृतावज्ञा, पूज्यानां हि सुदुःसहा ॥६३॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गार =काष्ठाङ्गार, अपि=भी, तदाक्रोश-वचःश्रुते =उन ग्वालो के उस रोने चिल्लाने के सुनने से (व्याधेषु= व्याधों पर) रुष्ट =क्रोधित, अभूत्=हुआ । नीति —हि=क्योंकि. असमानकृतावज्ञा =अपने से हीन जनो के द्वारा किया गया अपमान, पूज्यानाम्=महापुरुषों के, सुदुःसहा=अत्यन्त असह्य (भवति=होता है)।

भावार्थ —क्योंकि क्षुद्र जनों द्वारा किये गये अपमान को महापुरुष सहन नहीं कर सकते, अतएव राजा काष्ठाङ्गार भी 'राजसत्ता मे भी चोरी कर राजशासन की अव्यवस्था की सूचक उच्छृङ्खल प्रवृत्ति करने रूप' अपने अपमान को सहन नहीं कर सका, इसलिये व्याधों पर बहुत क्रोधित हुआ ॥६३॥

पराजेष्ट पुनस्तेन, गवार्थं प्रहितं बलम् ।
स्वदेशे हि शशप्रायो, बलिष्ठः कुञ्जरादपि ॥६४॥

अन्वयार्थौ—पुनः =पश्चात्, तेन =उस काष्ठाङ्गार के द्वारा, गवार्थम् =गायों के छुडाने के लिये, प्रहितम्=भेजा हुआ, बलम्= सैन्य, पराजेष्ट =हार गया । नीतिः—हि=क्योंकि, स्वदेशे=अपने स्थान पर, शशप्रायः=खरगोश के बराबर तुच्छ जन्तु, कुञ्जरात्=हस्ती से, अपि=भी, बलिष्ठः=बलवान् (भवति=हो जाता है) ॥६४॥

भावार्थः—अपने स्थान पर खरगोश सदृश तुच्छ प्राणी भी हस्ती के समान साहसी होजाता है, तदनुसार गायों के छुड़ाने के हेतु भेजी गई काष्ठाङ्गार की विशाल सेना भी अपने स्थान पर स्थित तुच्छ व्याधसमूह से हार गई ॥६४॥

व्यजेष्ट व्याधसेनेति, श्रुत्वा घोषोऽपि चुक्षुभे ।
न बिभेति कुतो लोक, आजीवनपरिक्षये ॥६५॥

अन्वयार्थौ—घोष =ग्वालो की झोपडियो के निवासी जन, अपि=भी, व्याधसेना = व्याधो की सेना, व्यजेष्ट = जीत गई (इति = यह समाचार) श्रुत्वा = सुन कर, चुक्षुभे=क्षोभित होगये । (यत = क्योकि) लोक =जनसमुदाय, आजीवनपरिक्षये = आजीविका के नष्ट हो जाने पर, कुत =किससे, न बिभेति=नही डरता (किन्तु, सर्वत = सभी से) बिभेति=डरता है ॥६५॥

भावार्थः—आजीविका के नष्ट होजाने पर मनुष्य प्राय: किंकर्तव्य-विमूढ़ सा होजाता है, तदनुसार व्याधसेना की जीत सुनकर गोधनरूप अपनी आजीविका के उपाय के विनाश के भय से ग्वालों में भी शोक छा गया ॥६५॥

नन्दगोपाह्वयः कोऽपि, तज्जयार्थं व्यचीचरत् ।
किं स्यात् किंकृत इत्येवं, चिन्तयन्ति हि पीडिताः ॥६६॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, नन्दगोपाह्वय =नन्दगोप नामक, क = कोई ग्वाला, अपि=भी, तज्जयार्थम् = उस व्याधसेना को जीतने के हेतु, व्यचीचरत् = विचार करता हुआ । नीति.—हि=क्योकि, पीडिता. = व्याकुल जन, किम्=कौन कार्य, किंकृते=किस फल के लिये, स्यात्=होगा, इत्येवम्=यही, चिन्तयन्ति=विचार किया करते हैं ॥६६॥

भावार्थ.—चिन्तातुर मनुष्य 'ऐसा करने पर ऐसा होगा और ऐसा करने पर ऐसा।' इस प्रकार विचारासक्त हो जाते

है, तदनुसार नन्दगोप नामक एक प्रसिद्ध ग्वाले ने भी राजसेना के पराजित हो जाने पर अपने गोधन की रक्षा के हेतु व्याधसेना को जीतने के विषय में निम्नप्रकार विचार किया ॥६६॥

धनार्जनादपि क्षेमे, क्षेमादपि च तत्क्षये ।
उत्तरोत्तरवृद्धा हि, पीडा नृणामनन्तशः ॥६७॥

अन्वयार्थों—यत्=कि, नृणाम् = मनुष्यों के, धनार्जनात्= धन के कमाने से, अपि = भी, क्षेमे = धन के रक्षण में, च=और, क्षेमात्=धन के रक्षण से, अपि=भी, तत्क्षये = धनके नष्ट होजाने पर, उत्तरोत्तरवृद्धा=आगे आगे बढती हुई, अनन्तशः=अनन्त गुणी, पीडा=पीडा (भवति=होती है) ॥६७॥

भावार्थ.—प्रत्येक मनुष्य के धन कमाने, उसकी रक्षा करने और उसके नाश होने में क्रम से अनन्तगुणी बढ़ती हुई पीड़ा हुआ करती है। इसी का मुझे (नन्दगोप को) यह प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है ॥६७॥

यथाशक्ति प्रतीकारः, करणीयस्तथापि चेत् ।
व्यर्थः किमत्र शोकेन, यदशोकः प्रतिक्रिया ॥६८॥

अन्वयार्थों—तथापि=तो भी, यथाशक्ति=शक्त्यनुसार, प्रतीकारः = प्रतिकार, करणीयः = करना चाहिये। किन्तु, चेत् = यदि, व्यर्थः= प्रतीकार असफल, स्यात् =होजावे (तर्हि=तो) अत्र=इस असफलता के होने पर, शोकेन = शोक से, किम् = क्या लाभ है? यत् = क्योंकि, अशोकः = शोक का नहीं करना (एव=ही) प्रतिक्रिया = असफलता का प्रतिकार (भवेत् = हो सकता है) ॥६८॥

भावार्थः—यद्यपि धनार्जन, धनरक्षण और धननाश उत्तरोत्तर दुःखजनक ही हैं, तो भी धननाश का प्रतीकार [रक्षणोपाय] करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। पर कदाचित् वह उपाय सफल

न हो तो शोक भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि शोकाभाव से तो धनरक्षा हो सकती है, किन्तु शोक से तो चिन्ताग्रस्त होने के कारण रक्षणोपाय करने मे भी विघ्न उपस्थित होता है ॥६८॥

इत्यूहेन स वीराय, विजये हि वनौकसाम् ।
सप्तकल्याणपुत्रीभि र्देया, पुत्रीत्यघोषयत् ॥६९॥

अन्वयार्थो—स = उस नन्दगोप ने, इति = पूर्वोक्त, ऊहेन = विचार से, वनौकसाम् = भीलो के, विजये=जीतने में, वीराय = विजय पाने वाले के लिये, सप्तकल्याणपुत्रिभिः सह = सुवर्ण की सात पुत्रियो के साथ (मे = मेरी) पुत्री = सुपुत्री, देया = देने योग्य है (इति = इस प्रकार) कटके=नगर में, अघोषयत्=घोषणा कराई ॥६९॥

भावार्थः - नन्दगोप ने अपने गोधन की रक्षा के लिये उपर्युक्त विचार कर समस्त नगर में 'जो भीलों की सेना को जीत लेवेगा, उसे स्वर्ण की सात पुतलियों के साथ अपनी सुपुत्री प्रदान करूँगा' इस प्रकार घोषणा करा दी ॥६९॥

सात्यन्धरिस्तु तच्छ्रुत्वा, तद्घोषणमवारयत् ।
उदात्तानां हि लोकोऽय—मखिलो हि कुटुम्बकम् ॥७०॥

अन्वयार्थौ—तु = इसके बाद, सात्यन्धरिः = सत्यन्धर के सुपुत्र जीवन्धर ने, तत् = उस, घोषणम्=घोषणा को, श्रुत्वा=सुन कर, अवारयत्=रुकवा दिया। नीति—हि = क्योंकि, उदात्तानाम् = महापुरुषो के, अयम्=यह, अखिल = सम्पूर्ण, लोक. = संसार, एव = ही, कुटुम्बकम्=कुटुम्बस्वरूप (भवति=होता है) ॥७०॥

भावार्थ—महापुरुष समस्त भूमण्डल को अपने कुटुम्ब के समान ही समझते हैं और उसके हितार्थ अपने कष्ट की भी पर्वाह नहीं करते, तदनुसार जिस समय महापुरुष जीवन्धर ने नन्दगोप ग्वाल द्वारा घोषित घोषणा सुनी, तब उसने गोधन की

रक्षा के विचार से 'मैं इस कार्य को करूँगा' इत्यादि कह कर वह घोषणा रुकवा दी ॥७०॥

जित्वाथ जीवकस्वामी, किरातानाहरत्पशून् ।
तमो ह्यभेद्यं खद्योतैः, भानुना तु विभिद्यते ॥७१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, जीवकस्वामी = जीवन्धर स्वामी, किरातान् = भीलों को, जित्वा = जीत कर, पशून् = गायों को, आहरत् =वापिस लाये। नीति.—हि=क्योंकि खद्योतैः = पटवीजनों से, अभेद्यम्=नष्ट नहीं किया जा सकने वाला, तमः = अन्धकार, भानुना= सूर्य्य के द्वारा, तु=तो, विभिद्यते एव=नष्ट ही किया जाता ॥७१॥

भावार्थ:—जिस महान् अन्धकार को अनेकों जुगनुयें नष्ट नहीं कर पातीं; उसको एक ही सूर्य क्षणमात्र में नष्ट कर देता है, तदनुसार जो व्याधसेना काष्ठाङ्गार को विशालसेना के द्वारा नहीं जीती जा सकी थी, वह तेजस्वी वीर जीवन्धर द्वारा बात की बात में हरा दी गई और रोका हुआ गोधन भी वापिस ले लिया गया ॥७१॥

ननन्द नन्दगोपोऽपि, गोधनस्योपलम्भतः ।
असुमतामसुभ्योऽपि, गरीयो हि भृशं धनम् ॥७२॥

अन्वयार्थौ—नन्दगोप = नन्दगोप ग्वाला, अपि = भी, गोधनस्य = गोस्वरूप धन के, उपलम्भतः = पाने से, ननन्द=आनन्दित हुआ। नीति—हि = क्योंकि, असुमताम् = प्राणियों के, धनम् = धन, असुभ्यः = प्राणों से, अपि=भी, भृशम् = अत्यन्त, गरीयः =प्यारा (भवति=होता है) ॥७२॥

भावार्थ.—संसारी मनुष्य धन को प्राणों से भी अधिक प्यारा मानते हैं, अतएव जीवन्धर की वीरता से गोधन के वापिस मिल जाने पर नन्दगोप ग्वाले के भी खुशी का पारावार नहीं रहा ॥७२॥

अथानीय सुतां दातुं, स्वामिने वार्यपातयत् ।
कृत्याकृत्यविमूढा हि, गाढस्नेहान्धजन्तवः ॥७३॥

अन्वयार्थौ—अथ=गोधन प्राप्ति के बाद, नन्दगोप, स्वामिने= जीवन्धर स्वामी के लिये, दातुम्=देने को, सुताम्=स्वकीय सुपुत्री को, आनीय=लाकर, वारि=जल को, अपातयत्=गिराता हुआ। नीति— हि=क्योंकि, गाढस्नेहान्धजन्तव =अतिशयस्नेह से मत्त प्राणी, कृत्याकृत्यविमूढाः=कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक शून्य (भवन्ति=होते हैं) ॥७३॥

भावार्थ:—गाढस्नेहासक्त जन कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार न कर अनुचित कार्य करने को भी सहसा उद्यत हो जाते हैं, अतएव गोधन की प्राप्ति और वीरता के अवलोकन से ही स्नेही नन्दगोप भी "क्षत्रिय पहिले क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह करा कर पीछे क्षत्रियेतर कन्या के साथ विवाह कराते हैं, तदनुसार जीवन्धर स्वामी सर्वप्रथम मुझ ग्वाले की कन्या को कैसे वरण करेंगे" ऐसा विचार किये विना ही उन्हें अपनी कन्या देने को जलधारा छोड़ने लगा ॥७३॥

जीवन्धरस्तु जग्राह, वार्धारां तेन पातिताम् ।
पद्मास्यो योग्य इत्युक्त्वा, न ह्ययोग्ये स्पृहा सताम् ॥७४॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, जीवन्धर=जीवन्धर, पद्मास्य= पद्मास्य नामक मित्र, अस्या.=इस पुत्री के, योग्य.=योग्य (अस्ति= है) इति=इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, तेन=उस नन्दगोप के द्वारा, पातिताम्=छोड़ी हुई, वार्धाराम्=जलधारा को, जग्राह=ग्रहण करता हुआ। नीति:—हि=क्योंकि, सताम्=सज्जनो की, स्पृहा=इच्छा, अयोग्ये=अनुचित पदार्थ में, न भवति=नही होती ॥७४॥

भावार्थ—क्योंकि महापुरुष अपने कुल के अयोग्य पदार्थ की चाह नहीं करते, अतएव जीवन्धर ने उपर्युक्त नियमानुसार

अपने हेतु उक्त कन्या का ग्रहण करना अनुचित समझ 'पद्मास्य नामक मित्र इस कन्या के स्वामित्व के लिये योग्य है' इस प्रकार खुलासा कर नन्दगोप द्वारा पातित जलधारा स्वीकार की ॥७४॥

माम ! मामेव पद्मास्यं, पश्येति पुनरब्रवीत् ।
गात्रमात्रेण भिन्नं हि, मित्रत्वं मित्रता भवेत् ॥७५॥

अन्वयार्थौ—पुन =पीछे, जीवन्धर, माम !=हे मामा, माम्= =मुझको, एव = ही, पद्मास्यम्=पद्मास्य, पश्य=जानो, इति= इस प्रकार, अब्रवीत्=कहता हुआ। नीति.—हि=क्योंकि, गात्रमात्रेण = केवल शरीर से, भिन्नम्=भिन्न, मित्रत्वम्=मित्रपना, एव ही, मित्रता= मैत्री, भवेत्=कहलाती है ॥७५॥

भावार्थ:—जलधाराग्रहण करने के बाद जीवन्धर ने नन्दगोप से कहा कि हे मामा 'वास्तविक मित्रता में केवल शरीर ही तो अलग अलग होते हैं, किन्तु शेष कार्य और विचार आदि में लेशमात्र भी विभिन्नता नहीं होती, इसलिये मित्रों को एक दूसरे को अभिन्न समझना चाहिये, अतएव मुझे पद्मास्य से भिन्न न समझना ॥७५॥

गोदावरीसुतां दत्तां, नन्दगोपेन तुष्यता ।
परिणिन्येऽथ गोविन्दां, पद्मास्यो वह्निसाक्षिकम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, पद्मास्यः=पद्मास्य ने, तुष्यता= सन्तुष्ट, नन्दगोपेन=नन्दगोप के द्वारा, दत्ताम्=दी गई, गोदावरीसुताम् = गोदावरी की सुपुत्री, गोविन्दाम्=गोविन्दा को, वह्निसाक्षिकम्= हवन की अग्नि के समक्ष, परिणिन्ये=विवाहा ॥७६॥

भावार्थ:—पश्चात् जीवन्धर के अभिन्न मित्र पद्मास्य ने भी नन्दगोप ग्वाल द्वारा प्रदत्त गोदावरी ग्वालिन की सुपुत्री गोविन्दा को हवन की अग्नि के समक्ष विधिपूर्वक विवाहा ॥७६॥

॥ इति द्वितीयो लम्बः समाप्तः ॥

अथ तृतीयो लम्बः

अथोपयम्य गोविन्दां, पद्मास्ये रमयत्यलम् ।
वीरश्रियं कुमारे च, तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गोविन्दाम् = गोविन्दा को, उपयम्य = व्याह करके, पद्मास्ये = पद्मास्य के, रमयति सति = रमरग करते रहते, च = और, वीरश्रियम् = वीरलक्ष्मी को, उपयम्य = प्राप्त करके, कुमारे = जीवन्धर कुमार के, रमयति सति = अनुभव करते रहते, तत्र = वहाँ पर, प्रस्तुतम् = हुआ समाचार, उच्यते = कहा जाता है ॥१॥

भावार्थः—गोविन्दा के साथ विवाह होने के बाद जब पद्मास्य उसके साथ भोग भोगने लगा और जीवन्धर भी विजय लक्ष्मी का अनुभव करने लगे, तब जो समाचार हुआ उसका यहा पर वर्णन किया जाता है ॥१॥

आसीत्तत्पुर-वास्तव्यो, वैश्यः श्रीदत्तनामकः ।
वित्तायास्पृहयत्सोऽयं, धनाशा कस्य नो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थौ—तत्पुर-वास्तव्यः = उसी राजपुरी नगरी में रहने वाला, श्रीदत्तनामकः = श्रीदत्तनामक, वैश्य. = वैश्य, आसीत् = था । स. = प्रसिद्ध, अयम् = यह श्रीदत्त, वित्ताय = धन को, अस्पृहयत् = चाहता हुआ । नीतिः—यत. = क्योंकि, धनाशा = धन की चाह, कस्य = किसके, नो भवेत् = नही होती । किन्तु, सर्वेषामेव भवेत् = सभी के होती है ॥२॥

भावार्थ.—राजपुरी नगरी में एक श्रीदत्त नाम का वैश्य रहता था । उसने एक समय धन कमाने की इच्छा की । क्योंकि धन कमाने की इच्छा का भूत सभी के शिर पर सवार रहता है, अतएव उसने श्रीदत्त का भी पीछा नहीं छोड़ा ॥२॥

अर्थार्जननिदानं च, तत्फलं चायमैहत ।
निरङ्कुशं हि जीवाना-मैहिकोपायचिन्तनम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—पुन. = फिर, अयम् = यह श्रीदत्त, अर्थार्जननिदानम् धन कमाने के कारण को, च = और, तत्फलम् = धन कमाने के फल को, ऐहत = विचारने लगा। नीति.—हि = क्योंकि, जीवानाम् = जीवों के, ऐहिकोपायचिन्तनम् = इस लोक सम्बन्धी सुखों के उपायों का विचार, निरङ्कुशम् = स्वयमेव, भवति = होता है ॥३॥

भावार्थः—प्रत्येक संसारी जीव को सांसारिक कार्यों के उपायों के सिखलाने की जरूरत नहीं होती, किन्तु उनको स्वयमेव उनका परिज्ञान हो जाता है। इसलिये श्रीदत्त वैश्य ने भी धनोपार्जन के कारण और फलों का निम्नप्रकार विचार किया।

अस्तु पैतृकमस्तोकं, वस्तु किं तेन वस्तुना।
रोच्यते न हि शौण्डाय, परपिण्डादिदीनता ॥४॥

अन्वयार्थौ—पैतृकम् = पिता के द्वारा कमाया हुआ, अस्तोकम् = बहुतसा, वस्तु = धन, अस्तु = रहे, किन्तु, तेन = उस धन से (मे = मेरे) किम् = क्या, प्रयोजन, अस्ति = है। नीति.—हि = क्योंकि, शौण्डाय = पुरुषार्थी जन के लिये, परपिण्डादिदीनता = अन्योपार्जित द्रव्य से निर्वाह करने में (अवश्यम्भावी) दीनता, न रोचते = प्रिय नहीं लगती ॥४॥

भावार्थः—जिस मनुष्य में पुरुषार्थ कर धन कमाने की दम होती है, वह अन्योपार्जित धन से निर्वाह करना पसंद नहीं करता, अतएव यद्यपि मेरे पास कुलपरम्परागत बहुत सम्पत्ति है, तो भी केवल उसीके बल पर अवलम्बित रहना उचित नहीं ॥४॥

स्वापतेयमनायं चेत्, सव्ययं व्येति भूर्यपि।
सर्वदा भुज्यमानो हि, पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥५॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, स्वापतेयम् = स्वस्वामिक धन, अनाय सत् = आमद रहित होता हुआ, सव्ययम् = खर्च सहित, स्यात् = होता है,

तर्हि=तो, भूरि सन्=वहुत होता हुआ, अपि=भी, व्येति=नष्ट हो जाता है। नीति –हि=क्योंकि, सर्वदा=हमेशा, भुज्यमान =भोगा जाने वाला, पर्वत.=पर्वत, अपि=भी, परिक्षयी=नष्ट होजाता है॥ ॥

भावार्थ.—जिस प्रकार विशाल पर्वत में से प्रतिदिन एक एक पत्थर खर्च होता जावे और स्थानान्तर से लाकर उसमें मिलाये न जावें, तो एक समय उसके नाम निशान भी न रहने की सम्भावना की जा सकती है, उसी प्रकार जिस संचित धन में आय तो न हो और व्यय होता जावे; तो एक समय उस धन का भी नाम निशान नहीं रहेगा। इसलिये धन की सत्ता और वृद्धि के हेतु धन कमाना आवश्यक है ॥५॥

दारिद्र्याद्परं नास्ति, जन्तूनामप्यरुन्तुदम् ।
अत्यक्तं मरणं प्राणैः, प्राणिनां हि दरिद्रता ॥६॥

अन्वयार्थौ—जन्तूनाम्=प्राणियो के, दारिद्र्यात्=निर्धनता से बढ कर, अपरम्=कोई दूसरा, अरुन्तुदम्=हार्दिक दुखदायक, न अस्ति=नही है। नीति.–हि=क्योंकि, दरिद्रता=निर्धनता, प्राणिनाम्=जीवो के, प्राणैः=प्राणो से, अत्यक्तम्=नही छूटा हुआ, मरणम्=मरण, एव=ही (अस्ति=है) ॥६॥

भावार्थ.—इस लोक में निर्धनता से मनुष्य के हृदय में जितना धक्का लगता है, उतना अन्य किसी से नहीं। अधिक क्या? निर्धनता से केवल प्राण ही तो नहीं निकलते, किन्तु और सब बातों में वह मृत्यु से कम नहीं ॥६॥

रिक्तस्य हि न जागर्ति, कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।
हन्त किं तेन विद्यापि, विद्यमाना न शोभते ॥७॥

अन्वयार्थौ—रिक्तस्य=गरीब का, कीर्तनीय=प्रशंसनीय अखिल =समस्त, गुण=गुणसमूह, न जागर्ति=प्रगट नही रहता, च=और, तेन किम्=उससे क्या? किन्तु, तस्य=उस निर्धन के,

विद्यमाना = मौजूद, विद्या=ज्ञान, अपि = भी, न शोभते = शोभायमान नहीं होता ॥७॥

भावार्थ—जो मनुष्य निर्धन हो जाता है, उसके प्रशस्त भी गुण अपना प्रभाव नहीं दिखला सकते। और तो क्या? उसकी भली प्रकार अभ्यस्त विद्या भी नहीं के समान हो जाती है और वह भौंचक्का सा हो जाता है ॥७॥

स्यादकिञ्चित्करः सोऽय-माकिञ्चन्येन वञ्चितः ।
अलमन्यैः स साकूतं, धन्यवक्त्रं च पश्यति ॥

अन्वयार्थौ—आकिञ्चन्येन = निर्धनता से, वञ्चित = ठगाया गया, सः अयम् = वह दरिद्र पुरुष, अकिंचित्करः = किंकर्तव्यविमूढ, स्यात् = हो जाता है। अन्यैः = औरो से, अलम् = बस, किन्तु, सः = वह निर्धन, साकूतं यथा स्यात्तथा = चाह के अभिप्राय पूर्वक, धन्यवक्त्रम् लक्ष्मीवानो के मुख को, अपि = भी, पश्यति=देखता है ॥८॥

भावार्थः—निर्धन होने से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है। अधिक तो क्या? वह किसी वस्तु की चाह के अभिप्राय से धनवानों के मुख की ओर भी ताकने लगता है। इस प्रकार श्रीदत्त वैश्य ने धन कमाने के कारण का विचार किया ॥८॥

सम्पल्लाभफलं पुंसां, सज्जनानां हि पोषणम् ।
काकार्थफलनिम्बोऽपि, श्लाघ्यते न रसालवत् ॥९॥

अन्वयार्थौ—पुंसाम् = मनुष्यों के, सम्पल्लाभफलम् = धन दौलत पाने का फल, सज्जनानाम्=धर्मात्मा जनो का, पोषणम्=रक्षण करना, एव=ही, अस्ति = है। नीतिः—हि=क्योंकि, काकार्थफलनिम्ब. = कौवे के लिये हितकारी है फल जिसका ऐसा नीम का वृक्ष, रसालवत् = आम के वृक्ष के समान, न श्लाघ्यते=प्रशंसनीय नहीं हो सकता ॥९॥

भावार्थः—जिस प्रकार नीम का वृक्ष यद्यपि कौवे के लिये हितकारी है; फिर भी वह सभी प्राणियों के काम नहीं आता, इसलिये वह सबके लिये सुस्वादु फलदायक आम्रवृक्ष के समान प्रशंसा नहीं पाता, उसी प्रकार नीच पुरुषों को धन दौलत खिलाने से यद्यपि उन्हें संतोष होगा पर धर्मात्माओं के प्रति व्यय होने से उसकी जितनी सार्थकता होती है, उतनी दुर्जनों के प्रति लगाने से नहीं, इसलिये सम्पत्ति पाने का फल सज्जनों का पोषण करना ही है ॥९॥

लोकद्वयहितं चापि, सुकरं वस्तु नासताम् ।
लवणाब्धिगतं हि स्या-न्नादेयं विफलं जलम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—च = और, लोकद्वयहितम् = इस लोक और पर-लोक में हितकारी, अपि = भी, वस्तु = पदार्थ, असताम् = दुर्जनो के, सुकरम्=सुख देने वाला, न भवति = नही होता । नीति—हि = क्योंकि, नादेयम्=नदी सम्बन्धी, जलम्=जल, लवणाब्धिगत सत् = लवण समुद्र में प्राप्त होता हुआ, विफलम्=बेकार, स्यात् = हो जाता है ॥१०॥

भावार्थ.—जैसे नदी का उतम और स्वादिष्ट भी जल समुद्र में मिलकर खारा और अपेय हो जाता है, उसी प्रकार सज्जनो क उभयलोक मे सुखदायक भी वस्तु दुर्जनों के दुःखजनक होती है, इसलिये सत्सम्पत्ति को पाकर दुर्जनो को देना उसका दुरुपयोग करना ही है, किन्तु सज्जनों के विषय मे खर्च करने से ही उसकी सफलता हो सकती है । इस प्रकार श्रीदत्त ने धन कमाने के फल का निश्चय किया ॥१०॥

इत्यूहान्नावमारुह्य, प्रतस्थे स वणिक्पतिः ।
वार्धिमेव धनार्थी किं, गाहते पार्थिवानपि ॥११॥

अन्वयार्थौ—सः = वह, वणिक्पति = वैश्य, इति = पूर्वोक्त, ऊहात् = विचार से, नावम् = नौका पर, आरुह्य = बैठ कर, प्रतस्थे =

रवाना हुआ। नीतिः--हि = क्योंकि, धनार्थी = धन का इच्छुक जन, वार्धिम् = समुद्र में, एव = ही, गाहते किम् = सैर करता है क्या? अपि तु, पार्थिवान्=द्वीप द्वीपान्तर और राजा महाराजाओं को, अपि = भी, गाहते=प्राप्त करता है ॥११

भावार्थ.--जो मनुष्य धन कमाने की धुन में मस्त हो जाता है, उसके समुद्रयात्रा कोई गणनीय बात नहीं, किन्तु वह दूरवर्ती बडे बड़े द्वीप द्वीपान्तर की सैर और बड़े बड़ राजा महाराजाओं की खुशामदें भी करता है, तदनुसार श्रीदत्त ने भी धनोपार्जन के कारण और फल को विचार कर समुद्रयात्रा करने के हेतु नाव पर सवार हो देशान्तर को प्रस्थान किया ॥११॥

देशान्तरान्न्यवर्तिष्ट, पुष्टः सांयात्रिको धनैः।
अतर्क्यं खलु जीवाना-मर्थसञ्चयकारणम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, सायात्रिकः = धनार्थ नाव से यात्रा करने वाला श्रीदत्त वैश्य, धनैः = बहुत धन से, पुष्टः सन् = युक्त होता हुआ, देशान्तरात् = दूसरे द्वीप से, न्यवर्तिष्ट = लौटा। नीतिः—यत् = क्योंकि, जीवानाम् = प्राणियों के, अर्थसचयकारणम् = धन कमाने का हेतु, खलु = निश्चय से, अतर्क्यम् = विचारातीत (भवति=होता है)।

भावार्थ.--धनोपार्जन के अनेक ऐसे कारण हैं, कि जिनसे मनुष्य के स्वल्प समय में ही लक्षाधीश या कोटिपति तक होते देर नहीं लगती, तदनुसार किसी द्वीपान्तर में जाकर श्रीदत्त भी किसी अनिर्वचनीय कारण से धन का उपार्जन कर शीघ्र ही स्वदेश को लौट आया ॥१२॥

अवारान्तमथ प्रापत्, पारावारस्य नाविकः।
चुक्षुभे नौरिहासारा-न्न हि वेद्यो विपत्क्षणः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, यदा = जब, नाविकः = नौका का स्वामी श्रीदत्त, पारावारस्य = समुद्र के, अवारान्तम् = द्वितीय तट के

समीप को, प्रापत् = प्राप्त हुआ, तदा = तब, इह = यहा पर, आसारात् = धाराप्रवाह वृष्टि से, नौः = नौका, चुक्षुभे = क्षोभित होगई। नीतिः— हि = क्योंकि, विपत्क्षणः = विपत्ति का समय, वेद्यः = पहिले से जानने योग्य, न भवति = नहीं होता ॥१३॥

भावार्थः—किस पर कब और क्या विपत्ति आवेगी यह पहिले से ही निश्चित नहीं किया जा सकता, तदनुसार श्रीदत्त को भी यकायक आई हुई विपत्ति का सामना करना पड़ा—वह धन दौलत के साथ समुद्र के किनारे पर पहुँचना ही चाहता था कि इतने में ही बडे जोर की वृष्टि से उसकी नौका क्षुब्ध होकर डूबने लगी ॥१३॥

पूर्वमेव तु नौनाशाच्-छोकाब्धिं पोतगा गताः।
काष्ठागतस्य दुःखस्य, दृष्टान्तं तद्धि नौक्षये ॥१४॥

अन्वयार्थौ—तु = और, पोतगाः = नौका पर बैठे हुए अन्य मनुष्य, नौनाशात् = नौका के नाश से, पूर्वम् = पहिले, एव = ही, शोकाब्धिम् = शोकरूपी समुद्र को, गताः = प्राप्त होगये। हि = निश्चय से, नौक्षये = नौका के नष्ट होजाने पर, तत् = वह शोक, काष्ठागतस्य = हद दरजे कोप्राप्त, दुःखस्य = दुःखका, दृष्टान्तम् = दृष्टान्त, जातम् = होगया।

भावार्थः—नौका ज्यों ज्यों जल (समुद्र) मग्न होती जाती थी त्यों त्यों नाव पर बैठे हुए मनुष्य भी शोकरूपी समुद्र में मग्न होते जाते थे। और जिस समय नोका बिलकुल ही डूबने लगी उस समय मनुष्यों के दुःख की जो हालत थी वह सब से ज्यादह दुःख का नमूना ही था। अर्थात् उस समय के दुःख बराबर तो संसार में और कोई दुःख हो ही नहीं सकता ॥१४॥

सांयात्रिकस्तु तत्त्वज्ञो, विकारं नैव जग्मिवान्।
अज्ञातमाज्ञस्य को भेदो, हेतोश्चेद्विकृति द्वयोः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, तत्त्वज्ञ. = विवेकी धीर, सांयात्रिक = नौका का स्वामी श्रीदत्त, विकारं = खेदादि विकार भाव को, न = नहीं, जग्मिवान् = प्राप्त हुआ। नीति —हि = क्योंकि, चेत् = यदि, हेतो. = विकार के कारण से, द्वयोः = मूर्ख और विवेकी दोनों के, विकृतिः = विकारभाव, स्यात् = हो, तर्हि = तो, अज्ञात् = मूर्ख से, प्राज्ञस्य = विद्वान् का, कः = कौन, भेदः = भेद (स्यात् = हो) ॥१५॥

भावार्थः—विवेकी जन तो विकार के कारण मिल जाने पर भी धैर्य धारण करते हैं, किन्तु मूर्ख जन घबड़ा जाते हैं, यही उन दोनों मे भेद है। किन्तु यदि विकार के कारण मिलने पर विवेकी जन भी विकारभाव को प्राप्त होने लगें तो उन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं कहा जा सकेगा, अतएव यद्यपि शेष जन तो नौका को डूबती देख 'हाय! हाय!! मरे मरे इत्यादि प्रकार से' घबड़ाने लगे, किन्तु विवेकी श्रीदत्त जरा भी विचलित नहीं हुआ ॥ १५ ॥

भाविन्या विपदो यूयं, विपन्नाः किं बुधाः शुचा।
सर्पशङ्काविभीताः किं, सर्पास्ये करदायिनः ॥१६॥

अन्वयार्थौ— बुधा. = हे समझदार पुरुषो, यूयम् = तुम सब, भाविन्या = भविष्य में होने वाली, विपद = विपत्ति के, शुचा = शोक से, विपन्ना. = दुःखी, किम् = क्यो (भवथ = होते हो)। नीतिः—यतः = क्योंकि, सर्पशङ्काविभीताः = सर्प के डर से भयभीत, जना. = मनुष्य, सर्पास्ये = सर्प के मुह में, करदायिनः = हाथ देने वाले, भवेयु. किम् = होते हैं क्या? किन्तु, न = नहीं ॥१६॥

भावार्थ—श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए लोगों को समझाता है कि हे समझदार लोगो! जो मनुष्य सर्प से डरता है वह उसके मुख में हाथ कभी नहीं देता, इसी प्रकार यदि आप लोग भी

विपत्ति से डरते हैं तो आपका भी कर्त्तव्य है कि आप भी विपत्ति के मुखस्वरूप शोक का परित्याग कर दें ॥१६॥

विपदस्तु प्रतीकारो, निर्भयत्वं न शोकिता ।
तच्च तत्त्वविदामेव, तत्त्वज्ञाः स्यात तद्बुधाः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—तु = और, बुधाः = हे समझदारो, विपदः = विपत्ति के, प्रतीकारः = दूर करने का उपाय, निर्भयत्वम् = निर्भयपना, एव = ही, अस्ति = है, शोकिता = शोक करना, न = नहीं, च = और, तत् = वह निर्भयपना, तत्त्वविदाम् = तत्त्वज्ञानियों के, एव = ही, भवति = होता है, अतएव, यूयम् = तुम सब, तत्त्वज्ञा. = तत्त्वज्ञानी, स्यात = होवो ॥१७॥

भावार्थ.—हे समझदारो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, किन्तु उसके लिये निर्भयता की जरूरत होती है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है, इसलिये तुमको भी तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर निर्भय होना चाहिये ॥१७॥

इत्यप्यबोधयत्सोऽयं, वणिक् पोताश्रितान्सुधीः ।
तत्त्वज्ञानं हि जीवानां, लोकद्वयसुखावहम् ॥१८॥

अन्वयार्थौ—इति = इसी प्रकार, स. = प्रसिद्ध, अयम् = यह, सुधी. = चतुर, वणिक् = श्रीदत्त वैश्य, पोताश्रितान् = नौका पर बैठे हुए, जनान् = मनुष्यों को, अपि = भी, अबोधयत् = समझाता हुआ । हि = निश्चय से, तत्त्वज्ञानम् = तत्त्वज्ञान, जीवानाम् = प्राणियों के, लोकद्वय-सुखावहम् = इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला, भवति = होता है ।

भावार्थः—तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति होती है, इस प्रकार श्रीदत्त ने नौका पर बैठे हुए लोगों को उपदेश दिया ॥१८॥

तावता नावि नष्टायां, दृष्टोऽभूत्कूपखण्डकः ।
सत्यायुषि हि जायेत, प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—तावता = इतने में ही, नावि = नौका के, नष्टायाम् = नष्ट होने पर, कः = कोई, कूपखण्डकः = नौका के बीच में हवा रोकने के लिये वस्त्रबन्धन का बल्ला, दृष्टः अभूत् = दिखलाई पड़ा। नीतिः— हि = क्योंकि, आयुषि सति = आयु के होने पर, प्राणिनाम् = प्राणियों के प्राणरक्षणम् = प्राणों की रक्षा, जायेत = होती ही है ॥१९॥

भावार्थः—जब तक प्राणी की आयु शेष रहती है और अकालमृत्यु आदि नहीं होनी होती है, तब तक उसकी रक्षा के साधन भी अपने आप ही मिलते रहते हैं। क्योंकि श्रीदत्त की भी आयु अभी शेष थी, अतएव नौका के नष्ट हो जाने पर एक मस्तूल का टुकड़ा उसके भी हाथ लग गया ॥१९॥

श्रीदत्तस्तु तमारुह्य, प्रासदद् द्वीपसंश्रितः।
राज्यभ्रष्टोऽपि तुष्टः स्याल्लब्धप्राणो हि जन्तुकः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—तु = और, श्रीदत्तः = श्रीदत्त तम् = उस बल्ले पर, आरुह्य = चढ़ कर, द्वीपसंश्रितः सन् = किसी द्वीप को प्राप्त होता हुआ, प्रासदत् = प्रसन्न हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, राज्यभ्रष्टः = राज्यभ्रष्ट, अपि = भी, जन्तुकः = मनुष्य, लब्धप्राणः = बच गये हैं प्राण जिसके ऐसा (सन् = होता हुआ) तुष्टः = प्रसन्न, स्यात् = होता है ॥२०॥

भावार्थ—श्रीदत्त सेठ उस नौका की लकड़ी के टुकड़े पर बैठकर धीरे धीरे किसी एक द्वीप के पास पहुँच कर मारे हर्ष के फूला नहीं समाया। क्योंकि मनुष्य राज्य से भले ही च्युत होजावे किन्तु यदि उसके प्राणों की रक्षा हो जावे तो उसे बहुत ही हर्ष होता है, अतएव श्रीदत्त ने भी उस धनके नाश को जरा भी परवाह न कर अपनी प्राणरक्षा से बहुत आनन्द माना ॥२०॥

नष्ट–शेवधि–रप्येष–मृष्टमेव–मतर्कयत्।
दुःखार्थोऽपि सुखार्थो हि, तत्त्वज्ञानधने सति ॥२१॥

अन्वयार्थौ—नष्टशेवधि =समुद्रमें डूब गई है धनराशि जिसकी ऐसा, अपि=भी, एष: = यह श्रीदत्त, मृष्टम् यथा स्यात्तथा = आकुलता से रहित, एव =वक्ष्यमाण रीति से, अतर्कयत् = विचारने लगा। नीति—हि=क्योंकि, तत्त्वज्ञानधने सति = तत्त्वज्ञान रूपी धन के होने पर, दुःखार्थः = दुःखकारक पदार्थ, अपि=भी, सुखार्थः=सुख का हेतु (भवति = होता है) ॥२१॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञान के होने पर दुःखोत्पत्ति के हेतु भूत वस्तु भी वैराग्योत्पत्ति आदि का कारण बन सुखदायक होजाती है, तदनुसार तत्त्वज्ञानी श्रीदत्त ने भी सारी धनसम्पत्ति के जलमग्न होजाने पर भी वस्तुस्वरूप का अनुभव कर निम्न प्रकार उत्तम विचार ही किया ॥२१॥

तृष्णाग्निदह्यमानस्त्वं, मूढात्मन्किन्नु मुह्यसि ।
लोकद्वयहितध्वंसो, न हि तृष्णारुषो भिदा ॥२२॥

अन्वयार्थौ मूढात्मन् = हे मूर्ख आत्मा, तृष्णाग्निदह्यमान = तृष्णारूपी अग्नि से जलता हुआ, त्वम् = तू, किन्नु = क्यो, मुह्यसि = मोहित होता है ? हि = क्योंकि, लोकद्वयहितध्वंसोः = इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित को नष्ट करने वाले, तृष्णारुषोः = तृष्णा और क्रोध में, भिदा = भेद, न अस्ति=नही है ॥२२॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जिस प्रकार क्रोध ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों पर पानी फेर देता है, उसी प्रकार यह तृष्णारूपी अग्नि भी तेरे उभयलोक को नष्ट करने वाली है, यह जान कर भी तू उसी तृष्णा के वशीभूत होकर पर वस्तुओं में मोहित हो रहा है, यह सर्वथा अनुचित है ॥२२॥

लोकद्वयहितायात्मन्, नैराश्यनिरतो भव ।
धर्मसौख्यच्छिदाशा ते, तरुच्छेदः फलार्थिनाम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मा, त्वम् = तू, लोकद्वयहिताय = दोनो लोको के हित के लिये, नैराश्यनिरतः = विषयभोग की तृष्णा से रहित, भव = होओ। यतः = क्योंकि, ते = तेरी, आशा = विषयभोगों की इच्छा, फलार्थिनाम् = उसी वृक्ष से फलो की चाह करने वालो के, तरुच्छेदः = उसी वृक्ष के काटने के समान, धर्मसौख्यच्छिन् = धर्म और सुख को नष्ट करने वाली (अस्ति = है) ॥२३॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जो मनुष्य जिस वृक्ष से फलों की चाह करता है, उसके द्वारा उसी वृक्ष का काटना जिस प्रकार अपनी इच्छा पर ही कुठाराघात करना है, उसी प्रकार धर्म और सुख के हेतु विषयाभिलाष करना भी धर्म और सुख का नाश कर देना ही है, इसलिये तुझे यदि उभयलोक के सुख की चाह है तो विषयाभिलाष का परित्याग कर ॥२३॥

संसारासारभावोऽय–महो साक्षात्कृतोऽधुना ।
यस्मादन्यदुपक्रान्त–मन्यदापतितं पुनः ॥२४॥

अन्वयार्थौ—अहो = आश्चर्य की बात है, यत् = कि, अधुना = इस समय, मया = मैंने, अयम् = यह, संसारासारभावः = संसार की असारता, साक्षात्कृत. = प्रत्यक्ष करली है। यस्मात् = क्योंकि, अन्यद् = कुछ, उपक्रान्तम् = प्रारम्भ किया था, पुनः = और, अन्यत् = और कुछ-आपतितम् = आ पड़ा है ॥२४॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! इस संसार की आसरता का अनुभव तो तुझे स्वयं ही हो चुका है, क्योंकि तूने जिस धन-संचय द्वारा नाना प्रकार के सांसारिक सुखों के भोगने का विचार किया था, वही परिश्रम से कमाया हुआ धन देखते देखते ही नष्ट होगया। अतएव इस विषयाभिलाष का परित्याग कर आत्म-कल्याण में लगना ही सर्वोत्तम है ॥२४॥

अतएव हि योगीन्द्रा, अपीन्द्रत्वार्हसम्पदम् ।
त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते, मुक्त्यै तेभ्यो नमो नमः ॥२५॥

अन्वयार्थौ—अतएव = इसीलिये, योगीन्द्राः = मुनिराज जैसे महापुरुष, इन्द्रत्वार्हसम्पदम् = इन्द्रपने के योग्य विभूति को, अपि = भी, त्यक्त्वा = छोडकर, मुक्त्यै = मुक्ति के हेतु, तपांसि = तपों को, तप्यन्ते = तपते हैं, तेभ्यः = उनके लिये, नमो नमः = बारम्बार नमस्कार (अस्तु = हो) ॥२५॥

भावार्थः—जब कि संसार असार और इसके अन्तर्गत वस्तुएँ नश्वर और दुःखदायक हैं, इसीलिये समझदार प्राणी इन्द्र, अहमिन्द्र और चक्रवर्ती आदि की विशाल विभूति पर भी पाद-प्रहार कर, मुनिपद धारण कर मुक्ति के हेतु तप तपते हैं और मोही जन उनके चरणों में सिर रगड़ते रगड़ते छुटकारा नहीं पाते ॥२५॥

इत्यूहोऽपि स दृष्टस्य, कस्यचित्स्वार्तिमूचिवान् ।
मध्ये मध्ये हि चापल्य-मामोहादपि योगिनाम् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—इत्यूहः = पूर्वोक्त विचार करने वाला, अपि = भी, सः = वह श्रीदत्त वैश्य, दृष्टस्य = देखे हुए, कस्यचित् = अपरिचित किसी पुरुष के (अग्रे = आगे) स्वार्तिम् = अपनी पीड़ा को, ऊचिवान् = कहता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, आमोहात् = मोहनीय कर्म के उदयपर्यन्त, मध्ये मध्ये = बीच बीच में, योगिनाम् = मुनीश्वरों के, अपि = भी, चापल्यम् = चपलता, (जायते = होजाती है) ॥२६॥

भावार्थः—जब तक मोहनीय कर्म का प्रबल उदय रहता है तब तक साधारण जन की तो बात ही क्या, किन्तु मुनीश्वरों के भी चञ्चलता उत्पन्न होती रहती है अतएव श्रीदत्त के भी मोह का प्रबल उदय था, जिससे यद्यपि उसने पहिले बहुत

विरक्ततापूर्ण विचार किया था, किन्तु जिस समय एक अपरिचित जन (धर नाम का विद्याधर) पास आया तब उसने अपनी सारी करुण कहानी उससे कह सुनाई ॥२६॥

यादृच्छिक इवायात-स्तत्कृच्छ्रं सोऽपि शुश्रुवान् ।
संसृतौ व्यवहारस्तु, न हि मायाविवर्जितः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—तु=और, यादृच्छिक इव=बिना किसी प्रयोजन के ही मानो स्वेच्छानुसार, आगत.=आये हुये, सः = उस विद्याधर ने, अपि = भी, तत्कृच्छ्रम् = उस श्रीदत्त के दुःख को, शुश्रुवान् = सुना । नीतिः—हि = क्योंकि, संसृतौ = संसार में, व्यवहार. = व्यवहार, मायाविवर्जितः = छलकपट रहित, न = नही (अस्ति=है) ॥२७॥

भावार्थः—संसार के अन्दर एक दूसरे में परस्पर जो कुछ भी व्यवहार होता है, उसमें प्रायः मायाचार का कुछ न कुछ अंश तो अवश्य ही रहता है, तदनुसार श्रीदत्त के पास किसी अज्ञात प्रयोजन से आया हुआ वह अपरिचित मनुष्य भी शिष्टाचार-परिपालन के हेतु उसकी करुण कहानी सुनने लगा ॥२७॥

श्रुत्वा मिषेण केनापि, नीत्वा राजतभूधरम् ।
स्वागतेः कारणं सर्व-मभाणीत्स वणिक्पतेः ॥२८॥

अन्वयार्थौ—ततः = फिर, सः = वह पुरुष, श्रुत्वा = सुनकर, केन=किसी, मिषेण = बहाने से, तम् = उस श्रीदत्त को, राजतभूधरम् = विजयार्ध पर्वत पर, नीत्वा=ले जाकर, स्वागतेः = अपने आने के, सर्वम् = सब, कारणम् = कारण को, वणिक्पतेः = श्रीदत्त वैश्य से, अभाणीत् = कहता हुआ । नोट—भूधरम्—यहां पर "दुह्याच्" इत्यादि कारिका के अनुसार द्विकर्मकता है ॥२८॥

भावार्थः—वह अभ्यागत जन, श्रीदत्त द्वारा कथित वृत्तान्त को आद्योपान्त सुन कर, किसी बहाने से उसे विजयार्ध

पर्वत पर ले गया और वहां पहुँच कर उसने अपने आने का कारण उस श्रीदत्त से निम्न प्रकार कहा ॥ २८ ॥

विजयार्धगिरावस्ति, दक्षिणश्रेणिमण्डने ।
गान्धारविषये ख्याता, नित्यालोकाह्वया पुरी ॥२९॥

अन्वयार्थौ—विजयार्धगिरौ = विजयार्ध पर्वत पर, दक्षिणश्रेणिमण्डने = दक्षिणश्रेणि के भूषणस्वरूप, गान्धारविषये = गान्धार देश में, ख्याता = प्रसिद्ध, नित्यालोकाह्वया = नित्यालोका नामक, पुरी = नगरी (अस्ति = है) ॥२९॥

भावार्थः—भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी की नगरियों में एक नित्यालोका नामक प्रसिद्ध नगरी है। (नोट—विजयार्ध पर्वत पर आ जाने पर चक्रवर्ती की दिग्विजय आधी हो जाती है, इससे इसे विजयार्ध कहते हैं) ॥२९॥

गरुड़वेगनामास्यां, राजा राज्ञी तु धारिणी ।
पुत्री गन्धर्वदत्ताभू-दभूत्सापि यवीयसी ॥३०॥

अन्वयार्थौ—अस्याम् = इस नगरी में, गरुडवेगनामा = गरुडवेग नामक, राजा = राजा, तु = और, धारिणी = धारिणी नामक, राज्ञी = रानी, अस्ति = है, तयोः = उन दोनो के, गन्धर्वदत्ता = गन्धर्वदत्ता नामक, पुत्री = पुत्री: अभूत् = हुई, च = और, सा = वह पुत्री, यवीयसी = अतिशय जवान, अपि = भी, अभूत् = होगई है ॥३०॥

भावार्थः—उस नगरी का राजा गरुड़वेग तथा रानी धारिणी नामक हैं और उन दोनों के गन्धर्वदत्ता नामक एक युवती (जवान) कन्या है ॥३०॥

वीणाविजयिनो भार्या, राजपुर्यामियं भवेत् ।
भूमावित्ति मुहूर्तज्ञा, जन्मलग्ने न्यजीगणन् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—इयम् = यह पुत्री, भूमौ = पृथ्वी पर, राजपुर्याम् = राजपुरी नगरी में, वीणाविजयिन. = वीणा में विजय पाने वाले किसी युवक की, भार्या = धर्मपत्नी, भवेत् = होगी, इति = इस प्रकार, मुहूर्तज्ञा. = ज्योतिषियो ने (अस्या. = इस पुत्री के) जन्मलग्ने = जन्मसमय में, व्यजीगणन् = कहा था ॥३१॥

भावार्थः—जिस समय यह कन्या पैदा हुई थी, उस समय ज्योतिषियों ने कहा था कि राजपुरी नगरी में जो कोई वीणा बजाने में इस पुत्री को हरा देवेगा, वही भूमिगोचरी मनुष्य इसका स्वामी होगा ॥३१॥

तदर्थं पार्थिवः सार्ध-मेकान्ते कान्तया तया ।
मन्त्रयित्वा तदान्ते मा-ममन्दप्रीतिरादिशत् ॥३२॥
कुलक्रमागता मैत्री, श्रीदत्तेनास्ति नस्ततः ।
गत्वा सत्वरमत्रैव, सोऽयमानीयतामिति ॥३३॥

अन्वयार्थौ—तदर्थम् = उस कार्य के लिये, पार्थिवः = राजा, एकान्ते = एकान्त स्थान में, तया कान्तया सार्धम् = उस धारिणी रानी के साथ, मन्त्रयित्वा = विचार कर, तदन्ते = उसके बाद, अमन्दप्रीतिः सन् = अत्यन्त आनन्दित होता हुआ, श्रीदत्तेन सह = श्रीदत्त के साथ, नः = हमारी, कुलक्रमागता = कुलपरम्परा से आई हुई, मैत्री = मित्रता, अस्ति = है, तत. = इसलिये, सत्वरम् = शीघ्र, गत्वा = जाकर, स. = प्रसिद्ध, अयम् = यह श्रीदत्त सेठ, अत्र = यहा पर, एव = ही, आनीयताम् = लाया जाय, इति = इस प्रकार, माम् = मुझ को, आदिशत् = आज्ञा देता हुआ ॥३२॥३३॥

भावार्थः—पुत्री के विवाह योग्य हो जाने पर राजा गरुड़वेग ने अपनी रानी धारिणी के साथ एकान्तस्थान में उसके विवाहार्थ विचार कर खुश होते हुये मुझसे कहा कि—'श्रीदत्त के

साथ मेरी बहुत पुरानी मित्रता है। उसके द्वारा यह कार्य आसानी से हो सकेगा' इसलिये तुम जाकर उसे शीघ्र मेरे पास लिवा लाओ ॥३२॥३३॥

भवन्तं परन्त्रोऽहं–नौभ्रंशभ्रान्तिमावहन् ।
नाम्ना धरः कृते भूम्ना, पुनरानीतवानिति ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पुन. = और, नाम्ना = नाम से, धरः = धर, परतन्त्र. = पराधीन नौकर, अहम् = मैं, कृते. = कार्य की, भूम्ना = गुरुता से, नौभ्रशभ्रान्तिम् = नौका के नाश के भ्रम को, आवहन् = करता हुआ, भवन्तम् = आपको, अत्र = यहां, आनीतवान् = लाया हूँ ॥३४॥

भावार्थः—गुरुड़वेग राजा का धर नामक पराधीन नौकर मैं नौका डूबने के भ्रममात्र को करता हुआ पूर्वोक्त आवश्यक कार्य से ही आपको यहां लाया हूँ। इस प्रकार 'धर' ने श्रीदत्त को लाने का कारण सुनाया ॥३४॥

श्रीदत्तोऽपि तदाकर्ण्य, तुतोष सुतरामसौ ।
दुःखस्यानन्तरं सौख्यं–मतिमात्रं हि देहिनाम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह, श्रीदत्तः = श्रीदत्त, अपि = भी, तत् = उस समाचार को, आकर्ण्य = सुन कर, सुतराम् = अत्यन्त, तुतोष = संतुष्ट हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, देहिनाम् = जीवों के, दुःखस्य = दुःख के, अनन्तरम् = बाद, अतिमात्रम् = अत्यन्त, सौख्यम् = सुख (भवति = होता है) ॥३५॥

भावार्थः—सुख के सद्भाव में मनुष्य को जो अन्य सुख का लाभ होता है उसकी उसे विशेषता मालूम नहीं होती; किन्तु दुःख के समय सुख का लाभ होने पर जो आनन्द होता है वह अनिर्वचनीय होता है, तदनुसार धन के नाश से दुखी श्रीदत्त भी धनके नाशको भ्रान्तिमात्र जानकर अपार आनन्द को प्राप्त हुआ।

असुखायत वैश्योऽपि, खेचरेन्द्रावलोकनात् ।
मित्रं धात्रीपतिं लोके, कोऽपरः पश्यतः सुखी ॥३६॥

अन्वयार्थौ—वैश्य = श्रीदत्त वैश्य, अपि = भी, खेचरेन्द्राव-लोकनात् = विद्याधरो के स्वामी के देखने से, असुखायत = आनन्दित हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = संसार में, मित्रम् = मित्रस्वरूप, धात्रीपतिम् = राजा को, पश्यतः = देखने वाले की अपेक्षा, अपरः = दूसरा, कः = कौन, सुखी = सुखी (भवति = हो सकता है। किन्तु, कोऽपि न = कोई भी नही) ॥३६॥

भावार्थः—इस संसार मे जिसका मित्र 'राजा' होता है उससे बढ़ कर सुखी कोई दूसरा नहीं माना जाता, तदनुसार श्रीदत्त वैश्य भी अपने अभिन्नहृदय मित्र गरुड़वेग राजा को देख कर अपूर्व सुख को प्राप्त हुआ ॥३६॥

नभश्चराधिपः पश्चा-त्तदायत्तां सुतां व्यधात् ।
प्राणेष्वपि प्रमाणं यत्, तद्धि मित्रमितीष्यते ॥३७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = पीछे, नभश्चराधिप = विद्याधरों का राजा गरुडवेग, सुताम् = अपनी सुपुत्री को, तदायत्ताम् = उस श्रीदत्त के आधीन, व्यधात् = करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, यत् = जो, प्राणेषु = प्राणो के विषय में, अपि = भी, प्रमाणम् = प्रमाण, स्यात् = हो, तत् = वह, मित्रम् = मित्र, इष्यते = कहलाता है ॥३७॥

भावार्थः—मित्र के हेतु जो अपने प्राणों को भी निछावर करने को कटिबद्ध रहता हो वही वास्तविक मित्र कहलाने का पात्र हो सकता है, अतएव गरुड़वेग ने भी अपने विश्वस्त मित्र श्रीदत्त को योग्य वर के साथ विवाहार्थ अपनी सुपुत्री सौंपते हुये लेशमात्र भी संकोच नहीं किया ॥३७॥

श्रीदत्तं सत्वरं तस्मात्, खेचरेशो न्यवर्तयत् ।
भक्तजायां हि सूत्याया-मयोग्यं कालयापनम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, खेचरेशः=विद्याधराधिपति ने, श्रीदत्तम् =श्रीदत्त को, तस्मात्=उस विजयार्ध से, सत्वरम्=शीघ्र, न्यवर्तयत् लौटाया। नीतिः—हि=क्योंकि, आत्मजायाम्=पुत्री के, सूत्यायाम्= जवान होजाने पर, कालयापनम्=विवाह के बिना समय बिताना, अयोग्यम्=अनुचित (भवति=होता है) ॥३८॥

भावार्थ.—विवाह योग्य होजाने पर पुत्री के विवाह में देर करना अनुचित है इसी विचार से विद्याधराधिपति गरुड़वेग ने इच्छानुसार विवाह कर देने की प्रेरणा कर श्रीदत्त को अपने स्थान से शीघ्र वापिस कर दिया ॥३८॥

गृहस्थानां हि तद्दौस्थ्य-मतिमात्रमरुन्तुदम् ।
कन्यानामप्रमादेन, रक्षणादिसमुद्भवम् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—हि= निश्चय से, कन्यानाम् =कन्याओं के, अप्रमादेन=सावधानी से (दोषादिरहित) रक्षणादिसमुद्भवम्=रक्षा आदि से उत्पन्न, तत्=वह, दौस्थ्यम्=दुःख, गृहस्थानाम्=गृहस्थों के, अतिमात्रम्=अत्यन्त, अरुन्तुदम्=मानसिकदुखजनक (भवति=होजाता है)।

भावार्थ.—क्योंकि सचेत और अप्रमादी होकर कन्याओं के सदाचार की रक्षा और पालन-पोषण आदि में गृहस्थों को जिन यातनाओं का अनुभव करना पड़ता है वे उनके प्रायः मर्मभेदक हुआ करती हैं ॥३९॥

तयामा स्वपुरं प्राप्य, श्रीदत्तोऽप्यथ तत्कथाम् ।
पत्न्याः प्रकटयामास, स्त्रीणामेव हि दुर्मतिः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, श्रीदत्त =श्रीदत्त ने, अपि = भी, तया अमा = उस पुत्री के साथ, स्वपुरम् = अपने नगर को, प्राप्य= प्राप्त होकर, तत्कथाम् = उस पुत्री सम्बन्धी समाचार को, पत्न्या.= अपनी स्त्री से, प्रकटयामास=कहा। नीति—हि=क्योंकि, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, दुर्मति. = दुर्बुद्धि, एव = ही (भवति = होती है) ॥४०॥

भावार्थ.—स्त्री का स्वभाव बहुत कुटिल होता है इसलिये 'यह किसी प्रकार की अन्यथा आशङ्का न करे' इस विचार से श्रीदत्त ने कन्या के साथ अपने घर पहुँचते ही उसका सारा समाचार अपनी धर्मपत्नी से कह सुनाया ॥४०॥

वीणाविजयिनो योग्या, भोग्या पुत्री ममेति सः ।
कटके घोषयामास, राजानुमतिपूर्वकम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—स = उस श्रीदत्तने, मम=मेरी, योग्या = सर्वगुण-सम्पन्न, पुत्री=पुत्री, वीणाविजयिनः=उसके साथ वीणा में जीतने वाले के, भोग्या = भोगने योग्य (स्त्री) (स्यात्=होगी) इति = इस प्रकार, राजानुमतिपूर्वकम् = राजा की सम्मतिपूर्वक, कटके = नगर में, घोषयामास = घोषणा कराई ॥४१॥

भावार्थ:—श्रीदत्त सेठ ने प्रकृत कार्य के हेतु राजा काष्ठाङ्गार की सम्मति लेकर 'मेरी सर्वगुणसम्पन्न सुपुत्री को जो वीणा बजाने मे परास्त कर देगा वही इसका पति होगा' इस प्रकार समस्त राजपुरी मे घोषणा करादी ॥४१॥

अकुतोभीतिता भूमे-र्भूपानामाज्ञयान्यथा ।
आस्तामन्यत्सुवृत्तानां, वृत्तं च न हि सुस्थितम् ॥४२॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, भूपानाम् = राजाओ की, आज्ञया = आज्ञा से, भूमेः मध्ये = भूमण्डल पर, अकुतोभीतिता भवति = कही से भी भय नही रहता । च = और, अन्यथा = राजा की आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करने पर, अन्यत् = और बात तो, आस्ताम् = दूर रहे, किन्तु, सुवृत्तानाम् = व्रतधारी पुरुषो का, वृत्तम् = सदाचार, च = भी, सुस्थितम् = स्थिर, न तिष्ठति = नही रहता ॥४२॥

भावार्थ:—अपने कार्य के हेतु राजा की आज्ञा ले लेने पर मनुष्यों को कहीं से किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता। किन्तु

उनकी आज्ञा न लेने पर और आपत्तियों की तो बात ही क्या किन्तु मनुष्यों का व्रताचरण भी स्थिर नहीं रह पाता ॥४२॥

वीणामण्डपमासेदु–स्तावता धरणीभुजः ।
स्त्रीरागेणात्र के नामं, जगत्यां न प्रतारिताः ॥४३॥

अन्वयार्थों—तावता = घोषणा के सुनते ही, धरणीभुज = राजा लोग, वीणामण्डपम् = वीणा बजाने के हेतु बनाये गये मण्डप में, आसेदु=आये । नीतिः—हि = क्योंकि, अत्र = इस, जगत्याम् = लोक में, स्त्रीरागेण=स्त्रियो के राग से, के = कौन, न प्रतारिताः = नहीं ठगाये गये हैं, किन्तु, सर्वे प्रतारिता = सभी ठगाये गये हैं ॥४३॥

भावार्थः—लोक में स्त्रियों के मोह से प्रायः सभी ठगाये जाते हैं, यहा तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि महापुरुष भी उनके चंगुल से नहीं बचे । अतएव श्रीदत्त के द्वारा घोषित घोषणा के सुनते ही दूर दूर के राजा महाराजा, गन्धर्वदत्ता को जीतने की चाह से वीणामण्डप में आ डटे ॥४३॥

कन्यायाः परिवादिन्यां, पराजेषत पार्थिवाः ।
अपुष्कला हि विद्या स्या–दवज्ञैकफला क्वचित् ॥४४॥

अन्वयार्थों—पश्चात् = पार्थिव = सब राजा, कन्यायाः = गन्धर्वदत्ता की, परिवादिन्याम् = परिवादिनी नामक वीणा में, पराजेषत हार गये । नीति—हि = क्योंकि, अपुष्कला = अपूर्ण, विद्या = ज्ञान क्वचित् = कही पर, अवज्ञैकफला = अपमान ही है फल जिसका ऐसा, स्यात् = होता है ॥४४॥

भावार्थः—अपूर्ण विद्या कहीं न कहीं पर अपमानजनक अवश्य होती है, अतएव जो बड़े बड़े राजा महाराजा गन्धर्वदत्ता को जीत कर उससे विवाह करने की धुन में मस्त होकर आये थे उन्हें गन्धर्वदत्ता ने परिवादिनी नामक वीणा बजा कर इस प्रकार परास्त किया कि वे मक्खी मारते रह गये ॥४४॥

जीवन्धरकुमारस्तु, घोषवत्यां जिगाय ताम् ।
अनवद्या हि विद्या स्या-ल्लोकद्वयफलावहा ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, जीवन्धरकुमारः=जीवन्धर कुमार, घोषवत्याम्=घोषवती नामक वीणा में, ताम्=उस कन्या को, जिगाय =जीत गया। नीतिः—हि=क्योंकि, अनवद्या=निर्दोष, विद्या=विद्या, लोकद्वयफलावहा=उभयलोक में उत्तम फल देने वाली, स्यात्= होती है ॥४५॥

भावार्थः—भली प्रकार अभ्यस्त विद्याएँ ऐहिक और पारलौकिक कार्यों को अवश्य सिद्ध करती हैं, अतएव यद्यपि वीणा बजाने में अपरिपक्व बडे बड़े राजा महाराजा तो हार गये परन्तु वीणावादनकुशल जीवन्धर ने घोषवती नामक वीणा बजा कर गन्धर्वदत्ता को क्षणमात्र में पराजित कर दिया ॥४५॥

पराजयं जयाच्छ्लाघ्यं, मत्वा सापि तमासदत् ।
अन्तिकं कृतपुण्यानां, श्रीरन्विष्य हि गच्छति ॥४६॥

अन्वयार्थौ—सा=वह कन्या, अपि=भी, पराजयम्=हार को, जयात्=जीत से, श्लाघ्यम्=उत्तम, मत्वा=मान कर, तम्= उस जीवन्धर को, आसदत्=प्राप्त हुई। नीतिः—हि=क्योंकि, श्री= लक्ष्मी, अन्विष्य=खोजकर, कृतपुण्यानाम्=पुण्यात्मा जनों के, अन्तिकम्=समीप में, गच्छति=प्राप्त होती है ॥४६॥

भावार्थः—लक्ष्मी, भाग्यवानों के समीप स्वयं तलाश कर पहुँच जाती है, अतएव गन्धर्वदत्ता भी "यदि मैं जीत जाती तो ऐसे पुण्यात्मा पति का लाभ न होता।" ऐसा विचार कर पराजय को भी जीत से उत्तम मानकर जीवन्धर के समीप आई ॥४६॥

आमुमोचाथ मोचोरुः, स्रजं जीवकवक्षसि ।
कुर्वन्तु तप इत्येवं, सर्वेभ्यो ब्रुवतीव सा ॥४७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, मोचोरुः = केले के समान सुन्दर और पुष्ट हैं जाँघें जिसकी ऐसी, सा=वह गन्धर्वदत्ता, यूयम्=तुम सब, तपः=तप को, कुर्वन्तु=करो, इत्येवम्=इस प्रकार, सर्वेभ्य = सब राजाओ से, ब्रुवती=कहती हुई, इव=ही, जीवकवक्षसि = जीवन्धरके गले में, स्रजम्=वरमाला को, आमुमोच = पहिनाती हुई ॥४७॥

भावार्थः—सुयोग्य कन्या सौभाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त हुआ करती है—सर्वसाधारण को नहीं, इसी बातको प्रगट करते हुये ही मानो गन्धर्वदत्ता ने अन्य राजाओं की उपेक्षा कर जीवन्धरस्वामी के गले मे वरमाला डाल दी ॥४७॥

काष्ठाङ्गारस्तु तद्वीक्ष्य, क्षितिपान्समधुक्षयत् ।
अन्याभ्युदयखिन्नत्वं, तद्धि दौर्जन्यलक्षणम् ॥४८॥
क्रयविक्रययो र्योग्यः, कुप्यानां वैश्यसूनकः ।
कथं लभेत स्त्रीरत्नं, शस्तं वस्तु हि भूभुजाम् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—तु=और, काष्ठाङ्गारः=काष्ठाङ्गार, तत्=उस वरमाला के डालने को, वीक्ष्य=देखकर, क्षितिपान्=अभ्यागत राजाओं को, इति=इस प्रकार, समधुक्षयत्=भड़काता हुआ । नीति =हि= क्योंकि, अन्याभ्युदयखिन्नत्वम्=दूसरे के उत्कर्ष से जलना, एव=ही, दौर्जन्यलक्षणम्=दुर्जनता का चिह्न (अस्ति = है) ॥४८॥

अन्वयार्थौ—कुप्यानाम्=सुवर्ण और चांदी के सिवाय अन्य धातुओ के वर्तन आदि के, क्रयविक्रययो = खरीदने और बेचने के, योग्य.=योग्य, वैश्यसूनुक =क्षुद्र वैश्यपुत्र, स्त्रीरत्नम्= रत्नस्वरूप उत्तम स्त्री को, कथम् = कैसे, लभेत = पा सकता है । नीति —हि = क्योंकि, शस्तम् = उत्तम, वस्तु = वस्तु, भूभुजाम् = राजाओ की (भवति=होती है) ॥४९॥

भावार्थ.—दूसरों के उत्कर्ष को देख कर जलना ही दुर्जनता का अव्यभिचारी लक्षण है, अतएव जीवन्धर की वरमाला

की प्राप्ति को सहन न कर दुष्ट काष्ठाङ्गार ने भी "राज्यस्थित उत्तमोत्तम वस्तुओं पर राजाओं का ही अधिकार होता है, अतएव यह स्त्रीरत्न भी राजा द्वारा बलात् ग्रहण करने योग्य है। इसे यह बर्तन आदि का क्रेता और विक्रेता बनिये का छोरा, हम क्षत्री राजाओं के होते हुए वर ले जावे यह कहां तक सह्य हो सकता है?" इत्यादि कह कर सभास्थित राजाओं को जीवन्धर के प्रतिकूल भड़का दिया ॥४८॥४९॥

इति संधुक्षितास्चक्रुः, स्वामिना तेऽपि संयुगम्।
प्रकृत्या स्यादकृत्ये धी-र्दुःशिक्षायां तु किम्पुनः ॥५०॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त रीति से, सन्धुक्षिताः = भड़काये गये, ते = वे राजा लोग, अपि = भी, स्वामिना सह = जीवन्धर स्वामी के साथ, संयुगम् = युद्ध को, चक्रुः = करने लगे। नीतिः—धीः = बुद्धि, अकृत्ये = खोटे कार्य में, प्रकृत्या = स्वभाव से, स्यात् = प्रवृत्त होती है, दुःशिक्षायाम् = खोटी शिक्षा मिलने पर, तु = तो, किम् = कहना ही क्या है?

भावार्थः—जब कि बुद्धि खोटे कार्य में अपने आप ही प्रवृत्त होती है तब खोटी शिक्षा के मिलने पर प्रवृत्त होगी ही, अतएव काष्ठाङ्गार के भड़काने से अन्य मूर्ख राजाओं ने भी क्रुद्ध होकर जीवन्धर के साथ युद्ध छेड़ दिया ॥५०॥

पराजेषत भूपास्ते, धन्विनां चक्रवर्तिनः।
अलं काकसहस्रेभ्य:, एकैव हि दृषद्भवेत् ॥५१॥

अन्वयार्थौ—ते = वे, भूपाः = राजा, धन्विनाम् = धनुर्धारियों के, चक्रवर्तिन = चक्रवर्ती, जीवन्धरात् = जीवन्धर से, पराजेषत = हार गये। नीतिः—हि = क्योंकि, काकसहस्रेभ्यः = हजारों कौवों को उड़ाने के लिये, एका = एक, एव = ही, दृषत् = पत्थर, [illegible] पर्याप्त, भवेत् = होता है ॥५१॥

भावार्थः—जिस प्रकार हजारों कौवों को उड़ाने के लिये एक ही पत्थर का फेंकना पर्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार सैकड़ों भी राजा एक जीवन्धर के सामने क्षणमात्र भी नहीं टिक सके।

स्थाने कन्यामनः सक्त-मित्यूचुः सज्जना मुदा।
सुधासूतेः सुधोत्पत्ति-रपि लोके किमद्भुतम् ॥५२॥

अन्वयार्थों—और, सज्जना.=सज्जन लोग, कन्यामन =गन्धर्वदत्ता कन्या का मन, स्थाने=योग्य स्थान में, सक्तम्=आसक्त हुआ। इति=इस बात को, मुदा=हर्ष से, ऊचु.=कहने लगे। नीति.—हि=क्योंकि, लोके=संसार में, सुधासूते=चन्द्रमा से, सुधोत्पत्ति=अमृत की उत्पत्ति, अद्भुतम्=आश्चर्यजनक, भवति किम्=होती है क्या?

भावार्थ.—जैसेकि संसार में चन्द्रमा से अमृत की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। अतएव इसमे कोई आश्चर्य नहीं होता, उसी प्रकार अपने योग्य वस्तु की ही चाह करना बुद्धिमानों और योग्य कार्य होते देख खुश होना सज्जनों का भी स्वभाव ही है। अतएव जब गन्धर्वदत्ता कन्या ने योग्य वर जीवन्धर मे ही प्रेम प्रगट किया तब सज्जनों ने भी उसकी शतमुख प्रशसा की ॥५२॥

अथ गन्धर्वदत्तां तां, श्रीदत्तेनाग्निसाक्षिकम्।
दत्तां स जीवकस्वामी, पर्यणैष्ट यथाविधि ॥५३॥

अन्वयार्थों—अथ=इसके बाद, स: = उन, जीवकस्वामी = जीवन्धर स्वामी ने, श्रीदत्तेन=श्रीदत्त के द्वारा, दत्ताम्=प्रदान की गई, ताम्=उस, गन्धर्वदत्ताम् = गन्धर्वदत्ता को, यथाविधि=जैन विवाह विधि के अनुसार, पर्यणैष्ट=वरण किया ॥५३॥

भावार्थ.—पश्चात् जीवन्धर ने गन्धर्वदत्ता के पिता (गरुड वेग) के अभिन्नमित्र श्रीदत्त द्वारा प्रदत्त गन्धर्वदत्ता कन्या को जैन विवाहविधि के अनुसार हवनादिपूर्वक व्याहा ॥५३॥

॥ इति तृतीयो लम्बः समाप्तः ॥

भावार्थः—जिस प्रकार रसायन के संयोग से तुच्छ लोहा भी स्वर्ण बन जाता है, उसीप्रकार अन्त समय में णमोकार मन्त्र के श्रवणसे कुत्ता भी अग्रिम पर्याय में यक्षों का अधिपति होगया।

मरणाक्षणलब्धेन, येन श्वा देवताजनि।
पञ्चमन्त्रपदं जप्य-मिदं केन न धीमता ॥१०॥

अन्वयार्थौ—मरणाक्षणलब्धेन = मृत्यु के समय श्रुत, येन = जिस णमोकार मन्त्र से, श्वा = कुत्ता, अपि = भी, देवता = देव, अजनि = होगया, इदम् = यह प्रसिद्ध, पञ्चमन्त्रपदम् = पच णमोकार, मन्त्र, केन = किस, धीमता = बुद्धिमान के द्वारा, न जप्यम् = जपने योग्य नही है ? किन्तु, सर्वैरेव जप्यम्=सभीके द्वारा जपनीय है ॥१०॥

भावार्थः—केवल मृत्यु समय में जिस मन्त्र के श्रवण से कुत्ता भी मर कर देव हुआ, उसके जीवन में अनेक बार जपने से तो अपूर्व फल की प्राप्ति हो सकती है। अतएव आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है, कि वे इस णमोकार मन्त्र का सदा जाप करें ॥१०

स कृतज्ञचरो देवः, कृतज्ञत्वात्तदागमत्।
अन्तर्मुहूर्ततः पूर्ति,र्दिव्याया हि तनो र्भवेत् ॥११॥

अन्वयार्थौ—कृतज्ञचरः = भूतपूर्व कुत्ते का जीव, सः = वह, देवः = देव, कृतज्ञत्वात् = उपकार का ज्ञाता होने के कारण, तदा = उसी समय, तत्र = उस जीवन्धर के पास, आगमत् = आया। नीतिः— हि = क्योंकि, दिव्यायाः = देवो सम्बन्धी, तनोः = शरीर की, पूर्तिः = पूर्णता, अन्तर्मुहूर्ततः = अन्तर्मुहूर्त में, भवेत् = हो जाती है ॥११॥

भावार्थः—देवों के शरीर की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है, तदनुसार कुत्ते का जीव भी मर कर अन्तर्मुहूर्त में ही देवपर्याय धारण कर अवधिज्ञान से पूर्व सर्व वृत्तान्त जान कर कृतज्ञता से शीघ्र जीवन्धर के पास आया ॥११॥

कुमारममरो दृष्ट्वा, हृष्टस्तुष्टाव मृष्टवाक् ।
उपकारस्मृतिः कस्य, न स्यान्नो चेदचेतनः ॥१२॥

अन्वयार्थौ— कुमारम् = जीवन्धर कुमार को, दृष्ट्वा = देखकर, हृष्टः = आनन्दित, मृष्टवाक् = निर्दोषवक्ता, अमरः = यक्षेन्द्र, तुष्टाव = स्तुति करने लगा । नीति —हि = क्योकि, चेत् = यदि, अचेतनः = अजीव, न स्यात् = न हो, तर्हि = तो, उपकारस्मृतिः = उपकार का स्मरण, कस्य = किसके, न स्यात् = न होगा ॥१२॥

भावार्थ —सज्जन लोग अपने उपकारी के द्वारा कृत उपकार को जीते जी नहीं भूलते। अतएव सज्जन और कृतज्ञ यक्षेन्द्र भी मन्त्रश्रावण रूप उपकार का स्मरण कर उसके प्रत्युपकरार्थ जीवन्धर के पास आया और उन्हें देख खुश हो उनकी बहुत स्तुति करने लगा ॥१२॥

व्यस्मेष्ट तेन न स्वामी, मनुमाहात्म्यनिर्णयात् ।
मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण, देवत्वं न हि दुर्लभम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—स्वामी = जीवन्धर स्वामी, मनुमाहात्म्यनिर्णयात् = णमोकार मन्त्र के प्रभाव के निश्चय से, तेन = उस देव के अवलोकन और अपनी स्तुति से, न व्यस्मेष्ट = आश्चर्ययुक्त नही हुए । नीति.—हि = क्योकि, मुक्तिप्रदेन = मुक्ति के देने वाले, मन्त्रेण = णमोकार मन्त्र से, देवत्वम् = देवपना, दुर्लभम् = दुष्प्राप्य, न भवति = नही होता ॥१३॥

भावार्थः—जिस मन्त्र के प्रभाव से और की तो बात ही क्या, किन्तु मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है, उसके द्वारा देवपना पाना तो ना कुछ बात है। इस प्रकार मन्त्र के प्रभाव के दृढ़ निश्चय से कुत्ते के जीव को देव हुआ जानकर जीवन्धर को लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३॥

स्मर्तव्योऽस्मि महाभागे-त्युक्त्वा देवस्तिरोऽभवत् ।
प्रतिकर्तुं कथं नेच्छे-दुपकर्तुः सचेतनः ॥१४॥

अथ चतुर्थो लम्बः

(32)

अथ जीवन्धरस्वामी, रेमे रामासमन्वितः।
संसारेऽपि यथायोग्याद्, भोग्यान्ननु सुखी जनः ॥१॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके पश्चात्, रामासमन्वितः = स्त्रीयुक्त, जीवन्धरस्वामी = जीवन्धर, रेमे = विषयभोग करने लगे। नीति—हि = क्योंकि, संसारे = संसार में, अपि = भी, जनः = मनुष्य, यथायोग्यात् = योग्यतानुकूल, भोग्यात् = भोग्य वस्तु से, ननु = निश्चय से, सुखी = सुखी (भवति = होता है) ॥१॥

भावार्थः—संसारमें प्रत्येकप्राणी अपनी इच्छा और योग्यता के अनुकूल सांसारिक भोग्य वस्तुओं को भोगकर आनन्द मानता है, तदनुसार गन्धर्वदत्ता के साथ विवाह होने के पश्चात् जीवन्धर ने भी उसके साथ भोग कर अपने को सुखी माना।

माधवोऽथ जलक्रीडां, पौराणामुदपादयत्।
रागान्धानां वसन्तो हि, बन्धुरग्नेरिवानिलः ॥२॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके बाद, माधवः = वसन्त ऋतु, पौराणाम् = पुरवासियों के, जलक्रीडाम् = जलक्रीडा को, उदपादयत् = उत्पन्न करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, वसन्तः = वसन्त ऋतु, अग्नेः = अग्नि के, अनिलः इव = वायु के समान, रागान्धानाम् = विषयी जनों का, बन्धुः = मित्र, अस्ति = है ॥२॥

भावार्थ—अथानन्तर वसन्तऋतु का आगमन हुआ और वह वसन्त, जिस प्रकार वायु अग्नि को बढ़ाता है, उसी प्रकार विषयानुरागियों के विषयानुराग का वर्धक होता है, अतएव उसके आगमन से उत्तेजित हो पुरवासियों ने जलक्रीड़ा (सरोवरों में नायिका,नायककी जलद्वारा फाग आदि) करना आरम्भ किया।

जीवन्धरकुमारोऽपि, मित्रैर्द्रष्टुमयादमूम् ।
नवापगाजलक्रीडां, लोको ह्यभिनवप्रियः ॥३॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धरकुमारः=जीवन्धर, अपि = भी, मित्रैः सार्धम् = मित्रों के साथ, अमूम् = इस, नवापगाजलक्रीडाम् = नदी में की जाने वाली नूतन जलक्रीडा को, द्रष्टुम् = देखने को, अयात् = गये। नीतिः—हि = क्योंकि, लोकः = जनसमुदाय, अभिनवप्रियः = नवीन वस्तु में प्रेम करने वाला (भवति = होता है) ॥३॥

भावार्थः—नवीन वस्तु से प्रेम करना प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव ही है, तदनुसार जीवन्धर भी इस नूतन जल-क्रीड़ा को देखने का लालसी हो मित्रों के साथ क्रीडा-स्थल पर पहुँचा ॥३॥

अवर्धिषु द्विजास्तत्र, हविर्दूषित-भाषणम् ।
क्रूराः किं किं न कुर्वन्ति,कर्म,धर्मपराङ्मुखाः ॥४॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहा पर, द्विजाः = ब्राह्मणो ने, हविर्दूषितभाषणम् = हवन सामग्री को जूँठा कर देनेवाले कुत्ते को, अवधिषु = अधमरा कर दिया । नीति —हि = क्योंकि, धर्मपराङ्मुखाः = धर्महीन, क्रूराः=दुष्टजन, किं किम् = किस किस, कर्म = खोटे कार्य को, न कुर्वन्ति = नही करते हैं ? किन्तु, सर्वं कुर्वन्ति = सभी कर डालते हैं ।

भावार्थः—धर्मशून्य जन किसी भी खोटे कार्य को करते हुए नहीं संकुचते हैं, तदनुसार क्रीडादर्शनार्थ नदी पर पहुँच कर जीवन्धर ने वहां पर प्रारब्ध हवन की सामग्री को उच्छिष्ट (जूंठा) कर देने के कारण ब्राह्मणों के द्वारा अधमरे किये गये एक कुत्ते को देखा ॥४॥

निर्निमित्तमपि घ्नन्ति, हन्त जन्तूनधार्मिकाः ।
किम्पुनः कारणाभासे, को चेदत्र निवारकः ॥५॥

अन्वयार्थौ—हन्त=खेद है कि, अधार्मिकाः = पापीजन, सदा=

जब, निर्निमित्तम् = कारण बिना, अपि = ही, जन्तून् = प्राणियों को, घ्नन्ति = मार डालते हैं। तब, कारणाभासे = झूठ मूठ कारण के मिल जाने पर, निवारक. = रोकने वाला, नो चेत् = न मिले, पुनः = तो फिर, किम् = कहना ही क्या है ? ॥५॥

भावार्थः—जब कि पापी जन निष्कारण ही निर्बल प्राणियों का गला घोंट देते हैं, तब यदि कोई मिथ्या कारण मिल जावे और उनके कुकर्म का कोई निषेध नहीं करे तो फिर उनकी निर्दयता का कहना ही क्या है ? ॥५॥

तद्व्यथां वीक्षमाणोऽयं, कुमारो विषसाद सः।
तद्धि कारुण्यमन्येषां,स्वस्येव व्यसने व्यथा ॥६॥

अन्वयार्थौ—तद्व्यथाम् = उस कुत्ते की पीड़ा को, वीक्ष्यमाण. = देखने वाला, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, कुमारः = जीवन्धर कुमार, विषसाद = दुखी हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, परेषाम् = दूसरो के, व्यसने = दु.ख में, स्वस्य = अपने (जाता = हुई) व्यथा इव = पीडा के समान, व्यथा = पीडा होना, एव = ही, कारुण्यलक्षणम् = दयालुता का चिन्ह (अस्ति = है)।

भावार्थः—अपने ऊपर किसी आपत्ति के आ जाने पर मनुष्य जिस प्रकार दुखी होता है, उसी प्रकार दूसरे पर आई हुई आपत्ति को भी अपनी आपत्ति समान जान, तदनुसार दुःख का अनुभव करना ही दयालुता है। अतः दयालु जीवन्धर भी उस कुत्तेके मरणकालिक छटपटाने के दुःखको देखकर बहुत दुखी हुये।

प्रत्युज्जीवयितुं श्वानं—यत्नेनाप्यथ नाशकत्।
न ह्यकालकृतो यत्नो, भूयानपि फलप्रदः ॥७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अयम् = यह जीवन्धर, श्वानम् = कुत्ते को, यत्नेन = कोशिश से, अपि = भी, प्रत्युज्जीवयितुम् = जिलाने को, न अशकत् = समर्थ नही हुए। नीतिः—हि = क्योंकि, अकालकृतः

=असमय में किया हुआ, भूयान्=बहुत, अपि=भी, यत्न=यत्न, फलप्रद=फलदायक, न भवति=नहीं होता ॥७॥

भावार्थ—असमय में किया गया यत्न बहुत भी क्यों न हो, किन्तु उससे फलप्राप्ति या इच्छापूर्ति होना असम्भव ही है। तदनुसार वह कुत्ता भी बुरी तरह घायल हो चुका था और उसके उपचार के योग्य समय भी बीत चुका था, जिससे अनेक यत्न करने परभी जीवन्धरकुमार उसे जीवित रखने मे सफल न हो सके।

परलोकार्थ – मस्यायं, पञ्चमन्त्र – मुपादिशत्।
निर्वाणपथपान्थानां–पाथेयं तद्धि किम्परैः ॥८॥

अन्वयार्थो - तथापि, अयम्=यह जीवन्धर, अस्य=इस कुत्ते के, परलोकार्थम्=परभव के सुधारार्थ, पञ्चमन्त्रम्=पञ्चनमस्कारमन्त्र को, उपादिशत्=उपदेश देता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, तत्=वह पञ्चनमस्कारमन्त्र, परैः=और तो, किम्=क्या? निर्वाणपथपान्थानाम् = मोक्षमार्ग के राहगीरो के, पाथेयम्=नाश्ता के सदृश (अस्ति=है)।

भावार्थः—जिस प्रकार पथिक को यात्रा मे कलेवा सहायक होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वालों को णमोकार मन्त्र भी प्रथम सहायक (द्वार) है। अतएव जीवन्धर ने भी कुत्ते को परभव में मोक्षमार्गगामी बनाने रूप सुधारार्थ उसे मरते समय णमोकार मन्त्र सुनाया॥८॥

यक्षेन्द्रोऽजनि यक्षोऽय–महो मन्त्रस्य शक्तितः।
कालायसं हि कल्याणं, कल्पते रसयोगतः ॥९॥

अन्वयार्थो—और, अहो=आश्चर्य है कि, अयम्=यह, यक्षः=कुत्ता, मन्त्रस्य=णमोकारमन्त्र के, शक्तितः=प्रभाव से, यक्षेन्द्रः=यक्ष जाति के देवों का स्वामी, अजनि=हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, रसयोगतः=रस के सम्बन्ध से, कालायसम्=लोहा, अपि=भी, कल्याणम्=सुवर्णरूप, कल्पते=हो जाता है ॥९॥

भावार्थः—जिस प्रकार रसायन के संयोग से तुच्छ लोहा भी स्वर्ण बन जाता है, उसीप्रकार अन्त समय में णमोकार मन्त्र के श्रवणसे कुत्ता भी अग्रिम पर्याय में यक्षों का अधिपति होगया।

मरणक्षणलब्धेन, येन श्वा देवताजनि।
पञ्चमन्त्रपदं जप्य-मिदं केन न धीमता ॥१०॥

अन्वयार्थौ—मरणक्षणलब्धेन = मृत्यु के समय श्रुत, येन = जिस णमोकार मन्त्र से, श्वा = कुत्ता, अपि = भी, देवता = देव, अजनि = होगया, इदम् = यह प्रसिद्ध, पञ्चमन्त्रपदम् = पंच णमोकार, मन्त्र, केन = किस, धीमता = बुद्धिमान के द्वारा, न जप्यम् = जपने योग्य नहीं है ? किन्तु, सर्वैरेव जप्यम् =सभीके द्वारा जपनीय है ॥१०॥

भावार्थः—केवल मृत्यु समय मे जिस मन्त्र के श्रवण से कुत्ता भी मर कर देव हुआ, उसके जीवन में अनेक बार जपने से तो अपूर्व फल की प्राप्ति हो सकती है। अतएव आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है, कि वे इस णमोकार मन्त्र का सदा जाप करें ॥१०

स कृतज्ञचरो देवः, कृतज्ञत्वात्तदागमत्।
अन्तर्मुहूर्ततः पूर्ति,र्दिव्याया हि तनो र्भवेत् ॥११॥

अन्वयार्थौ—कृतज्ञचरः = भूतपूर्व कुत्ते का जीव, सः = वह, देवः = देव; कृतज्ञत्वात् = उपकार का ज्ञाता होने के कारण, तदा = उसी समय, तत्र = उस जीवन्धर के पास, आगमत् = आया। नीतिः— हि = क्योंकि, दिव्यायाः = देवो सम्बन्धी, तनोः = शरीर की, पूर्तिः = पूर्णता, अन्तर्मुहूर्ततः = अन्तर्मुहूर्त में, भवेत् = हो जाती है ॥११॥

भावार्थः—देवों के शरीर की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है, तदनुसार कुत्ते का जीव भी मर कर अन्तर्मुहूर्त में ही देवपर्याय धारण कर अवधिज्ञान से पूर्व सर्व वृत्तान्त जान कर कृतज्ञता से शीघ्र जीवन्धर के पास आया ॥११॥

कुमारममरो दृष्ट्वा, हृष्टस्तुष्टाव मृष्टवाक् ।
उपकारस्मृतिः कस्य, न स्यान्नो चेदचेतनः ॥१२॥

अन्वयार्थौ— कुमारम् = जीवन्धर कुमार को, दृष्ट्वा = देखकर, हृष्टः = आनन्दित, मृष्टवाक् = निर्दोषवक्ता, अमर = यक्षेन्द्र, तुष्टाव = स्तुति करने लगा। नीति — हि = क्योकि, चेत् = यदि, अचेतन = अजीव, न स्यात् = न हो, तर्हि = तो, उपकारस्मृतिः = उपकार का स्मरण, कस्य = किसके, न स्यात् = न होगा ॥१२॥

भावार्थ — सज्जन लोग अपने उपकारी के द्वारा कृत उप-कार को जीते जी नहीं भूलते। अतएव सज्जन और कृतज्ञ यक्षेन्द्र भी मन्त्रश्रावण रूप उपकार का स्मरण कर उसके प्रत्युपकरार्थ जीवन्धर के पास आया और उन्हें देख खुश हो उनकी बहुत स्तुति करने लगा ॥१२॥

व्यस्मेष्ट तेन न स्वामी, मनुमाहात्म्यनिर्णयात् ।
मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण, देवत्वं न हि दुर्लभम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ— स्वामी = जीवन्धर स्वामी, मनुमाहात्म्यनिर्णयात् = णमोकार मन्त्र के प्रभाव के निश्चय से, तेन = उस देव के अवलोकन और अपनी स्तुति से, न व्यस्मेष्ट = आश्चर्ययुक्त नही हुए। नीति — हि = क्योकि, मुक्तिप्रदेन = मुक्ति के देने वाले, मन्त्रेण = णमोकार मन्त्र से, देवत्वम् = देवपना, दुर्लभम् = दुष्प्राप्य, न भवति = नही होता ॥१३॥

भावार्थः— जिस मन्त्र के प्रभाव से और की तो बात ही क्या, किन्तु मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है, उसके द्वारा देव-पना पाना तो ना कुछ बात है। इस प्रकार मन्त्र के प्रभाव के दृढ़ निश्चय से कुत्ते के जीव को देव हुआ जानकर जीवन्धर को लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३॥

स्मर्तव्योऽस्मि महाभागे-त्युक्त्वा देवस्तिरोऽभवत् ।
प्रतिकर्तुं कथं नेच्छे-दुपकर्तुः सचेतनः ॥१४॥

अन्वयार्थो—देव. = यक्षेन्द्र, महाभाग! = हे भाग्यशालिन् जीवन्धर! आपदि = आपत्ति के आने पर, अहम् = मैं, स्मर्तव्य = स्मरण करने योग्य, अस्मि = हूँ, इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कहकर, तिरोऽभवत् = अन्तर्हित होगया । नीति—हि = क्योंकि, सचेतन. = सजीव प्राणी, उपकर्तुः = उपकार करने वाले के, प्रतिकर्तुम् = प्रत्युपकार करने के लिये, कथम् = कैसे, न इच्छेत् = नही चाहेगा, किन्तु, इच्छेत् एव = चाहेगा ही ॥१४॥

भावार्थः—सज्जन पुरुष अपने उपकारी का प्रत्युपकार करना जीते जी नहीं भूलते । अतएव कृतज्ञ यक्षेन्द्र भी जीवन्धर के प्रत्युपकार के लिए "हे जीवन्धर जब तुम पर कोई आपत्ति आवे तब मेरा स्मरण करना । मै उसी समय आकर तुम्हारी आपत्ति को दूर करूँगा" ऐसा कह कर अदृश्य हो गया ॥१४॥

सारमेयचरे देवे, तमाश्लिष्य मुहुर्मुहुः ।
आपृच्छ्य च गते तस्मि—न्तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥१५॥

अन्वयार्थो—सारमेयचरे = भूतपूर्व कुत्ते के जीव, तस्मिन् = उस, देव = यक्षेन्द्र के, आश्लिष्य = भेंट करके, च = और, मुहुर्मुहुः = वार वार, आपृच्छ्य = पूछ करके, गते सति = चले जाने पर, तत्र = वहा पर, प्रस्तुतम् = हुआ समाचार, उच्यते = कहा जाता है ॥१५॥

भावार्थ—जब देव (कुत्ते का जीव) जीवन्धर से भेंट (मिल) कर और उनकी आज्ञा लेकर अपने स्थान पर चला गया, तब उस नदी के तट पर जो और वृत्तान्त हुआ वह यहां पर चित्रित किया जाता है (लिखा जाता है) ॥१५॥

चूर्णार्थं सुरमञ्जर्याः, स्पर्धाभूद् गुणमालया ।
एकार्थस्पृहया स्पर्धा, न वर्धेतात्र कस्य वा ॥१६॥

अन्वयार्थो—तदा = उसी समय, गुणमालया सह = गुणमाला के साथ, सुरमजर्या. = सुरमजरी की, चूर्णार्थम् = चूर्ण के हेतु, स्पर्धा =

ईर्षा, अभूत् = होगई। नीति—वा = क्योंकि, अत्र = इस लोक में, एकार्थस्पृहया = एक ही पदार्थ के विषय में इच्छा से, कस्य = किसके, स्पर्धा = डाह, न वर्धेत = नही बढती, किन्तु, सर्वेषाम् = सभी के, वर्धेत = बढती है ॥१६॥

भावार्थः—सदृश अनेक वस्तुओं मे 'मेरी ही वस्तु सर्वोत्तम सावित हो' ऐसी भावना प्रायः सभी मनुष्यों के रहती है। तदनुसार सुरमंजरी और गुणमाला नामक दो सखियों के पास जो दो प्रकार के चूर्ण थे, उनमें भी 'मेरा चूर्ण उत्तम है—मेरा चूर्ण उत्तम है' इत्यादि विसम्वाद छिड़ गया॥१६॥

मा भूत्पराजिता स्नाता, नादेये वारिणीति वै।
संगिरास्ते स्म ते सख्यौ, मात्सर्यात्किं न नश्यति ॥१७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, ते = वे दोनो, सख्यौ = सखिया, पराजिता = हारी हुई सखी, नादेये = नदी सम्बन्धी, वारिणि = जल में, स्नाता = कृतस्नान, मा भूत् = नही हो, इति = इस प्रकार, संगिराते स्म = प्रतिज्ञा करती हुई। नीति—हि = क्योंकि, मात्सर्यात् = डाह से, किम् = क्या, न नश्यति = नष्ट नही हो जाता है, किन्तु, सर्वं नश्यति = सब नष्ट हो जाता है ॥१७॥

भावार्थः—जब उन दोनों सखियों का चूर्णविषायक विवाद किसी तरह शांत नहीं हुआ, तब अन्तोगत्वा उन्होंने परस्पर यह प्रतिज्ञा की कि परीक्षा करने पर हम दोनों मे से जिसका चूर्ण अनुपयोगी साबित होगा, वह नदी में स्नान नहीं करे। नीतिकार कहते हैं, कि देखो, ईर्षा करना कितना वुरा है, कि जिसके वश होकर यह प्राणी बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठता है ॥१७॥

कन्ये प्राहिणुते पश्चा—च्चेट्यौ स्वे निकटे सताम्।
कुत्सितं कर्म किं किं वा, मत्सरिभ्यो न रोचते ॥१८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् , इसके बाद, कन्ये = दोनो कन्याएं, सताम् = औषधिपरीक्षक विद्वानो के, निकटे = समीप में, स्वे = अपनी अपनी, चेट्यौ = दासियो को, प्राहिणुताम् = भेजती हुई । नीति—वा = क्योंकि, मत्सरिभ्यः = मात्सर्य करने वालो के, किं किम् = कौन कौन, कुत्सितम् = खोटा, कर्म = कार्य, न रोचते = रुचिकर नही होता । किन्तु, सर्वं रोचते = सभी रुचिकर होता है ॥१८॥

भावार्थः—पश्चात् उन दोनों सखियों ने चूर्णों की परीक्षा के हेतु अपनी-अपनी दासी एक साथ चूर्णपरीक्षाकुशल विद्वानों के पास भेजीं, क्योंकि मात्सर्य करने वाले प्राणी किसी भी निन्द्य कर्म को करते हुए नहीं हिचकते। अतएव इन सखियों ने भी चूर्ण परीक्षक विद्वानों के समीप अपनी दासिया भेजने रूप धृष्टता करते हुये जरा भी संकोच नहीं किया ॥१८॥

अस्थिषातामथागत्य, चेट्यौ जीवककोविदे ।
अनवद्या सती विद्या, लोके किं न प्रकाशते ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, चेट्यौ = दोनो दासिया, जीवककोविदे = जीवन्धर विद्वान् के समीप में, आगत्य = आकर, अस्थिषताम् = ठहर गईं । नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = ससार में, सती = उत्तम, अनवद्या = पूर्ण, विद्या = विद्या, न प्रकाशते किम् = प्रकाशित नही होती है क्या ? किन्तु, प्रकाशते एव = प्रकाशित ही होती है ॥१९॥

भावार्थः—निर्दोष और उत्तम विद्या छिपाने से नहीं छिपती तथा प्रकाशित किये बिना ही जग जाहिर हो जाती है। अतएव पूर्वोक्त दोनों दासियां कई विद्वानों के पास घूमकर भी 'चूर्णों का यथार्थ निर्णय जीवन्धर के पास ही होगा' इस प्रकार पता पाकर उनके पास आकर परीक्षार्थ उनसे प्रार्थना करने लगीं।

गुणवद्गुण-मालाया-श्चूर्णं निर्वर्ण्य सोऽभ्यधात् ।
पाण्डित्यं हि पदार्थानां, गुणदोषविनिश्चयः ॥२०॥

अन्वयार्थौं—सः = उस जीवन्धरने, निर्वर्ण्य=परीक्षा कर, गुणमालाया = गुणमाला के, चूर्णम् = चूर्ण को, गुणवत् = उत्तम, अभ्यधात् = कहा। नीति — हि = क्योंकि, पदार्थानाम् = वस्तुओ के, गुणदोषविनिश्चयः = गुण और दोष का निश्चय करना, एव = ही, पाण्डित्यम् = विद्वत्ता (कथ्यते = कहलाती है) ॥२०॥

भावार्थः—वस्तुओं के गुण और दोष का निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय कर लेना ही विद्वत्ता है, तदनुसार विद्वान जीवन्धर ने निष्पक्ष बुद्धि से परीक्षा कर दोनों चूर्णों में से गुणमाला के चूर्ण को ही कालोचित (ऋतु के अनुकूल), सगुण और उत्तम कहा।

चेटी तु सुरमञ्जर्या–स्तच्छ्रुत्वा रोषणाऽब्रवीत्।
अन्यैरप्युक्तमुक्तं तैः, किमध्यैष्ट भवानिति॥२१॥

अन्वयार्थौं—तु = पश्चात्, सुरमञ्जर्याः = सुरमञ्जरी की, चेटी = दासी, तत् = उस जीवकोक्त गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को, श्रुत्वा = सुनकर, रोषणा सती = क्रोधित होती हुई, अन्यैः = दूसरो से, उक्तम् = कहा हुआ निर्णय, भवता = आपने, अपि = भी, उक्तम् = कहा है, किम् = क्या, भवान् = आप, तैः सह = उनके साथ, अध्यैष्ट = पढे हैं ?, इति = इस प्रकार, अब्रवीत् = बोली ॥२१॥

भावार्थः—पश्चात् सुरमंजरी की दासी, जीवन्धर द्वारा प्रगट की गई गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को सुनकर क्रोधित होती हुई बोली कि जिस प्रकार अन्य विद्वानों ने पक्षपात कर गुणमाला के चूर्ण को उत्तम बताया है उसी प्रकार आप भी कह रहे हैं, मालूम होता है कि आप भी उन्हीं के ही सहपाठी हैं।

चूर्णयोरलिभिः स्वामी, गुणदोषावसाधयत्।
निर्विवादविधि र्नो चे–न्नैपुण्यं नाम किं भवेत्॥२२॥

अन्वयार्थौं—तदा = तब, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, अलिभिः = भ्रमरो के द्वारा, चूर्णयोः = दोनों चूर्णो के, गुणदोषौ = गुण और दोषको,

असाधयत्=सिद्ध करते हुये। नीति—हि=क्योंकि, निर्विवादविधिः—विचाराधीन कार्य में विवाद का अभाव, नो चेत्=न हो सके, तर्हि=तो, नैपुण्यं नाम=विद्वत्ता, किम्=क्या, भवेत्=कहलावे ? ॥२२॥

भावार्थः—विवादग्रस्त वस्तु को निर्विवाद कर देना ही विद्वत्ता कहलाती है, अतएव प्रौढ़ विद्वान् जीवन्धर ने भी दोनों के चूर्ण को एक साथ अपने दोनों हाथों से ऊपर फेंक कर गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण की उत्तमता, आये हुए सुगन्धलोलुपी भ्रमरों द्वारा; सुरमंजरी की दासी के समक्ष ही साबित कर दी।

आकालिकतया दुष्टं, चूर्णमन्यदवर्णयत् ।
न ह्यकालकृतं कर्म, कार्यनिष्पादनक्षमम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—स=वह जीवन्धर, अन्यत्=दूसरे चूर्ण को, आकालिकतया=समयानुकूल न होने से, दुष्टम्=निर्गुण, अवर्णयत्=सिद्ध करता हुआ। नीति—हि=निश्चय से अकालकृतम्=असमय में किया गया, कर्म=परिश्रम, कार्यनिष्पादनक्षमम्=कार्य को पूरा करने में समर्थ, न भवति=नही होता ॥२३॥

भावार्थः—जो कार्य समय देख कर नहीं किया जाता है उसका सफल होना प्रायः असम्भव ही हो जाता है, तदनुसार जीवन्धर ने भी सुरमजरी के चूर्ण को भ्रमरों के न बैठने से निर्गन्ध साबित कर, यह चूर्ण वसन्त ऋतु के अनुकूल नहीं है—वर्षा ऋतु के ही अनुकूल है, यह दोष दिखला कर दूषित साबित कर दिखाया ॥२३॥

कुमारादथ कुट्टिन्यौ, नुत्वा नत्वा च निर्गते ।
निर्विवादं वितन्वानाः, स्तुत्याः केन न भूतले ॥२४॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके वाद, कुट्टिन्यौ=दोनो दासियां, नुत्वा=स्तुति कर, च=और, नत्वा=नमस्कार कर, कुमारात्=जीव-

न्धर के पास से, निर्गते = चली गईं। नीतिः—हि = क्योंकि, कार्यम् = कार्य को, निर्निवादम् = विवादरहित, वितन्वाना = करने वाले, जना = मनुष्य, भूतले = भूमण्डल पर, केन = किसके द्वारा, न स्तुत्याः = स्तुति करने के योग्य नहीं हैं? किन्तु, सर्वे. स्तुत्या = सभी के द्वारा स्तवनीय हैं।

भावार्थ.—विवादग्रस्त कार्य को निर्विवाद कर देने वाले मनुष्य इस भूमण्डल पर सभी के द्वारा सत्कृत किये जाते हैं। अतएव दोनों चूर्णों के विषय में उत्पन्न हुए विवाद के जब जीवन्धरस्वामी ने परीक्षा कर दूर कर दिया तब चूर्ण परीक्षा को यथार्थ समझ कर वे दोनों दासियां भी जीवन्धर की प्रशंसा करती हुई अपनी अपनी स्वामिनी के पास चली गई ॥२४॥

तच्चासीत्सुरमञ्जर्याः, विरागस्यैव कारणम् ।
न ह्यत्र रोचते न्याय–मीर्ष्यादूषितचेतसे ॥२५॥

अन्वयार्थौ—च = और, तत् = वह निर्णय, सुरमञ्जर्या = सुरमञ्जरी के, विरागस्य = वैराग्य का, एव = ही, कारणम् = कारण, आसीत् = हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, ईर्ष्यादूषितचेतसे = ईर्षा से मलिन चित्त वाले प्राणी के लिये, न्यायम् = न्याययुक्त बात, न रोचते = रुचिकर नहीं मालूम होती ॥२५॥

भावार्थः—जिन प्राणियों के हृदय में ईर्षाभाव जागृत रहता है, उन्हें न्यायानुकूल बात भी प्रिय नहीं लगती, तदनुसार जीवन्धर ने चूर्ण परीक्षा यद्यपि निष्पक्षरूप से की थी परन्तु ईर्षालु सुरमंजरी, उससे सहमत न होकर अपना पराजय जान बहुत ही उदास हो गई ॥२५॥

प्रार्थिताप्यकृतस्नाना, सत्वरं सुरमञ्जरी ।
न्यवर्तिष्ट महारोषा–दीर्ष्या हि स्त्रीसमुद्भवा ॥२६॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, सुरमञ्जरी = सुरमञ्जरी, प्रार्थिता = मनाई गई, अपि = भी, अकृतस्नाना = स्नानरहित, सती = होती हुई, महा-

रोषात् = अतिशय क्रोध से, सत्वरम् = शीघ्र, न्यवर्तिष्ट = लौट गई। नीतिः—हि = क्योंकि, ईर्ष्या = मात्सर्य, स्त्रीसमुद्भवा = स्त्रियों से उत्पन्न, एव = ही (अस्ति = है) ॥२६॥

भावार्थः—संसार में स्त्री ही ईर्षा की जननी है। अर्थात् सबसे अधिक ईर्ष्या स्त्रियों में ही हुआ करती है। अतएव गुणमाला ने नदी में स्नान करने के लिये सुरमंजरी से बहुत कुछ आग्रह किया पर ईर्षाग्रस्त उसने उसकी एक न मानी और प्रतिज्ञानुसार बिना स्नान किये ही अपने घर को वापिस होने लगी।

जीवकादपरान्नेक्षे, पुरुषानिति संविदा ।
कन्यागृहमथ प्राप—न हि भेद्यं मनः स्त्रियाः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, सुरमञ्जरी, अहम् = मैं, जीवकात् = जीवन्धर से, अपरान् = भिन्न पुरुषों को, न ईक्षे = पतिरूप से न देखूंगी, इति = इस प्रकार, संविदा = प्रतिज्ञा करके, कन्यागृहम् = कन्यागृह को, प्रापत् = चली गई। नीति—हि = क्योंकि, स्त्रियाः = स्त्री का, मनः = मन का विचार, भेद्य न = बदलने के योग्य नही होता ॥२७॥'

भावार्थः—लोकमें स्त्रियों की हठ प्रसिद्ध है, उसका निषेध करना दुष्कर ही होता है, तदनुसार सुरमंजरी भी 'मैं जीवन्धर के सिवाय अन्य पुरुषों को देखूगी भी नहीं' ऐसी अटल प्रतिज्ञा कर हठपूर्वक अपने घर चली गई ॥२७॥

सख्यां तथैव यातायां, गुणमाला शुशोच ताम् ।
न ह्यनिष्टेष्ट—संयोग—वियोगाभमरुन्तुदम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—च = और, गुणमाला = गुणमाला, सख्याम् = अपनी सखी सुरमंजरी के, तथा = बिना स्नान किये हुये, एव = ही, यातायाम् = चले जाने पर, ताम् = उसके हेतु, शुशोच = रंज करती हुई। नीतिः—हि = क्योंकि, अनिष्टेष्टसयोगवियोगाभम् = अप्रियवस्तु

की प्राप्ति और प्रियवस्तु के वियोग के समान, अरुन्तुदम्=दुःखदायक, वस्तु=कोई दूसरी वस्तु, न भवति=नही होती ॥२८॥

भावार्थः—इस ससार में अनिष्टसंयोग एवं इष्टवियोग हार्दिक पीडाजनक होते हैं। अतएव अपनी सखी के चले जाने रूप इष्टवियोग से गुणमाला ने बहुत रंज किया ॥२८॥

गन्धसिन्धुरतो भीति-रासीदथ पुरौकसाम् ।
विपदोऽपि हि तद्भीति-र्मूढानां हन्त बाधिका ॥२९॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, पुरौकसाम्=पुरवासियो के, गन्धसिन्धुरतः=मदोन्मत्त मत्तहस्ती से, भीतिः=भय, आसीत्=हुआ। नीति—हि=क्योंकि, हन्त=खेद है, यत्=कि, मूढानाम्=मूर्खों के, विपदः=विपत्ति से, अपि=भी, तद्भीतिः=विपत्ति का भय, बाधिका, अतिशय दुखदायक, भवति=होता है ॥२९॥

भावार्थः—इसके पश्चात् काष्ठाङ्गार का एक मदोन्मत्त गन्धहस्ती अपने स्थान से छूटकर मकान और वृक्ष आदि को चकनाचूर करता हुआ वहां आया। उसे देखते ही नगर निवासी भयभीत हो गये, क्योंकि भले ही मनुष्यों पर आपत्ति न आई हो, पर उसके आने का डर ही उनके होश उड़ा देता है ॥२९॥

परिजनस्तु तं पश्यन्, गुणमालामथात्यजत् ।
न हि सन्तीह जन्तूना-मपाये सति बान्धवाः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—अथ=उस मदोन्मत्त हाथी के आजाने पर, तम्=उस हस्ती को, पश्यन्=देखने वाले, परिजनः=गुणमाला के नौकर चाकर और सम्बन्धी पुरुष, तु=तो, गुणमालाम्=गुणमाला को, अत्यजत्=छोड गये। नीतिः—हि=क्योंकि, इह=इस लोक में, अपाये सति=आपत्ति के आजाने पर, जन्तूनाम्=जीवों के, के=कोई, अपि=भी, बान्धवा.=सहायक, न सन्ति=नही होते ॥३०॥

सज्जन जीवन्धर ने भी मदोन्मत्त हाथी से अपने खतरे की लेश-मात्र भी पर्वाह न कर उसे अपने हाथ के कड़े से ताड़ित कर गुणमाला के पास से बात की बात में हटा दिया ॥३४॥

परिवारोऽप्यथायासी–दहंपूर्विकया स्वयम् ।
स्वास्थ्ये ह्यदृष्टपूर्वाश्च, कल्पयन्त्येव बन्धुताम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, परिवारः = कुटुम्बी जन, अपि = भी, अहम्पूर्विकया = मैं पहिले आया; मैं पहिले आया इस प्रकार कथनपूर्वक, अयासीत् = आ गये । नीतिः—क्योंकि, स्वास्थ्ये सति = कुशलता के होने पर, अदृष्टपूर्वाः = पहिले कभी नही देखे गये मनुष्य, अपि = भी, बन्धुताम् = मित्रता या रिश्तेदारी को, कल्पयन्ति = करते हैं, पुनः = तो फिर, दृष्टानान्तु का वार्ता = सुपरिचितो का कहना ही क्या है ?

भावार्थः—धन, जन और सुख से भरपूर होने पर तो, जिनके कभी दर्शन ही नहीं हुए हों वे भी स्वयं आकर नाता या मैत्री जोड़ा करते हैं, किन्तु इसके विपरीत, उन तीनों के न होने पर सगे भी पराये जैसा व्यवहार करने लगते हैं, तदनुसार हाथी से आपत्ति आने पर जो कुटुम्बी आदि जन गुणमाला को खतरे में छोड़ भाग गये थे वे ही इसकी रक्षा होने पर 'मैं पहिले आया, मैं पहिले आया इत्यादि' कहते हुए गुणमाला के पास आगये ।

अन्योऽन्यदर्शनादासीत्, कामः कन्याकुमारयोः ।
दुःखस्यानन्तरं सौख्यं, ततो दुखं हि देहिनाम् ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, अन्योऽन्यदर्शनात् = परास्परावलोकन से, कन्याकुमारयोः = गुणमाला और जीवन्धर के, कामः = परस्परासक्ति, आसीत् = हो गई । नीतिः—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियो के, दुःखस्य = दुःख के, अनन्तरम् = बाद, सौख्यम् = सुख, च = और, ततः = उस सुख से बाद, दुःखम् = दुःख (भवति = होता है) ॥३६॥

भावार्थः— हस्ती से रक्षा करते समय परस्पर में एक दूसरे के देखने से गुणमाला और जीवन्धर के कामवासना जागृत होगई। ठीक ही है कि जीवों पर सुख और दुख का चक्र सदा घूमा करता है, अतएव गुणमाला के भी पहिले तो हाथी के भय से दुःख पीछे प्राणरक्षा से सुख और फिर कामविकार की उत्पत्ति से दुःख हुआ ॥३६॥

अशान्तस्वान्तसन्तापा, निशान्तं प्राप सा पुनः।
नो चेद्विवेकनीरौघो, रागाग्निः केन शाम्यति ॥३७॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, सा = वह गुणमाला, अशान्तस्वान्तसन्तापा सती = शान्त नही हुआ है हृदय का सताप जिसका ऐसी होती हुई, निशान्तम् = अपने मकान को, प्राप = चली गई। नीति.—हि = क्योंकि, यदि, विवेकनीरौघ. = विवेकरूपी जल का समूह, नो चेत् = नही होवे, तर्हि = तो, रागाग्नि. = रागरूपी अग्नि, केन = किसके द्वारा, शाम्यति = शान्त हो सकती है? किन्तु, केनापि न = किसीके द्वारा नहीं।

भावार्थः—जिस प्रकार अग्नि, जल से ही शान्त हो सकती है, अन्य से नहीं, उसी प्रकार कामरूपी अग्नि भी विवेक से ही शान्त हो सकती है। अतएव विवेक की हीनता के कारण गुणमाला भी कामविकार से सन्तप्त होती हुई ही अपने घर पहुँची।

क्रीडाशुकं च प्राहैषीत्, सविधे स्वामिनः पुनः।
योग्यायोग्यविचारोऽयं, रागान्धानां कुतो भवेत् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—पुन. = पश्चात्, सा = वह गुणमाला, स्वामिन. = जीवन्धर स्वामी के, सविधे = पास में, क्रीडाशुकम् = अपने मन बहलाव के लिये पाले हुये तोते को, प्राहैषीत् = भेजती हुई। नीति—हि = क्योंकि, अयम् = यह प्रसिद्ध, योग्यायोग्यविचारः = औचित्य और अनौचित्य का विचार, रागान्धानाम् = कामासक्त जनो के, कुतः = कहा से, भवेत् = हो सकता है ॥३८॥

भावार्थ.—इस स्वार्थी संसार में 'सुख के सब लोग संगाती हैं, दुःख में कोई काम न आता है' इस कहावत के अनुसार दुःख पड़ने पर कोई सहायक नहीं होता, तदनुसार हाथी से भयभीत स्वार्थी कुटुम्बी और नौकर तो गुणमाला को उसी खतरनाक स्थान पर अकेली छोड़ अपनी अपनी जान बचा कर रफूचक्कर हो गये ॥३०॥

कृत्वा तां पृष्ठतो धात्री, काचिदस्थाद्दयावहम् ।
हतायां मय्यतः पूर्वं, कन्येयं हन्यतामिति ॥३१॥

अन्वयार्थो—किन्तु, काचित् = कोई, धात्री = धाय, अतः = इस कन्या से, पूर्वम् = पहिले, मयि हतायाम् = मेरे मारे जाने पर, इयम् = यह, कन्या = लड़की, हन्यताम् = मारी जाय, इति = इस प्रकार दयावहम् = करुणाजनक वचन, उक्त्वा = कहकर, ताम् = उस गुणमाला को, पृष्ठतः = पीछे, कृत्वा = कर के, अस्थात् = खड़ी होगई ॥३१॥

भावार्थ.—किन्तु कोई एक परोपकारिणी धाय, 'मेरे मरने पर चाहे जो हो पर मेरे जाते जी यह कन्या न मारी जा सकेगी' ऐसा सोच, करुणा से इसे अपने पीछे कर खड़ी हो गई ॥३१॥

समदुःखसुखा एव, बन्धवो सत्र बान्धवाः ।
दूता एव कृतान्तस्य, द्वन्द्वकाले पराङ्मुखाः ॥३२॥

अन्वयार्थो—हि = क्योंकि, अत्र = इस लोक में, समदुःखसुखाः = दुःख और सुख में समदृष्टि रखने वाले, बन्धवः = मित्र, सहायक या भाई, एव = ही, बान्धवाः = यथार्थ मित्र, सहायक वा भाई, कथ्यन्ते = कहे जाते हैं, किन्तु, द्वन्द्वकाले = विपत्ति के समय में, पराङ्मुखाः = काम न आने वाले, ते = वे लोग, कृतान्तस्य = काल के, दूताः = दूत, एव = ही (सन्ति = हैं) ॥३२॥

भावार्थ—जो मनुष्य धन, सुख और स्वास्थ्य के होने पर जैसा प्रेम व्यवहार करते हैं उसी प्रकार दारिद्र्य, आपत्ति और

रोग के आने पर भी अगर करें तो वे वास्तव में ही मित्र, सहायक या भाई कहलाने के पात्र हैं, किन्तु जो दुःखादि में काम नहीं आते हैं वे वास्तव मे बन्धु नहीं, किन्तु यमदूत ही हैं। तदनुसार दुःख में परित्याग करने के कारण गुणमाला के कुटुम्बी आदि भी उसके वास्तविक बन्धु नहीं थे, किन्तु धाय ही उत्तम बन्धु थी ॥३२॥

यत्र क्वापि हि सन्त्येव, सन्तः सार्वगुणोदयाः ।
कचित् किमपि सौजन्यं, नो चेल्लोकः कुतो भवेत् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—सार्वगुणोदया =सब के हितकारी गुणो सहित, सन्त.=सज्जन, यत्र क्वचित् =जहा कही पर, सन्ति एव=होते ही हैं। नीतिः—हि = क्योंकि, क्वचित् = कही पर, किमपि = कुछ भी, सौजन्यम् = सज्जनता, नो चेत् = नही हो, तर्हि = तो, लोकः = ससार की सत्ता, कुतः=कैसे, भवेत् = हो सकेगी ॥३३॥

भावार्थः—परोपकारी और उत्तमोत्तमगुणविशिष्ट सज्जन सर्वत्र तो नहीं मिलते पर कहीं कहीं होते ही हैं । क्योंकि यदि संसार में सज्जनता की गन्ध ही न रहे तो संसार का अस्तित्व ही न रह सकेगा ॥३३॥

स्वामी परिणतं वीक्ष्य, करिणं तं न्यवारयत् ।
स्वापदं न हि पश्यन्ति, सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पारार्थ्यतत्पराः = परोपकार में तत्पर, सन्त. = सज्जन पुरुष, स्वापदम्=अपनी आपत्ति को, न पश्यन्ति=नही विचारते हैं, अतएव, स्वामी=जीवन्धर स्वामीने, परिणतम्=दातो से तिरछा प्रहार करने वाले, तम्=उस, करिणम्=हस्ती को, वीक्ष्य=देख कर, न्यवारयत्= रोका ॥३४॥

भावार्थः—परोपकारी सज्जन दूसरे के हितार्थ अपनी आपत्ति को भी पर्वाह नहीं करते. तदनुसार परोपकारी और

भावार्थ:—कामजागृति के बाद उस गुणमाला ने घर पहुँच कर अपने एक क्रीडाशुक द्वारा जीवन्धर के पास अपना हार्दिक संदेश भेजा। ठीक भी है कि-कामासक्त जनों के औचित्य और अनौचित्य का विचार नहीं रहता। अतएव वह भी इस अनुचित कृत्य को करने के लिये जरा भी संकुचित नहीं हुई ॥३८॥

चाटु प्रायुङ्क्त कीरोऽपि, तं पश्यन् स्वेष्टसिद्धये।
एतादृशेन लिङ्गेन, परलोको हि साध्यते ॥३९॥

अन्वयार्थौ—कीरः = तोता, अपि = भी, तम् = उस जीवन्धर को, पश्यन् = देखता हुआ, स्वेष्टसिद्धये = अपना मतलब सिद्ध करने के लिये, चाटुम् = खुशामदी की वातें, प्रायुंक्त = करने लगा। नीतिः—हि = क्योंकि, एतादृशेन = ऐसे, लिङ्गेन = कारणों से, परलोकः = अन्य मनुष्य, साध्यते = वशीभूत किये जाते हैं ॥३९॥

भावार्थः—उस तोते ने भी जीवन्धर के पास पहुँच कर अपना मतलब सिद्ध करने के लिये निम्नप्रकार खुशामदी की वातें कीं। क्योंकि संसार में खुशामद की वातों से अपना मतलब सिद्ध होने में प्रायः अवश्य सहायता मिलती है। अतएव तोते ने भी उसी का उपयोग किया ॥३९॥

विषयेषु समस्तेषु, कामं सफलयन् सदा।
गुणमालां जगन्मान्यां, जीवयञ्जीवताच्चिरम् ॥४०॥

अन्वयार्थौ—यत = कि, समस्तेषु = सभी, विषयेषु = पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में, स्वस्य तस्याश्च = अपनी और उसकी, कामम् = इच्छा को, सदा = हमेशा, सफलयन् = सफल करते हुए, त्वम् = तुम जगन्मान्याम् = जगत में माननीय, गुणमालाम् = गुणमाला कन्या की और अपने गुण समूह की, जीवयन् = रक्षा करते हुए, चिरम् = बहुत काल तक, जीवतात् = जीते रहो ॥४०॥

भावार्थः—उस तोते ने जीवन्धर से कहा कि हे महापुरुष ! आप समस्त विषयों में अपनी और उसकी इच्छाओं को सफल करते हुए जगन्मान्य गुणमाला कन्या और अपने गुणसमूह की रक्षा और अपने नाम को सार्थक करते हुए चिरकाल जीओ ॥४०॥

इत्याशिषा कुमारोऽपि, तत्सन्देशाच्च पिप्रिये ।
इष्टस्थाने सती वृष्टि–स्तुष्टये हि विशेषतः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—कुमारः = जीवन्धरकुमार, अपि = भी, इति = पूर्वोक्त, आशिषा = आशीर्वाद से, च = और, तत्सन्देशात् = गुणमाला के सदेश से, पिप्रिये = आनन्दित हुए। नीतिः – हि = क्योंकि, इष्टस्थाने = उपजाऊ भूमि में (सती = हुई उत्तम) वृष्टि = वर्षा, विशेषत. = विशेष रीति से, तुष्टये = सतोष के लिये (भवति = होती है) ॥४१॥

भावार्थः—जिस प्रकार एक तो जमीन अच्छी उपजाऊ हो और फिर उसी में उत्तम वर्षा हो जावे तब उससे होने वाले लाभ से कृषक के आनन्द का पार नहीं रहता, उसी प्रकार स्वयं इच्छुक जीवन्धर भी तोते द्वारा उसका अपनी इच्छानुकूल संदेश और व्यङ्ग वचन पाकर बहुत ही खुश हुआ ॥४१॥

प्रतिसन्देशमप्येष, कीराय प्रत्यपादयत् ।
प्रेक्षावन्तो वितन्वन्ति, न ह्युपेक्षामपेक्षिते ॥४२॥

अन्वयार्थौ—एषः = यह जीवन्धर, अपि = भी, कीराय = तोते के लिये, प्रतिसदेशम् = सदेश का प्रत्युत्तर, प्रत्यपादयत् = देता हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, प्रेक्षावन्तः = बुद्धिमान् पुरुष, अपेक्षिते = चाही हुई, वस्तुनि = वस्तु के विषय में, उपेक्षाम् = उपेक्षा को, न वितन्वन्ति = नही करते हैं ॥४२॥

भावार्थः—बुद्धिमान् मनुष्य अपने द्वारा इच्छित वस्तु के विषय मे उपेक्षा नहीं किया करते हैं, अतएव जीवन्धर ने भी

सुतां विनयमालाया, गुणमालां यथाविधि ।
दत्तां कुबेरमित्रेण, परिणिन्येऽथ जीवकः ॥५७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, जीवकः = जीवन्धर ने, कुबेर-मित्रेण = कुवेरमित्र के द्वारा, दत्ताम् = दी हुई, विनयमालायाः = विनय माला की, सुताम् = सुपुत्री, गुणमालाम् = गुणमाला को, यथाविधि = शास्त्रोक्तविधि के अनुसार, परिणिन्ये = व्याहा ॥४७॥

भावार्थः—तत्पश्चात् जीवन्धर ने कुबेरदत्त (पिता) द्वारा प्रदत्त विनयमाला (माता) की सुपुत्री गणमाला के साथ आर्षोक्तविधि से विवाह किया ॥४७॥

॥ इति चतुर्थो लम्बः समाप्तः ॥



अथ पञ्चमो लम्बः

अथ व्यूढामिमां मेने, स कुमारोऽतिदुर्लभाम् ।
प्रयत्नेन हि लब्धं स्यात्, प्रायः स्नेहस्य कारणम् ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, स = उस, कुमारः = जीवन्धर कुमार ने, व्यूढाम् = व्याही हुई, इमाम् = इस गुणमाला स्त्री को, अदुर्लभाम् = बड़ी कठिनाई से प्राप्त, मेने = माना। नीति—हि = क्योंकि, लब्धम् = प्राप्त (वस्तु) प्राय = बहुधा, स्नेहस्य = स्नेह का, कारणम् = कारण, स्यात् होती है ॥१॥

भावार्थः—जो वस्तु कठिनाई से प्राप्त की जाती है, उस पर मनुष्य का प्रायः अधिक प्रेम हो ही जाता है, यही कारण है कि जीवन्धर कुमार ने भी मदोन्मत्त हस्ती का सामना कर बहुत परिश्रम और खतरे से गुणमाला को पाया था, इसलिये उनकी भी उस पर बहुत आस्था (प्रीति) हुई ॥१॥

नादत्त कवलं दन्ती, स्वामिकुण्डलताडितः ।
न हि सोढव्यतां याति, तिरश्चां वा तिरस्क्रिया ॥२॥

अन्वयार्थौ—स्वामिकुण्डलताडितः = जीवन्धर स्वामी के द्वारा अपने कड़े से आहृत, दन्ती = हाथी, कवलम् = ग्रास को, अपि = भी, न आदत्त = ग्रहण नही करता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, तिरस्क्रिया = अपमान, तिरश्चाम् = तिर्यञ्चों के, वा = भी, सोढव्यताम् = सह्य पने को, न याति = प्राप्त नही होता ॥२॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठाङ्गार के जिस अशनिवेग नामक हाथी को अपने कड़े से आहत किया था, उसने उस प्रहार से अपना अपमान समझ कर महावत के द्वारा डाटे जाने पर भी सुस्वादु भोजन भी त्याग

स्वेच्छित गुणमाला के विषय में लापरवाही न कर उसी तोते के द्वारा उसके अनुकूल प्रत्युत्तर भेज दिया ॥४२॥

मुमुदे गुणमालापि, दृष्ट्वा पत्रेण पत्रिणम् ।
स्वस्यैव सफलो यत्नः, प्रीतये हि विशेषतः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—गुणमाला = गुणमाला, अपि = भी, पत्रिणम् = तोते को, पत्रेण सह = पत्र के साथ, दृष्ट्वा = देखकर, मुमुदे = प्रसन्न हुई। नीतिः—हि = क्योंकि, स्वस्य = अपना, एव = ही, यत्न. = यत्न सफलः सन् = सफल होता हुआ, विशेषतः = विशेषरूप से, प्रीतये = प्रीति के लिये, भवति = होता है ॥४३॥

भावार्थः—जब दूसरे के द्वारा कराये गये भी कार्य के सफल होने पर मनुष्यों को बहुत खुशी होती है तब फिर अपने आप कार्यकर सफलता पाने पर उत्पन्न हुई प्रसन्नता का तो कहना ही क्या है? तदनुसार तोते को पत्रसहित वापिस आया देख अपने यत्न को सफल समझ गुणमाला भी मन में फूली नहीं समाई।

पितरावेतदाकर्ण्य, मुमुदाते भृशं पुनः ।
दुर्लभो हि वरो लोके, योग्यो भाग्यसमन्वितः ॥४४॥

अन्वयार्थौ—पुनः = पश्चात्, पितरौ = गुणमाला के माता पिता, एतत् = इस पूर्वोक्त समाचार को, आकर्ण्य = सुनकर, भृशम् = अत्यन्त, मुमुदाते = प्रसन्न हुए। नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = संसार में, भाग्यसमन्वितः = भाग्यशाली, योग्यः = गुणवान् उत्तम, वर. = वर, दुर्लभः = दुष्प्राप्य (भवति होता है) ॥४४॥

भावार्थः—लोक में भाग्यशाली, कलाकुशल और व्यवहारनिपुण वर का मिलना बहुत कठिन होता है। अतएव अनायास ही सुयोग्य और भाग्यशाली वर की प्राप्ति जान गुणमाला के माता पिता भी बहुत प्रसन्न हुए ॥४४॥

अथामुष्यायणौ कौचि-न्नीतौ गन्धोत्कटान्तिकम् ।
न हि नीचमनोवृत्ति-रेकरूपा स्थिरा भवेत् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अमुष्यायणौ = कुलीन, कौचित् = कोई दो मनुष्य, गन्धोत्कटान्तिकम् = गन्धोत्कट के समीप को, नीतौ = प्राप्त हुये । नीति—हि = क्योंकि, नीचमनोवृत्तिः = नीच पुरुषों के मन की प्रवृत्ति, एकरूपा = एक सदृश, च = और, स्थिरा = स्थिर, न भवेत् = नहीं होती ॥४५॥

भावार्थः—इसके बाद जीवन्धर के प्रतिपक्षी किन्हीं दो प्रतिष्ठित पुरुषों ने गुणमाला और जीवन्धर के प्रेम को अनुचित कृत्य कहते हुए गन्धोत्कट से उनकी चुगली की, क्योंकि नीचजनों की मनोवृत्ति सदा एकसी और अटल नहीं रहती—वे किसी न किसी सांचे भूठे ऐब को देख चुगलखोरी करने में ही मस्त रहते हैं। तदनुसार उन दोनों ने भी यह कुकृत्य करते सकोच नहीं किया।

अनुमेने तयो र्वाक्यं, श्रुत्वा गन्धोत्कटोऽपि सः ।
अदोषोपहतोऽप्यर्थः, परोक्त्या नैव दूष्यते ॥४६॥

अन्वयार्थौ—किन्तु, सः = वह, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट, अपि = भी, तयोः = उन दोनो चुगलखोरो के, वाक्यम् = वचन को, श्रुत्वा = सुन कर, स्वय, अनुमेने = अनुमति देता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, अदोषोपहतः = निर्दोष, अर्थः = पदार्थ, परोक्त्या = दूसरे के कहने से, एव = ही, न दूष्यते = दूषित नही होता ॥४६॥

भावार्थः—स्वयं निर्दोष पदार्थ किसी के कहने मात्र से सदोष नहीं हो सकता । अतएव समझदार गन्धोत्कट ने भी जीवन्धर की योग्यता और विश्वासपात्रता का विचार कर उनकी चुगली की निःसारता जान 'यह सम्बन्ध अच्छा ही है इत्यादि' कह कर [illegible]ार अपनी अनुमति ही प्रगट की ॥४६॥

दिया। ठीक ही है, क्योंकि मनुष्यों के समान पशु भी अपना अपमान नहीं सहन कर सकते, इसी प्रकार हाथी के भी अपमान सहन नहीं हुआ ॥२॥

काष्ठाङ्गारस्तदाकर्ण्य, चुकोप स्वामिने भृशम् ।
सर्पिष्पातेन सप्तार्चि–रुदर्चिः सुतरां भवेत् ॥३॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गारः=हाथी का स्वामी काष्ठाङ्गार, तत्= उस समाचार को, आकर्ण्य = सुनकर, स्वामिने = जीवन्धर स्वामी के लिये, भृशम्=अत्यन्त, चुकोप=क्रोधित हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, सर्पिष्पातेन = घृत के डालने से, सप्तार्चिः = अग्नि, सुतराम्=अत्यन्त, उदर्चिः = उर्ध्वंज्वाला वाली, भवेत् = हो जाती है ॥३॥

भावार्थः—जैसे घी डालने से अग्नि की ज्वाला अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही काष्ठाङ्गार भी अधोलिखित कारणों से जीवन्धर पर नाराज तो पहिले ही था, और जिस समय उनके द्वारा किये गये अपने हाथी के अपमान का भी समाचार उसने सुना, उस समय वह उनपर और भी जल भुन गया ॥४॥

सङ्गादनङ्गमालाया, विजयाच्च वनौकसाम् ।
वीणाविजयतश्चास्य, कोपाग्निः स्थापितो हृदि ॥४॥

अन्वयार्थौ—अनङ्गमालायाः = अनंगमाला के, सङ्गात् = व्याहने से, वनौकसाम् = भीलो के, विजयात् = जीतने से, च = और, वीणाविजयत. = वीणा में विजय पाने से, अस्य = इस काष्ठाङ्गार के, हृदि = हृदय में (जीवन्धरं प्रति = जीवन्धर के प्रति) कोपाग्निः= क्रोधरूपी अग्नि, स्थापितः = स्थित (आसीत् = थी) ॥४॥

भावार्थः—१–अपना अनादर करने वाली अनङ्गमाला नामक किसी सुन्दर युवती के साथ विवाह करने, २–राजकीय महती सेना को पराजित करने वाले भीलों के जीतने और

३–अपने हार जाने पर भी गुणमाला के साथ वीणा में विजय पाने के कारण जीवन्धर से काष्ठाङ्गार पहिले से ही चिढ़ा हुआ था ॥४॥

गुणाधिक्यं च जीवाना-माधेरेव हि कारणम् ।
नीचत्वं नाम किन्तु स्या–दस्ति चेद्‌ गुणरागिता ॥५॥

अन्वयार्थौ—जीवानाम् = प्राणियो की, गुणाधिक्यम् = गुणो की अधिकता, च = भी (अन्येषाम् = औरो के) आधे. = मानसिक दु:ख का, कारणम् = कारण, एव = ही (भवति = होती है) नीति:—हि = क्योकि, चेत् = यदि, गुणरागिता = गुणग्राहकता, अस्ति = हो, (तर्हि = तो) नीचत्व नाम = नीचता (अपि = भी) किम् = कौन, स्यात् = रहे ॥५॥

भावार्थ:—अन्य गुणी जनों के अनुपम गुणों को नीच मनुष्य सहन नहीं कर सकता, इसी कारण नीच काष्ठाङ्गार भी जीवन्धर स्वामी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका और उसने निम्नप्रकार नीचता प्रगट कर दिखाई ॥५।

उपकारोऽपि नीचाना–मपकाराय कल्पते ।
पन्नगेन पय: पीतं, विषस्यैव हि वर्धनम् ॥६॥

अन्वयार्थौ—उपकार = उपकार, अपि = भी, नीचानाम् = नीच जनो के, अपकाराय = अहित के लिये, कल्पते = माना जाता है। नीति —हि = क्योकि, पन्नगेन = सर्प के द्वारा, पीतम् = पिया गया, पय. = दूध, विषस्य = विष का, वर्धनम् = बढाने वाला, एव = ही (भवति = होता है) ॥६॥

भावार्थ.—जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाने से उसके विष की ही वृद्धि होती है, उसी प्रकार नीचजन उपकार को भी अपकार मानते हैं। तदनुसार जीवन्धर के गुरु की आज्ञा

को मान प्राणरक्षा आदि कर काष्ठाङ्गार का महान उपकार किया था, किन्तु उस नीच ने उसे भुलाते जरा भी देर न की ॥६॥

हस्तग्राहं ग्रहीतुं सः, कुमारं प्राहिणोद् बलम् ।
मूढानां हन्त कोपाग्नि-रस्थानेऽपि हि वर्धते ॥७॥

अन्वयार्थौ—स. = उस काष्ठाङ्गार ने, कुमारम् = जीवन्धरकुमार को, हस्तग्राहम् = हाथ पकड़ कर, ग्रहीतुम् = पकड लाने को, बलम् = सेना, प्राहिणोत् = भेज दी । नीतिः—हि = क्योंकि, मूढानाम् = मूर्ख पुरुषो की, कोपाग्नि. = क्रोधरूपी अग्नि, अस्थाने = अयोग्य स्थान में, अपि = भी, वर्धते = बढती है ॥७॥

भावार्थ—उस काष्ठाङ्गार ने जीवन्धर को हाथ पकड़ कर लाने के लिये अपनी सेना भेज दी । ठीक ही है, क्योंकि मूर्खजनों के 'किस पर क्रोध करना चाहिये और किस पर नहीं" ऐसा विचार ही नहीं होता, तदनुसार मूर्ख काष्ठाङ्गार ने भी महापुरुष जीवन्धर के साथ ऐसी नीचता करना अनुचित न समझा।

कुमारावसथं पश्चात्, तत्सैन्यं पर्यवारयत् ।
मृगाः किं नाम कुर्वन्ति, मृगेन्द्रं परितः स्थिताः ॥८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, तत्सैन्यम् = उस काष्ठाङ्गार की सेना ने, कुमारावसथम् = जीवन्धरकुमार के निवास स्थान को, पर्यवारयत् = घेर लिया । नीति—हि = क्योंकि, मृगेन्द्र परित = सिंह के चारो तरफ, स्थिताः = रहने वाले (अपि = भी) मृगाः = हरिण, किं नाम = क्या, कुर्वन्ति = कर सकते हैं । (अपि तु किमपि न) ॥८॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार की सेना ने जाकर जीवन्धर स्वामी के मकान को घेर लिया, किन्तु जिस प्रकार सिंह को घेर लेने वाले बहुत भी हरिण उसका जरा भी बिगाड़ नहीं कर सकते, उसी प्रकार वह सेना उनका जरा भी बिगाड़ नहीं कर सकी ॥८॥

प्रारेभे स कुमारोऽपि, प्रहर्तुं रोषतश्चमूम् ।
तत्त्वज्ञानजलं नो चेत् ,क्रोधाग्निः केन शाम्यति॥९॥

अन्वयार्थौ—स =वह, कुमारः=जीवन्धर कुमार, अपि=भी, रोषत =क्रोध से, चमूम्=सेना को, प्रहर्तुम् = मारने को, प्रारेभे = प्रारम्भ करता हुआ । नीति —हि = क्योंकि, चेत् = यदि, तत्त्वज्ञान-जलम् = तत्त्वज्ञानरूपी जल, नो स्यात् = नही हो, तर्हि = तो, क्रोधाग्निः = क्रोधरूपी अग्नि, केन = किसके द्वारा, शाम्यति = शान्त की जा सकती है ॥६॥

भावार्थ. वे जीवन्धरकुमार भी क्रोध में आकर काष्ठाङ्गार की सेना को भूशय्या पर सुलाने की तैयारी करने लगे । ठीक ही है, क्योंकि—जैसे जल के बिना अग्नि नहीं बुझाई जा सकती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बिना क्रोध भी शान्त नहीं किया जा सकता, अतएव काष्ठाङ्गार की नीचता को देख कर जीवन्धर की भी,बुद्धि चकरा गई, जिससे वे भी अपने क्रोध के वेग को नहीं रोक सके और युद्ध की तैयारी करने लगे ॥६॥

न्यरौसीत्तस्य सन्नाहमथ गन्धोत्कटः शनैः ।
अलङ्घ्यं हि पितु र्वाक्यमपत्यैः पथ्यकांक्षिभिः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—अथ =इसके बाद, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट सेठ ने, तस्य = उस जीवन्धर की, सन्नाहम् = उस युद्धविषयिक तैयारी को, शनैः = शान्तिपूर्व, न्यरौसीत् = रोक दिया । नीति —हि = क्योंकि, पथ्यकांक्षिभि. = अपने हित के इच्छुक, अपत्यैः = संतान के द्वारा, पितु. = अपने पिता का, वाक्यम् = वचन, अलङ्घ्यम् = उल्लंघन करने के अयोग्य होता है ॥१०॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी की युद्ध-विषयक तैयारी उनके पिता गन्धोत्कट ने समझा बुझा कर रोक दी, तब वे भी शान्त हो गये । ठीक ही है, क्योंकि-आत्म-हितैषी सुपुत्र अपने

पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, तदनुसार जीवन्धर ने भी इस नियम का पालन किया ॥१०॥

पश्चाद्बद्धममुं पश्चा-दसौ गन्धोत्कटः शनैः ।
न हि वारयितुं शक्यं, पौरुषेण पुराकृतम् ॥११॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, असौ = यह, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट, अमुम् = इस जीवन्धर को, पश्चाद्बद्धम् = पीछे की ओर मुश्कबद्ध, व्यधात् = करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, पुराकृतम् = पूर्वकृत दुष्कर्म, पौरुषेण = पुरुषार्थ से, वारयितुम् = नाश करने के लिये, न शक्यम् = समर्थ नही होता ॥११॥

भावार्थः—युद्ध रोकने के बाद गन्धोत्कट ने जीवन्धर के हाथों को पीछे से बांध (मुश्कबद्ध) कर उन्हें काष्ठाङ्गार की सेना को सौंप दिया। ठीक ही है, क्योंकि पूर्व जन्म में किये हुए दुष्कर्म का फल भोगना ही पड़ता है, तदनुसार जीवन्धर को भी पूर्वकृत पापकर्म का फल चखना ही पड़ा ॥११॥

दृष्ट्वापि तं तथाभूतं, हन्तुमाह स दुर्मतिः ।
सतां हि प्रह्वता शान्त्यै, खलानां दर्पकारणम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—दुर्मतिः = दुष्ट, सः = उस (काष्ठांगार) ने, तम् = उस जीवन्धर को, तथाभूतम् = उस प्रकार मुश्कबद्ध, दृष्ट्वा = देखकर, अपि = भी, हन्तुम् = मारने को, आह = आज्ञा दी। नीतिः—हि = क्योंकि, सताम् = सज्जनो के, शान्त्यै = शान्ति के लिये (भवित्री = होने वाली) प्रह्वता = नम्रता, खलानाम = दुष्टों के, दर्पकारणम् = घमंड का कारण (एव = ही, भवति=होती है) ॥१२॥

भावार्थ—गन्धोत्कट ने तो जीवन्धर को काष्ठाङ्गार के पास अपने आप पहुँचाकर राजाज्ञा का पालन और नम्रता ही प्रदर्शित की, किन्तु उस दुष्ट ने जीवन्धर को बँधा हुआ देख गर्व से उन्मत्त होकर उसे मारने की ही आज्ञा दी। ठीक ही है, क्योंकि

सज्जन तो नम्रता के लिये झुक जाया करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग उससे और अधिक घमंड में आ जाते हैं। तदनुसार दुष्ट काष्ठाङ्गार के समक्ष भी गन्धोत्कट की नम्रता का विपरीत फल हुआ।

काष्ठाङ्गारं कुमारोऽयं, गुरुवाक्येन नावधीत्।
न हि प्राणवियोगेऽपि, प्राज्ञै र्लङ्घ्यं गुरोर्वचः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, कुमार = जीवन्धर, गुरुवाक्येन = गुरु की आज्ञा से (एव = ही) काष्ठाङ्गारम् = काष्ठाङ्गार को, न अवधीत् = नहीं मारता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, प्राज्ञै = बुद्धिमानो के द्वारा, प्राणवियोगे = जान निकलने का अवसर आने पर, अपि = भी, गुरो = गुरु की, वचः = आज्ञा, न लङ्घ्यम् = लघनीय नही होती ॥१३॥

भावार्थ.—यद्यपि जीवन्धर चाहते तो उस हालत में भी काष्ठाङ्गार को जान से उड़ा देते, किन्तु इनके गुरु ने एक वर्ष तक काष्ठाङ्गार को न मारने की प्रतिज्ञा (द्वितीय लम्ब में) करा दी थी, इसलिये ही उन्हें शांत रहना पड़ा। ठीक ही है, क्योंकि सुशील शिष्य अपनी जान पर भी क्यों न बन आवे, किन्तु गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करते। फिर सुयोग्य जीवन्धर अपने गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन कैसे कर सकते थे?

यक्षेण तत्क्षणे स्वामी, स्मृतेनादायि कृत्यवित्।
सचेतनः कथं नु स्या–दकुर्वन्प्रत्युपक्रियाम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—तत्क्षणे = उसी समय, स्मृतेन = स्मरण किये गये, यक्षेण = भूतपूर्व कुत्ते के जीव सुदर्शन यक्ष के द्वारा, कृत्यवित् = कार्यकुशल, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, आदायि = अदृश्य कर दिये गये। नीतिः—हि = क्योंकि, प्रत्युपक्रियाम् = प्रत्युपकार को, अकुर्वन् = नहीं करने वाला, (जन. = प्राणी) सचेतनः = सजीव, कथम् = कैसे, स्यात् = कहला सकता है ॥१४॥

भावार्थः—मृत्युदण्ड की आज्ञा पाने पर जीवन्धर ने अपने द्वारा उपकृत भूतपूर्व कुत्ते के जीव यक्षेन्द्र सुदर्शन का स्मरण किया, तदनुसार वह भी उसी समय आकर भरी सभा में से उन्हें उठा ले गया। ठीक ही है, क्योंकि उपकारी का प्रत्युपकार न करने पर प्राणी को सचेतन कहलाने का अधिकार नहीं। प्रकृत में विवेकी यक्षेन्द्र ने भी अपने उपकारी जीवन्धर का प्रत्युपकार कर अपनी सचेतना का परिचय दिया ॥१४॥

अतिमात्रशुचा लोकः, पुनरेवमचिन्तयत् ।
गुणज्ञो लोक इत्येषा, किम्वदन्ती हि सूनृतम् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—पुन = फिर, लोक.=जन समुदाय, अतिमात्रशुचा=अतिशय रंज से, एवम्=अग्रिमरीति से, अचिन्तयत्=विचार करने लगा। नीति.—हि=क्योंकि, लोक=मनुष्य, गुणज्ञ=गुणों का जाननेवाला (भवति = होता है) इति = इस प्रकार, एषा=यह किम्वदन्ती=कहावत. सूनृतम्=सत्य (अस्ति=है) ॥१५॥

भावार्थः—जीवन्धर के मृत्युदण्ड का समाचार सुनते ही शोकसागर में निमग्न हुई जनता निम्नप्रकार विचार करने लगी। ठीक ही है, क्योंकि 'जनता गुणों का आदर करती है' इस कहावत के अनुसार उस समय गुणग्राही जनसमुदाय का गुणी उस जीवन्धरको इसविशाल आपत्तिमें दु.खित होना उचितही था।

अतिलोकमिदं शाठ्यं, काष्ठाङ्गारस्य दुर्मतेः ।
एतावदेव किं शाठ्यं, स्वामिद्रोहादबिभ्यतः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—दुर्मते.=दुष्टबुद्धि, काष्ठाङ्गारस्य=काष्ठाङ्गार की, इदम्=यह, शाठ्यम्=दुष्टता, अतिलोकम्=लोकातीत,जातम्=होगई (अथवा) स्वामिद्रोहात्=अपने स्वामी के साथ द्रोह से, अबिभ्यतः= नही डरने वाले काष्ठाङ्गार की, एतावत्=इतनी, एव=ही, शाठ्यम्= दुष्टता, किम्=क्या (अधिकम्=अधिक, अस्ति=है) ? ॥१६॥

भावार्थ—जनता विचार करती है कि निरपराध जीवन्धर को मारने की आज्ञा देकर दुष्ट काष्ठाङ्गार ने जैसी दुष्टता की है, वैसी दुष्टता इस भूमण्डल पर और किसी ने कभी नहीं की। ठीक ही है, क्योंकि जब यह नीच, अपने लिये राज्य देने वाले उन परमोपकारक सत्यन्धर महाराज के साथ भी अन्याय करते नहीं लजाया था, तो फिर उनके सुपुत्र के साथ इतना अन्याय करना इसके लिये कोई विचित्र बात नहीं थी ॥१६॥

समवर्त्यपि दुर्वृत्ति – रासीदणक – भूपवत् ।
न ह्यसारतया हन्त, सोऽपि गृह्णाति दुर्जनान् ॥१७॥

अन्वयार्थों—हन्त=खेद है (यत्=कि) समवर्ती=समान वर्त्ताव करने वाला यमराज, अपि=भी, अणकभूपवत् = निकृष्ट राजा की तरह, दुर्वृत्ति = पक्षपाती, आसीत् = होगया। हि=क्योंकि, असारतया = साररहित होने से, सः = वह, यमराज, अपि=भी, दुर्जनान् = दुष्टों को, न गृह्णाति = ग्रहण नहीं करता ॥१७॥

भावार्थ:—जनसमुदाय विचार करता है कि देखो समवर्ती (सज्जन और दुर्जन के साथ समान व्यवहारशील प्राणघातक) यमराज की भी अब कैसी विपरीत दशा हो गई है, कि वह भी इस समय काष्ठाङ्गार जैसे दुष्ट व्यक्ति को निस्सार समझ कर ग्रहण नहीं कर रहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसे अन्यायी दुष्टपुरुषों के गर्हित जीवनकी अपेक्षा मरण ही अच्छा है।

वारि हंस इव क्षीरं, सारं गृह्णाति सज्जनः ।
यथाश्रुतं यथारुच्यं, शोच्यानां हि कृति र्मता ॥१८॥

अन्वयार्थों—सज्जनः = सज्जन पुरुष, वारि=जलमें (मिश्रितम् = मिले हुए) क्षीरम्=दूध को, हंसः इव = हंस के समान, सारम् = सार भाग को, गृह्णाति=ग्रहण करता है, किन्तु, शोच्यानाम्=दुर्जनों

भावार्थः—जीवन्धर कुमार के प्राणदण्ड के समाचार को सुनकर उनकी माता सुनन्दा और पिता गन्धोत्कट यद्यपि प्राणपरित्याग किये बिना न रहते; किन्तु एक समय चर्या के निमित्त अपने यहां आये हुए किसी महर्षि ने जो भविष्य में जीवन्धर की उन्नतिसूचक वचन कहे थे, उनकी याद कर उस समय उन्होंने धैर्य ही धारण किया। ठीक ही है, क्योंकि दिगम्बर जैन मुनिराज का वचन झूठ कभी नहीं हो सकता, अतएव उस पर उनका विश्वास करना उचित ही था ॥२२॥

स्वामिनो न विषादो वा, प्रसादो वा तदाऽभवत्।
किन्तु पूर्वकृतं कर्म, भोक्तव्यमिति मानसम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, स्वामिनः = जीवन्धर स्वामी के, विषाद = खेद, वा = अथवा प्रसादः = हर्ष, न अभवत् = नहीं हुआ। किन्तु, पूर्वकृतम् = पहिले किया हुआ, कर्म = कर्म, भोक्तव्यम् = भोगना ही पडता है, इति = इस प्रकार, मानसम् = मन में विचार अभवत् = हुआ ॥२३॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठाङ्गार के द्वारा मृत्यु-दण्ड की आज्ञा पाने पर भी खेद नहीं किया था और यक्षेन्द्र के द्वारा छुड़ाये जाने पर हर्ष भी नहीं माना। किन्तु उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म का फल प्राणी को अवश्य भोगना पड़ता है। अतएव कर्मों के शुभाशुभ फल मे मेरा हर्ष या विषाद करना निःसार (व्यर्थ) ही है ॥२३॥

अथ चन्द्रोदयाह्वान-पर्वतस्थं स्वमन्दिरम्।
यक्षेन्द्रः स्वामिनं नीत्वा, कृतवानभिषेचनम् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, यक्षेन्द्रः = यक्षेन्द्र, स्वामिनम् = जीवन्धर स्वामी को, चन्द्रोदयाह्वानपर्वतस्थम् = चन्द्रोदयनामक पर्वत पर स्थित, स्वमन्दिरम् = अपने निवास स्थान को (द्विकर्मकत्वात्

द्वितीया), नीत्वा = ले जाकर, अभिषेचनम् = अभिषेक को, कृतवान् = करता हुआ ॥२४॥

भावार्थः—यक्षेन्द्र ने जीवन्धर स्वामी को चन्द्रोदय-नामक पर्वत पर स्थित अपने निवास स्थान पर ले जाकर उनका अभिषेक किया ॥२४॥

विपच्च सम्पदे पुण्यात्, किमन्यत्तत्र गण्यते ।
भानु र्लोकं तपन्कुर्या—द्विकाशश्रियमम्बुजे ॥२५॥

अन्वयार्थौ—पुण्यात् = पुण्योदय से, विपद् = आपत्ति, अपि = भी, सम्पदे = सुख के लिये, स्यात् = होती है । पुन = फिर, तत्र = उस विषय में, अन्यत् = और, किम् = क्या, गण्यते = गिना जा सकता है? (यथा = जैसे) लोकम् = अखिल ससार को, तपन् = सतप्त करता हुआ, भानु = सूर्य, अम्बुजे = कमलो की कलियो में, विकासश्रियम् = विकास को, कुर्यात् = करता है ॥२५॥

भावार्थ—जैसे, जो सूर्य समस्त ससार को अपने तेज से संतप्त करता है, वही सूर्य भाग्यवान् कमल को विकसित कर उसके सुख का साधन होता है, उसी प्रकार जब पुण्य का उदय होता है; तब आपत्तिया भी सुख का साधन हो जाती हैं। तद्-नुसार जीवन्धर के भी पुण्य का उदय था अतएव उनको दिया हुआ मृत्युदण्ड भी उनके अभिषेक का कारण हुआ ॥२५॥

पयोवार्धिपयः—पूरै—रभिषिच्यायमब्रवीत् ।
पवित्रोऽसि पवित्रं मां, श्वानं यत्कृतवानिति ॥२६॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह यक्षेन्द्र, पयोवार्धिपय पूरै = क्षीर-सागर के जल की धाराओ से, अभिषिच्य = अभिषेक करके (यत् = जिस कारण) त्वम् = तुम, श्वानम् = भूतपूर्व कुत्ते, माम् = मुझ को, पवित्रम् = पवित्र देव, कृतवान् = करने वाले, असि = हो, तत् = इसीलिये,

का, कृतिः = कार्य, हि = निश्चय से, यथाश्रुतम् = सुनने के अनुकूल, च = और, यथारुच्यम् = रुचि के अनुकूल, मता = माना गया है ॥१८॥

भावार्थः—जैसे कि हंस मिले हुए दूध और पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है, उसीप्रकार सज्जन भी उभय प्रकार की वस्तु या बातों मे सारभाग को तो ग्रहण कर लेते हैं और असारभाग को छोड़ देते हैं। किन्तु दुर्जनों के सारासार का विचार नहीं होता, वे तो जनश्रुति और अपनी रुचि के अनुसार ही कार्य कर डालते हैं। अतएव इस नियम के अनुसार काष्ठाङ्गार का यह कृत्य आश्चर्यजनक नहीं है।

हेत्वन्तर–कृतोपेक्षे, गुण–दोष–प्रवर्तिते ।
स्यातामादानहाने चेत्, तद्धि, सौजन्यलक्षणम् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, हेत्वन्तरकृतोपेक्षे = दूसरे कारणों की अपेक्षा रहित, गुणदोषप्रवर्तिते = केवल लाभ और हानि को लक्ष्य कर किये गये, आदानहाने = किसी वस्तु के ग्रहण और त्याग, स्याताम् = होवें (तर्हि = तो) हि = निश्चय से, तत् = वह, एव = ही, सौजन्यलक्षणम् = सज्जनता का चिन्ह (अस्ति = है) ॥१९॥

भावार्थः—किसी प्रकार की प्रेरणा, दबाव या अन्य कारण के बिना वस्तु से होने वाले लाभालाभ का विचार कर ही उसे ग्रहण करना अथवा त्यागना ही सज्जनता कहलाती है। अतएव काष्ठाङ्गार ने बिना विचारे ही निर्दोष भी जीवन्धर के साथ अन्याय व्यवहारकर अपनी दुर्जनताका ही परिचय दिया है।

युक्तायुक्तवितर्केऽपि, तर्कारूढविधावपि ।
पराङ्मुखात्फलं किम्वा, वैदुष्याद्वैभवादपि ॥२०॥

अन्वयार्थौ—युक्तायुक्तवितर्के = योग्य और अयोग्य का विचार हो जाने पर, तर्कारूढविधौ = विचाराधीन कर्तव्य कार्य के निश्चित हो जाने पर, अपि = भी, पराङ्मुखात् उलटा कार्य करने वाली,

वैदुष्यात् = विद्वत्ता से (च = और) वैभवात् = ऐश्वर्य से, अपि = भी, किम् = क्या, फलम् = फल (अस्ति = है ? किन्तु, किमपि न) ॥२०॥

भावार्थः—योग्यायोग्य के विचार से कर्त्तव्य कार्य के निश्चित हो जाने पर भी विपरीत (अनुचित) कार्य में प्रवृत्ति कराने वाले शास्त्रविषयिक पाण्डित्य और ऐश्वर्य व्यर्थ ही हैं। निष्कर्षः—काष्ठाङ्गार ने भी योग्यायोग्य का विचार रखते हुए भी स्वार्थवश जीवन्धर को अनुचित मृत्युदण्ड देकर अपने पाण्डित्य और महत्त्व को निष्फल प्रगट किया है ॥२०॥

इत्यूहादाधि—मापन्ने, लोके तेऽपि युयुत्सवः।
सखायः सानुजाः सर्वे, पश्चात्तापमुपागमन् ॥२१॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, ऊहात् = विचार से, लोके = जनसमुदाय के, आधिम् = हार्दिक दुःख को, आपन्ने सति = प्राप्त होने पर, युयुत्सव = युद्ध के इच्छुक, सानुजा. = छोटे भाई (नन्दाढ्य) सहित, ते = वे, सर्वे – सब, सखाय. = मित्र, अपि = भी, पश्चात्तापम् = खेद को, उपागमन् = प्राप्त हुये ॥२१॥

भावार्थ—जीवन्धर के साथ अनुचित व्यवहार करने के कारण काष्ठाङ्गार के साथ युद्ध करने के इच्छुक उनके छोटे भाई नन्दाढ्य तथा अन्य मित्र भी जीवन्धर के वियोग से जनता के पूर्वोक्त शोक को देख कर शोकातुर हो गये ॥२१॥

स्मरन्तौ मुनिवाक्यस्य, सप्राणौ पितरौ स्थितौ।
वितथे मुनिवाक्येऽपि, प्रामाण्यं वचने कुतः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—मुनिवाक्यस्य = मुनिराज के वचन का, स्मरन्तौ = स्मरण करते हुये, पितरौ = माता पिता, सप्राणौ = जीवित, स्थितौ = रहे। हि = क्योंकि, मुनिवाक्ये = मुनिराज के वचन के, अपि = भी, वितथे सति = झूठ होने पर, वचने = वचन में, प्रामाण्यम् = प्रमाणता, कुत. = कैसे (भवति = हो सकती है ?) ॥२२॥

(मे=मेरे, त्वम्=तुम) पवित्र:=माननीय, असि=हो; इति=इस प्रकार, अब्रवीत्=कहने लगा ॥२६॥

भावार्थः—उस सुदर्शन यक्ष ने वहां पर क्षीरसागर का जल लाकर जीवन्धर स्वामी का अभिषेक किया और कहा कि आपने मुझे कुत्ते की पर्याय मे णमोकार मंत्र सुनाकर पवित्र देवपर्याय प्राप्त कराई है अतएव आप मेरे परम उपकारी और मान्य हैं, इसलिये मैंने आपका अभिषेक किया है और अब आपका नाम भी "पवित्रकुमार" कहा जाना चाहिये ॥२६॥

कामरूपविधौ गाने, विषहाने च शक्तिमत् ।
यक्षेन्द्रः स्वामिने पश्चा—न्मंत्रत्रयमुपादिशत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=अभिषेक करने के बाद, यक्षेन्द्र:=यक्षेन्द्र ने, स्वामिने=जीवन्धर स्वामी के लिये, कामरूपविधौ=इच्छानुसार भेष बनाने में, गाने=गान गानेमें, च=और, विषहाने=विषको दूर करनेमें, शक्तिमात्=समर्थ, मंत्रत्रयम्=तीन मंत्रोको, उपादिशत्=प्रदान किया ।

भावार्थः—उस यक्षेन्द्र ने अभिषेक करने के बाद उन जीवन्धर को आदरपूर्वक तीन मंत्र भी प्रदान किये । जिनमें से प्रथममंत्र के प्रभाव से तो इच्छानुकूल वेश धारण किया जा सकता था, दूसरा मनमोहक गान गाने की शक्ति प्रदान करता था और तीसरा हालाहल विषको दूर करने को समर्थ था ॥२७॥

एकहायनमात्रेण, धुरि राज्ञां प्रवेक्ष्यसि,
मोक्षस्यैव पवित्र त्वं, पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—पवित्र=हे माननीय अथवा पवित्रापरनामक जीवन्धर, त्वम्=तुम, एक हायनमात्रेण=एक वर्ष में (कालवाचित्वात्तृतीया), राज्ञाम्=राजाओं के, धुरि=प्रधान पद पर, प्रवेक्ष्यसि=प्रवेश करोगे । पश्चात्=पीछे, मोक्षस्य=मोक्ष के, धुरि=उत्तम पद पर, एव ही,प्रवेक्ष्यसि,इति=इस प्रकार, स:=उस यक्षेन्द्रने, अब्रवीत्=कहा ।

भावार्थ—उस यक्षेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जान कर जीवन्धर से यह भी कहा कि हे मान्य ! आप एक वर्ष में ही राजा हो जावेंगे और राज्यसुख भोगकर अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

तथा सम्भाव्यमानस्य, स्वामिनस्तेन सन्ततम् ।
देशान्तरदिदृक्षाभूद्, भाव्यधीनं हि मानसम् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—तेन = उस सुदर्शन के द्वारा, सन्ततम् = निरन्तर, तथा = उस प्रकार, सम्भाव्यमानस्य = सत्कृत किये जाने वाले, स्वामिन. = जीवन्धर स्वामी के, देशान्तरदिदृक्षा = अन्य देशो के देखने की इच्छा, अभूत् = हुई । नीतिः—हि = क्योकि, मानसम् = विचार, भाव्यधीनम् = भावी के अनुकूल, एव = ही (भवति = होता है) ॥२६॥

भावार्थः—यद्यपि वह यक्ष पूर्वोक्त रीति से जीवन्धर का अपूर्व सन्मान कर रहा था, फिर भी उनके देशान्तर को देखने की इच्छा हुई । ठीक ही है, क्योंकि प्राणी का विचार भावी के अनुसार होता है । जीवन्धर का भी भविष्य समुज्वल था (पुण्य और स्त्रीलाभ होना था) अतः उनके भी तदनुकूल बुद्धि उपजी ॥२६॥

मनीषितं हितान्वेषी, ज्ञात्वा तस्य मनीषिणः ।
अनुमेने स देवोऽपि, त्रिकालज्ञा हि निर्जराः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हितान्वेषी = हितेच्छु, स. = उस, देवः = देव ने, अपि = भी, तस्य = उस, मनीषिणः = बुद्धिमान् जीवन्धर के, मनीषितम् = अभिप्राय को, ज्ञात्वा = जान कर, अनुमेने = अनुमति दी, । नीतिः—हि = क्योंकि, निर्जराः = देव, त्रिकालज्ञाः = तीनो कालों की बात के जानकार (भवन्ति = होते हैं) ॥३०॥

भावार्थ—यक्षेन्द्र ने भी जीवन्धरकुमार के गमन-विषयिक अभिप्राय को जान कर उन्हें जाने की अनुमति दे दी।

ठीक ही है, क्योंकि देव अवधिज्ञान द्वारा त्रिकाल की बात जान लेते हैं। अतएव यक्षेन्द्र ने भी विना कहे ही जीवन्धर का अभिप्राय जान लिया ॥३०॥

इदन्तया पथोदन्त-मुपादिश्याथ सम्मतः ।
सुदर्शनेन सोऽयासी-द्धितकृत्त्वं हि मित्रता ॥३१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सुदर्शनेन = सुदर्शन यक्ष के द्वारा, इदन्तया = यथोचित रीति से, पथोदन्तम् = मार्ग के वृत्तान्त को उपादिश्य = बताकर, सम्मतः = अनुमत, स. = वह कुमार, अयासीत् = रवाना हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, हितकृत्त्वम् = हितकारीपना, एव = = ही, मित्रता = मित्रता (भवेत् = कहलाती है) ॥३१॥

भावार्थः—पश्चात् उस सुदर्शन यक्ष ने जीवन्धर को गमन के अनुकूल मार्ग बतलाया। ठीक ही है, क्योंकि अपने मित्र का हित करना ही मित्रता है। अतएव यक्ष ने भी अपने मित्र जीवन्धर को योग्य मार्ग बता कर अपने वास्तविक मित्र पने का परिचय दिया। पश्चात् वे कुमार वहां से रवाना हुए ॥३१॥

एकाकी व्यहरत्स्वामी, निर्भयोऽयमितस्ततः ।
न हि स्ववीर्यगुप्तानां, भीतिः केशरिणामिव ॥३२॥

अन्वयार्थौ—अयम् = ये, स्वामी = जीवन्धर, एकाकी = अकेले, (सन् = होते हुये, अपि = भी) निर्भयः = भयरहित (सन् = होते हुये) इतस्ततः = इधर उधर, व्यहरत् = विहार करने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, स्ववीर्यगुप्तानाम् = अपने पराक्रम से रक्षित प्राणियो के, स्ववीर्यगुप्ताना केशरिणाम् इव = पराक्रमी सिंहो के समान (अन्येभ्यः = दूसरो से) भीतिः = भय, न भवति = नही होता ॥३२॥

भावार्थः—जैसे सिंह गहन जंगल मे स्वतन्त्रतापूर्वक अकेला ही घूमता रहता है, अपने पराक्रम के प्रभाव से उसे किसी दूसरे का जरा भी डर नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्धर

भी अकेले ही इच्छित स्थानों मे प्रवास कर रहे थे, तो भी उन्हें किसी से जरा भी भय नहीं हुआ ॥३२॥

एकाकिनोऽपि नोद्वेगो, वशिनस्तस्य जातुचित् ।
विक्रिया हि विमूढानां, सम्पदापल्लवादपि ॥३३॥

अन्वयार्थौ—एकाकिनः = अकेले, अपि = भी, वशिनः = जितेन्द्रिय, तस्य = उन जीवन्धर के, जातुचित् = कभी भी, उद्वेग. = घबराहट न, अभूत् = नही हुई । नीतिः—हि = क्योकि, विमूढानाम् = मूर्खों के, एव = ही, सम्पदापल्लवात् = थोडो सी सम्पत्ति और विपत्ति से, विक्रिया = विकारभाव (हर्षविवाद) जायते = उत्पन्न होता है (महता न = महाजनो के नहीं) ॥३३॥

भावार्थः—थोड़ी सी ही सम्पत्ति से हर्ष और थोड़ी सी ही विपत्ति से विषाद मूर्खों के ही होता है, बुद्धिमानों के नहीं, अतएव महापुरुष (राजपुत्र) जीवन्धर के चित्त में अकेले (कुटुम्बी व परिजन आदि से वियुक्त) रहने रूप विपत्ति से जरा भी खेद नहीं हुआ ॥३३॥

अरण्ये क्वचिदालोक्य, वनदावेन वारितान् ।
दह्यमानानसौ मह्य–स्त्रातुमैच्छदनेकपान् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह, मह्यः = माननीय (जीवन्धर), क्वचित् = किसी, अरण्ये = जंगल में, वनदावेन = वन की अग्नि से, वारितान् = घिरे हुये, (अतएव) दह्यमानान् = जलते हुए, अनेकपान् = हस्तियो को, आलोक्य = देख कर, त्रातुम् = रक्षा करने को, ऐच्छत् = चाहने लगा ॥३४॥

भावार्थः—उन जीवन्धर स्वामी ने किसी जंगल में पहुंच कर चारों ओर से लगी हुई अग्नि मे घिर कर जलते हुये कुछ हस्तियों को देख उन्हें बचाने की इच्छा की ॥३४॥

धर्मो नाम कृपामूलः, सा तु जीवानुकम्पनम् ।
अशरण्यशरण्यत्व-मतो धार्मिकलक्षणम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—धर्म = धर्म, कृपामूल: = दया है मूल जिसमें ऐसा (अस्ति = है) तु = और, सा = वह दया, जीवानुकम्पनम् = जीवों की रक्षा करना (एव = ही, अस्ति = है,) अत: = इसलिये, अशरण्यशरण्यत्वम = रक्षाविहीनों की रक्षा करना (एव = ही) धार्मिकलक्षणम् = धर्मात्मा का लक्षण (अस्ति = है) ॥३५॥

भावार्थः—दया ही धर्म का मूल है और जीवों की रक्षा करना ही दया है, तथा रक्षाविहीनों की रक्षा करना ही धार्मिकता है। इसलिये रक्षाविहीन हस्तियों की रक्षा की इच्छा करने से जीवन्धर की धार्मिकता का भी जनसाधारण को परिज्ञान हुआ ॥३५॥

ववृषु र्वारिदास्तत्र, तावतैव सगर्जिताः ।
सुकृतीनामहो वाञ्छा, सफलैव हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, एव = ही, तत्र = वहा पर, सगर्जिता: = गर्जना करते हुए, वारिदा: = मेघ, ववृषुः = बरसे। नीति-अहो = आश्चर्य है (यत् = कि) सुकृतीनाम् = पुण्यवानों की, वाञ्छा = इच्छा, सफला = सफल, एव = ही, जायते = होती है ॥३६॥

भावार्थः—जिस समय जीवन्धर ने हस्तियों को बचाने की इच्छा की थी, उसी समय उस वन मे गर्जना करते हुये मेघ बरसे। ठीक ही है, क्योंकि पुण्यवानों की इच्छा विफल नहीं होती, अतएव पुण्यात्मा जीवन्धर की हाथियों की रक्षा रूप इच्छा भी मेघवृष्टि से अग्नि बुझ कर सफल ही हुई ॥३६॥

अनेकपानसौ वीक्ष्य, रक्षितानतृपत्तराम् ।
स्वयं त्वसीत्समः स्वामी, स्वस्य बन्धविमोक्षयोः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—असौ = ये जीवन्धर, अनेकपान् = हस्तियो को, रक्षितान् = अग्नि द्वारा जलने से बचे हुए, वीक्ष्य = देखकर, अतृपत्तराम् = अत्यन्त सतुष्ट हुए। किन्तु, स्वामी = जीवन्धरस्वामी, स्वस्य = अपने, वन्धविमोक्षयो = फँस जाने और वच जाने में, स्वयम् = खुद, सम = हर्षविषाद रहित, आसीत् = थे ॥३७॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी ने काष्ठाङ्गार के द्वारा अपने पकड़ाये जाने और यक्षेन्द्र के द्वारा छुड़ाये जाने पर तो जरा भी हर्ष और विषाद नहीं किया था, किन्तु हस्तियों को अग्नि से घिरे देख कर खेद और वृष्टि द्वारा उनके बच जाने पर संतोष किया ॥३७॥

सम्पदापद्द्वये स्वेषां, समभावा हि सज्जनाः।
परेषान्तु प्रसन्नाश्च, विपन्नाश्च निसर्गतः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—सज्जनाः = सज्जनपुरुष, स्वेषाम् = अपने, सम्पदापद्द्वये = सुख और दुःख में (हि = निश्चय से) समभावाः = समानभाव वाले [रागद्वेषरहित] (भवन्ति = रहते हैं)। तु = किन्तु, परेषाम् = दूसरो के, सम्पदापद्द्वये = सम्पत्ति और विपत्ति में, निसर्गतः = स्वभाव से, प्रसन्नाः = प्रसन्न, च = और, विपन्नाः = दुःखी (भवन्ति = होतेहैं)।

भावार्थः—महापुरुष, अपने लिये सुखसामग्री के मिलने पर तो फूलते नहीं हैं और दुःखसामग्री के सयोग होने पर घबड़ाते भी नहीं, अर्थात् दोनों मे समभाव रखते हैं। किन्तु वे ही दूसरों के दुःख आने पर दुःखी और सुख आने पर हर्षित होते ही हैं। तदनुसार (३७ वें श्लोक) का कुल भावार्थ यहां जोड़कर भावार्थ पूरा करना चाहिये ॥३८॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।
सदसत्त्वं हि वस्तूनां, संसर्गादेव दृश्यते ॥३९॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद (सः = वह कुमार) तस्मात् = उस वन से, विनिर्गत्य = निकलकर, तीर्थस्थानानि = तीर्थस्थानों को, अपूजयत् = पूजता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, वस्तूनाम् = पदार्थों की, सदसत्त्वम् = अच्छाई या बुराई, संसर्गात् = संगति से, एव = ही, दृश्यते = देखी जाती है ॥३९॥

भावार्थः—हस्तियों की रक्षा करने के बाद जीवन्धर कुमार उस वन से आगे चल दिये। और मार्ग में जो जो तीर्थ-स्थान मिले, उन सबकी उन्होंने वंदना की। यद्यपि तीर्थस्थानों की भूमि भी एक साधारण पृथ्वी थी परन्तु उस पृथ्वी पर तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों का विहार या उनके गर्भावतरणादि कल्याणक सम्पन्न हुए थे, अतः उसे पूज्य जान स्वामी जीवन्धर ने मार्ग में बीचों बीच प्राप्त हुए उन तीर्थस्थानों की भी पूजा की।

अथ सम्भावयामास, यक्षी सा धर्मरक्षिणी।
धर्ममूर्तिममुं तत्र, सम्यक्कशिपु-दानतः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, तत्र = वहां पर, धर्मरक्षिणी = जिनशासन की रक्षा करनेवाली, सा = प्रसिद्ध, यक्षी = किसी यक्षिणीने, धर्ममूर्तिम् = धर्मात्मा, अमुम् = इस जीवन्धर को, कशिपुदानतः = अन्न वस्त्रादि के दानसे, सम्यक् = भली प्रकार, सम्भावयामास = सत्कृत किया।

भावार्थः—वंदना करते समय किसी तीर्थस्थान में जिनशासन की रक्षिणी एक प्रसिद्ध यक्षिणी (देवी) ने अन्न और वस्त्रादि देकर धर्मात्मा जीवन्धर का बहुत सत्कार किया ॥४०॥

दैवतेनापि पूज्यन्ते, धार्मिकाः किम्पुनः परैः।
अतो धर्मरताः सन्तु, शर्मणे स्पृहयालवः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—धार्मिकाः = धर्मात्मा प्राणी, दैवतेन = देवसमूह के द्वारा, अपि = भी, पूज्यन्ते = पूजे जाते हैं। पुनः = फिर, परैः =

दूसरों से, किम् = क्या, (वक्तव्यम् = कहना है) (अतः = इसलिये) शर्मणे = सुख की, (इच्छार्थकधातो योगे चतुर्थी) स्पृहयालवः = चाहने वाले प्राणी, धर्मरताः = धर्म में लवलीन सन्तु = हो ॥४१॥

भावार्थः—अन्य मनुष्यादि की तो बात ही क्या, किन्तु इस लोक में धर्मात्माओं की देव भी पूजा करते हैं, इसलिये देव पूजा आदि सुखों की चाह करने वालों का कर्त्तव्य है, कि वे उसके कारणभूत धर्म का पालन करें। इसी नीति के अनुसार धर्मात्मा जीवन्धर ने भी देवी के द्वारा सत्कार पाया ॥४१॥

ततः पल्लवदेशस्थां, चन्द्राभाख्यां क्रमात्पुरीम् ।
भेजे शुभनिमित्तेन, सनिमित्ता हि भाविनः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तत = इसके बाद (जीवन्धरकुमार) क्रमात् = क्रम से, पल्लवदेशस्थाम् = पल्लव देश में स्थित, चन्द्राभाख्याम् = चन्द्राभा-नामक, पुरीम् = नगरी को, शुभनिमित्तेन = पुण्योदय भाग्यवश या शुभशकुनों से, भेजे = प्राप्त हुये । नीति—हि = क्योंकि, भाविन = भविष्य में होने वाले कार्य, सनिमित्ताः = पुण्योदयजन्य; भाग्याधीन या शकुनपूर्वक (भवन्ति = होते हैं) ॥४२॥

भावार्थः—जीवन्धर वहां से प्रस्थान कर क्रमशः पल्लव देश में स्थित चन्द्राभा नगरीमे जा पहुँचे । क्योंकि भविष्य कार्य की अच्छाई में पुण्यसंयोग, भाग्य या शुभशकुन कारण अवश्य होते हैं । निष्कर्षः—जीवन्धर को भी चन्द्राभा में होने वाली भविष्य इष्टप्राप्ति में उनका पुण्यसंयोग, भाग्य और प्राप्त शुभ-शकुन कारण हुए थे ॥४२॥

राज्ञो धनपतेः पुत्री—महिदष्टामजीवयत् ।
निर्हेतुकान्यरक्षा हि, सतां नैसर्गिको गुणः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(तत्र = उस चन्द्राभा नगरी में, जीवन्धरकुमार), धनपतेः = धनपति नामक, राज्ञः = राजा की, महिदष्टाम् = सर्प के द्वारा

डँसी हुई, पुत्रीम् = पुत्री को,अजीवयत् = जिलाते हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, निर्हेतुका = विना कारण, अन्यरक्षा = दूसरों की रक्षा करना, सताम् = सज्जनों का, नैसर्गिकः = स्वाभाविक,गुणः = गुण (अस्ति = है)।

भावार्थः— चन्द्राभा नगरी के राजा धनपति की सुपुत्री पद्मा को उसी दिन सर्प ने काट खाया था। इस बात का पता चलते ही जीवन्धर कुमार उसके पास गये और अपने विष-नाशक मंत्र के प्रभाव से क्षणमात्र मे उन्होंने उसे विषरहित कर दिया। ठीक ही है, क्योंकि विना किसी स्वार्थ के दूसरों की रक्षा करना सज्जनों का स्वाभाविक गुण है। तदनुसार सज्जन जीवन्धर ने भी बिना किसी स्वार्थके इस कन्याकी प्राणरक्षाकी।

लोकपालस्तदालोक्य, तज्ज्येष्ठस्तमपूजयत्।
प्राणप्रदायिनामन्या, न ह्यस्ति प्रत्युपक्रिया ॥४४॥

अन्वयार्थौ—(तदा = तव) तज्ज्येष्ठ = उस पुत्री का वडा भाई, लोकपाल. = लोकपाल, तत् = उस हाल को, आलोक्य = देखकर, तम् = उन जीवन्धर को, अपूजयत् = सत्कृत करता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, प्राणप्रदायिनाम = प्राणरक्षा करने वालो का, अन्या = दूसरा कोई, प्रत्युपक्रिया = प्रत्युपकार, न अस्ति = नही होता ॥४४॥

भावार्थ.—राजकुमारी पद्मा के बड़े भाई लोकपाल ने जीवन्धर के द्वारा अपनी बहिन के निर्विष होने का समाचार सुनकर उनका वहुत आदर सत्कार किया। ठीक ही है, क्योंकि प्राणदान देने वालों का तुच्छ वस्तुओं से प्रत्युपकार किया ही नहीं जा सकता। अतएव लोकपाल ने भी सांसारिक वस्तुओं को उनके सत्कार के अयोग्य समझ उनका यथोचित आदर मात्र ही किया ॥४४॥

पूज्या अपि स्वयं सन्तः, सज्जनानां हि पूजकाः।
पूज्यत्वं नाम किन्नु स्यात्, पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥४५॥

अन्वयार्थौ—स्वयम् = खुद, पूज्या. = पूजनीय, अपि = भी, सन्त = सज्जन, सज्जनानाम् = सज्जनो के, पूजका = पूजक (भवन्ति = होते हैं)। नीति—हि = क्योकि, पूज्यपूजाव्यतिक्रमे = पूज्यपुरुषो की पूजा का उल्लघन करने पर, पूज्यत्वं नाम = पूज्यपना, स्यात् = हो सकता है, किन्तु = क्या ? किन्तु, न स्यात् = नही हो सकता है ॥४५॥

भावार्थ.—महापुरुष यद्यपि अपने से छोटों के द्वारा खुद पूजनीय होते हैं, फिर भी वे अपने से बड़ों की स्वयं पूजा (सत्कार) करते हैं। क्योंकि इस नियम को भंग कर यदि वे अपने से बड़ों का सत्कार न करें, तो उनमे स्वयं पूज्यपना नहीं रह सकेगा। इसी नीति के अनुसार प्रजा के पूज्य लोकपाल ने महापुरुष जीवन्धर का अभूतपूर्व आदर किया ॥४५॥

प्राज्ञेषु प्रह्वतावश्य—मात्मवश्योचिता मता ।
प्रह्वताऽपि धनुष्काणां, कार्मुकस्येव कामदा ॥४६॥

अन्वयार्थौ—आत्मवश्या = आत्मा के वश में रहने वाली, प्रह्वता = नम्रता, प्राज्ञेषु = बुद्धिमानो में, अवश्यम् = अवश्य, उचिता = रहने योग्य, मता = मानी गई है। नीति—हि = क्योकि, प्रह्वता = नम्रता, अपि = भी, धनुष्काणाम् = धनुर्धारियो के, कार्मुकस्य = धनुष की प्रह्वता इव = नम्रताके समान, कामदा = मनोरथपूरक, भवति = होती है।

भावार्थ — धनुष की नवन से धनुर्धारी के मनोरथ की पूर्ति के समान नम्रता से मनुष्य के इच्छित कार्य पूर्ण हो जाते हैं, अत: महापुरुषों में नम्रता होना आवश्यक है। तदनुसार लोकपाल ने भी नम्रता दिखाकर अपनी महत्ता का पवित्र परिचय दिया।

वपुर्वीक्षण—मात्रेण, निरणाय्यस्य वैभवम् ।
वपु र्वक्ति हि माहात्म्यं, दौरात्म्यमपि तद्विदाम् ॥४७॥

अन्वयार्थौ—तेन = उस लोकपाल ने, वपुर्वीक्षणमात्रेण = शरीर के देखने मात्र से, अस्य = इस जीवन्धर का, वैभवम् = ऐश्वर्य,

निरणायि=निश्चित किया। नीतिः—हि=क्योंकि, वपुः=शरीर, तद्विदाम्=शरीर के लक्षणों को जानने वालों के (अर्थे=वास्ते) माहात्म्यम्=सज्जनता को (च=और) दौरात्म्यम्=दुर्जनता को, अपि=भी, वक्ति=बतला देता है ॥४७॥

भावार्थ.—शरीर के शुभाशुभ लक्षणों के जानकर मनुष्य, शरीर को देखकर ही शरीरी (प्राणी) की सज्जनता और दुर्जनता का परिज्ञान कर लेते हैं। ४७॥

अर्धराज्यं च कन्यां च, पार्थिवः स्वामिने ददौ।
पात्रतां नीतमात्मानं, स्वयं यान्ति हि सम्पदः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—पार्थिव=धनपति नामक राजा ने, स्वामिने=जीवन्धर स्वामी के लिये (दानार्थकधातो योगे चतुर्थी), अर्धराज्यम्=आधे राज्य को, च=और, कन्याम्=पद्मा नामक कन्या को, च=भी, ददौ=प्रदान किया। नीतिः—हि=क्योंकि, सपदः=सम्पत्तियां, पात्रताम्=योग्यता को, नीतम्=प्राप्त, आत्मानम्=आत्मा को, स्वयम्=अपने आप, यान्ति=प्राप्त हो जाती हैं ॥४८॥

भावार्थ.—धनपति नामक राजा ने सर्व प्रकार परीक्षा कर जीवन्धर को कन्यारत्न के साथ अपना आधा राज्य भी प्रदान किया। सुयोग्य व्यक्तिको सम्पत्तियां अपने आप प्राप्त होजाती हैं।

तिलोत्तमासुतां पश्चात्—लोकपालसमर्पिताम्।
पर्यणैषीत्पवित्रोऽयं, पद्माख्यां तां यवीयसीम् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, पवित्रः=माननीय, अयम्=इस कुमार ने, लोकपालसमर्पिताम्=लोकपाल राजा के द्वारा प्रदत्त, तिलोत्तमासुताम्=तिलोत्तमा रानी की सुपुत्री, यवीयसीम्=युवती, ताम्=उस, पद्माख्याम्=पद्मा को, पर्यणैषीत्=व्याहा ॥४९॥

भावार्थः—कन्यादान को स्वीकार कर जीवन्धर कुमार ने भी तिलोत्तमा और धनपति की सुपुत्री पद्मा को वरण किया।

———:०:———

अथ षष्ठो लम्बः

अथोपयम्य पद्मां तां, रमयन्नप्ययात्ततः ।
असक्तो हि सुखं भुङ्क्ते, कृतार्थोऽपि जनः कृती ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद (जीवन्धर) ताम् = उस, पद्माम् = पद्मा को, उपयम्य = विवाह करके, रमयन् = सभोग करते हुए, अपि = भी, तत = वहा से, ययात् = रवाना हुए । नीतिः—हि =क्योंकि, कृती=धर्मात्मा जन, कृतार्थः = सब साधन सहित, सन्= होता हुआ, अपि=भी, सुखम्=सुखकारक वस्तु को, असक्त सन्= आसक्त नही होता हुआ, एव=ही, भुङ्क्ते = भोगता है ॥१॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार ने पद्मा के साथ विवाह कर उसके साथ कुछ समय तक सासारिक सुख का अनुभव कर किसीसे प्रगट किये बिना ही उस चन्द्राभा नगरीसे प्रस्थान किया। ठीक ही है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुष विषयभोगों के सब साधन मिलने पर भी अतिशय आसक्त न होकर ही उनका भोग करते हैं। तदनुसार महापुरुष जीवन्धर भी विषयों में आसक्त नहीं थे, जिससे उन्हें भी उनसे मुख मोडते देर न लगी ॥१॥

पद्मा तु तद्वियोगेन, दुःखसागरसाद्भूत् ।
तत्त्वज्ञानविहीनानां, दुःखमेव हि शाश्वतम् ॥२॥

अन्वयार्थौ—तु = लेकिन, पद्मा = पद्मा, तद्वियोगेन = जीवन्धर के वियोग से, दुःखसागरसात् = दुःखरूपी समुद्र के अधीन, अभूत् = हो गई । नीतिः—हि = क्योंकि, तत्त्वज्ञानविहीनानाम् = तत्त्वज्ञान रहित प्राणियों के, शाश्वतम् = निरन्तर, दुःखम् = दुःख, एव = ही (स्यात्=होता है) ॥२॥

भावार्थः--अपने स्वामी जीवन्धर के चले जाने पर पद्मा ने वहुत शोक किया। ठीक ही है, क्योंकि तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) रहित जीवों के निरन्तर ही दुःख हुआ करता है। तदनुसार पद्मा भी तत्त्वज्ञान (सम्मेलन और वियोग अनिवार्य हैं इस प्रकार ज्ञान) रहित थी, इसलिये उसे भी रंज हुआ ॥२॥

लोकपालजनैर्नायं, रोद्धुं शेके गवेषिभिः।
प्रतिहन्तुं न हि प्राज्ञैः, प्रारब्धं पार्यते परैः ॥३॥

अन्वयार्थौ—गवेषिभि = तलाशने वाले, लोकपालजनैः = लोकपाल के नौकरो के द्वारा, अयम् = ये जीवन्धरकुमार, रोद्धुम् = रोके जाने को, न शेके = समर्थ नही हुए। नीति.-हि = क्योंकि, प्राज्ञै. = बुद्धिमानो के द्वारा, प्रारब्धम् = प्रारम्भ किया गया (कार्य), परै. = दूसरो के द्वारा, प्रतिहन्तुम् = रोकने के लिये, न पार्यते = शक्य नही होता ॥३॥

भावार्थः—पद्मा के ज्येष्ठभ्राता लोकपाल ने जीवन्धर की तलाश के लिये देशदेशान्तरों मे अपने सेवक भेजे। परन्तु वे उन्हे खोज कर भी वापिस नहीं लासके। ठीक ही है, क्योंकि बुद्धिमान जिस काम को करते हैं, उसमें अन्य कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता, तो फिर जीवन्धर के गमन में वे सेवक बाधा कैसे कर सकते थे? ॥३॥

सत्वरं गत्वरः स्वामी, तीर्थस्थानान्यपूजयत्।
पावनानि हि जायन्ते, स्थानान्यपि सदाश्रयात् ॥४॥

अन्वयार्थौ—सत्वरम् = शीघ्र, गत्वर = चलने वाले, स्वामी = जीवन्धर, तीर्थस्थानानि = अनेक तीर्थस्थानो को, अपूजयत् = पूजते हुये। नीति —हि = क्योंकि, सदाश्रयात् = महाजनो के सम्पर्क से, स्थानानि = स्थान, अपि = भी, पावनानि = पवित्र, जायन्ते = हो जाते हैं ॥४॥

भावार्थ—शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करते हुए उन जीवन्धर स्वामी ने बीच में आये हुये अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना की। ठीक ही है, क्योंकि महाजनों के सम्पर्क से स्थान भी पवित्र और पूजनीय माने जाने लगते हैं। तदनुसार उन स्थानों मे पूज्य तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों का विहार आदि हुआ था, अतएव वे भी उनकी भांति से पूज्य प्रसिद्ध हुए ॥४॥

सद्भिरध्युषिता धात्री, सम्पूज्येति किमद्भुतम् ।
कालायसं हि कल्याणं, कल्पते रसयोगतः ॥५॥

अन्वयार्थौ—सद्भिः = महापुरुषो के द्वारा, अध्युषिता = निवास की गई, धात्री = पृथिवी, सम्पूज्या = पूजनीय, भवति = होती है। अत्र = इस विषय में, किम् = क्या अद्भुतम् = आश्चर्य (अस्ति = है) नीतिः—हि = क्योकि, रसयोगत = रसायन के सम्बन्ध से, कालायसम् = लोहा, (अपि = भी) कल्याणम् = सुवर्ण रूप, कल्पते = होजाता है। वस्धातो क्तप्रत्यये सम्प्रसारणे मूर्धन्यादेशे इडागमे 'उषिता' इति सिद्धम्।

भावार्थ—जैसे तुच्छ और काला लोहा, रसायन आदिके संसर्गसे प्रशस्त सुवर्ण वन जाता है उसीप्रकार तीर्थङ्कर या गणधर आदि महापुरुषों के संसर्ग से जमीन भी पूज्य होजाती है।

सदसत्सङ्गमादेव, सदसत्त्वे नृणामपि ।
तस्मात्सत्सङ्गताः सन्तु, सन्तो दुर्जनदूरगाः ॥६॥

अन्वयार्थौ—नृणाम् = जनसाधारण के, सदसत्त्वे = सज्जनता और दुर्जनता, अपि = भी, सदसत्सङ्गमात् = सज्जनो और दुर्जनो के समागम से, एव = ही (जायेते = होती हैं) तस्मात् = इसलिये, सन्त. = महापुरुष, दुर्जनदूरगाः = दुर्जनो से दूर रहने वाले, च = और, सत्सगता. = सज्जनो की सङ्गति करने वाले, सन्तु = हो ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य सत्सगति करनेसे सज्जन और कुसङ्गति

करने से दुर्जन हो जाता है, इसलिये आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे सत्संगति करें और कुसंगति से दूर रहें ॥६॥

याजंयाजमटन्नेव, तीर्थस्थानानि जीवकः ।
क्रमेणारण्यमध्यस्थं, तापसाश्रममाश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—जीवकः = जीवन्धरस्वामी, अटन् = घूमते हुये, एव = ही, तीर्थस्थानानि = तीर्थस्थानो को, याजयाजम् = पूज पूज कर, क्रमेण = क्रम से, अरण्यमध्यस्थम् = वनके बीच में स्थित, तापसाश्रमम् = तपस्वियो के मठ को, आश्रयत = प्राप्त हुये ॥७॥

भावार्थ—जीवन्धर स्वामी क्रम से जाते हुये मार्ग में आये हुये अनेक तीर्थस्थानों (क्षेत्रों) की वंदना और पूजा करते करते किसी जंगल (पल्लवदेश मे स्थित चित्रकूट पर्वत) के बीच में स्थित एक साधुओं के मठ में जा पहुँचे ॥७॥

असत्तपो विलोक्यासी–दनुकम्पी तपस्विनाम् ।
निर्व्याजं सानुकम्पा हि, सार्वाः सर्वेषु जन्तुषु ॥८॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धरस्वामी, वहा पर) तपस्विनाम् = साधुओ के, असत् = मिथ्या, तप = तप को, विलोक्य = देखकर, अनुकम्पी = दयायुक्त, आसीत् = हुये। नीति.—हि = क्योंकि, सार्वाः = सबके हितकारी जन, सर्वेषु = समस्त, जन्तुषु = प्राणियो पर, निर्व्याज यथा स्यात्तथा = निष्कपट, सानुकम्पाः = दयालु (भवन्ति = होते हैं) ॥८॥

भावार्थः—मठ मे पहुँच कर जब जीवन्धर ने वहा के साधुओं को पंचाग्नि के वीच मिथ्यातप तपते देखा, तब उन पर वे बहुत दयार्द्र हुये। ठीक ही है, क्योंकि सर्वहितैषी महापुरुष समस्त प्राणियों पर समदृष्टि से निष्कपट (प्रत्युपकारादिनिरपेक्ष) दया करते हैं। अतएव जीवन्धरने भी उन साधुओं के विधर्मीपन का जरा भी विचार न कर उनपर निम्नप्रकार दया की ॥८॥

अतत्त्वज्ञेऽपि तत्त्वज्ञै-र्भवितव्यं दयालुभिः ।
कूपे पिपतिषु र्बालो, न हि केनाऽप्युपेक्षते ॥९॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञैं = तत्त्वज्ञानियों के द्वारा, अतत्त्वज्ञे = तत्त्वज्ञानरहित प्राणी पर,अपि = भी,दयालुभिः = दयावान्,भवितव्यम् = होना चाहिये। नीति —हि = क्योंकि, कूपे = कुएँ में, पिपतिषुः = गिरने की इच्छा करने वाला, बाल. = बालक, केन = किसी के द्वारा, अपि = भी, न उपेक्षते = उपेक्षित नही किया जाता ॥९॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञानियों का कर्त्तव्य है कि वे मूर्खों पर भी दया करे, क्योंकि जिस प्रकार कुए में गिरते हुये बालक को सभी दर्शक बचाने की कोशिश करते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व मे पड़ते हुये प्राणी को उससे बचाने की कोशिश करना प्रत्येक सुधी का (विवेकी) का कर्त्तव्य है। अतएव विद्वान् जीवन्धर ने भी उन साधुओं को मिथ्यात्व से निकालना अपना कर्त्तव्य समझा ॥९॥

तानप्यबूबुधत्तत्त्वं, तत्त्वज्ञः सोऽयमादरात् ।
भव्यो वा स्यान्न वा श्रोता, पारार्थ्यं हि सतां मनः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञ = तत्त्वज्ञानी, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह जीवन्धरकुमार,तान् = उन साधुओं को,आदरात् = मिष्टवचन से, तत्त्वम् =यथार्थ तत्त्व को, (द्विकर्मकतात्र धातो) अबूबुधत् =समझाता हुआ। नीति —हि = क्योंकि, श्रोता = सुननेवाला, भव्य. = भव्य, स्यात् = हो, वा = अथवा, न स्यात् = न हो, किन्तु, सताम् = सज्जनो का, मनः = मन,पारार्थ्यम् = परोपकार में तत्पर, (एव = ही,वर्तते = होता है) ॥१०॥

भावार्थः—श्रोता चाहे भव्य हो चाहे अभव्य, किन्तु सज्जन पुरुष हितकर उपदेश देते ही हैं, अतएव महापुरुष जीवन्धर ने भी उन साधुओं के भव्याभव्यत्व का विचार न कर

अतिशय मीठे वचन से उन्हें यथार्थ कर्त्तव्य का निम्नप्रकार उपदेश दिया ॥१०॥

न हिंस्यात्सर्वभूतानी—त्यस्मिन्प्रवचने सति ।
तप्यध्वं किं वुधा यूयं, हिंसामात्रफलं तपः ॥११॥

न्वयार्थौ—हे वुधा = हे समझदार तपस्वियो, 'सर्वभूतानि = किसी भी प्राणी को, न हिंस्यात् = नही मारना चाहिये,' इति = इस प्रकार, अस्मिन् = इस, प्रवचने = शास्त्रीय वेदवाक्य के, सति = होने पर, यूयम् = तुम सव, हिंसामात्रफलम् = हिंसामात्र फल वाले, तपः = तप को, किम् = क्यों, तप्यध्वम् = करते हो ॥११॥

भावार्थ—हे विद्वान् तपस्वियो ! जव कि तुम्हारे सर्वथा माननीय वेद में भी "किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो" इस प्रकार लिखा है, तव तुम ऐसा तप क्यों तपते हो; जिसमें केवल हिंसा ही हाथ आती है ॥११॥

जलावगाहने लग्नान्, जटायां काष्ठगानपि ।
नश्यतः पश्यतां जन्तून्, पश्यताग्नौ पुनश्च्युतान् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(यूयम् = तुम सव), जलावगाहने = जलाशय में नहाते समय, जटायाम् = जटाओं में, लग्नान् = फँसे हुये, अपि = और, काष्ठगान् = पचाग्नि की लकड़ियो में घुसे हुये, पुनः = फिर, अग्नौ = अग्नि में, च्युतान् गिरे हुये (अतएव) पश्यताम् = देखने वालों के, अग्रे = प्रत्यक्ष, नश्यतः = मरते हुये, जन्तून् = प्राणियों को, पश्यत = देखो ॥१२॥

भावार्थः—आप अयुक्ताचारपूर्वक जव किसी सरोवर में नहाते हैं, तव आपकी जटाओं में जल के प्राणी फँस जाते हैं, तथा पंचाग्नि की लकड़ियों के अन्दर भी वहुत से प्राणी घुसे रहते हैं वे सव तुम्हारे पंचाग्नि (चारों दिशाओं में अग्नि की चार

भट्टियां और ऊपर सूर्य इन पांचों के बीच बैठकर तप करना पञ्चाग्नि तप कहलाता है) तप करते समय अन्य दर्शकों और सुलोचनयुक्त तुम सब के समक्ष ही अग्नि मे गिर गिरकर प्राण-विसर्जन करते हैं। उन पर भी तुम्हें जरा दृष्टिपात करना चाहिये।

पञ्चाग्निमध्यमस्थानं, ततो नैवोचितं तपः ।
जन्तुमारणहेतुत्वा—दाजवञ्जवकारणम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसलिये, पञ्चाग्निमध्यमस्थानम् = पचाग्नि के वीच में है स्थिति (बैठना) जिसमें ऐसा, तप. = तप, उचितम् = करने योग्य, नास्ति = नही है । (यतः = क्योंकि, तत् = वह, पचाग्नितप) जन्तुमारणहेतुत्वात् = जीवहिंसा का कारण होने से, आजवञ्जवकारणम् = ससार का कारण (एव = ही, भवति = होता है) ॥१५॥

भावार्थ.—जब कि पञ्चाग्नि तप में जीवघात प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, तब उसके करने से कुछ भी सार नहीं। क्योंकि तप का मूल उद्देश्य (फल) तो मुक्ति है, किन्तु पञ्चाग्नि तप से तो हिंसा होने के कारण उल्टा संसार का परिभ्रमण ही हाथ लगता है ॥१३॥

तत्तपो यत्र जन्तूनां, संतापो नैव जातुचित् ।
तच्चारम्भनिवृत्तौ स्यान्न ह्यारम्भो विहिंसनः ॥१४॥

अन्वयार्थौ—यत्र = जिसमें, जन्तूनाम् = प्राणियो के, जातुचित् = कभी भी, सतापः = क्लेश, न स्यात् = नही होता, तत् = वह, एव = ही, तपः = तप, अस्ति = है । च = और, तत् = वह तप, आरम्भनिवृत्तौ = आरम के हट जाने पर, एव = ही, स्यात् = होता है । हि = क्योंकि, आरभः = आरम्भ, विहिसन॰ = हिंसारहित, न स्यात् = नही होता ।

भावार्थः—जिसमें अन्य जीवों को जरा भी क्लेश नहीं होता वही वास्तविक तप है। ऐसा तप स्नान और पञ्चाग्नि

आदि आरम्भ के परित्याग करने पर ही हो सकता है, क्योंकि आरम्भ में हिंसा का होना अनिवार्य है । और हिंसा का होना ही संक्लेश है। इसलिए तप के हेतु आरम्भ करना मानो तप का सत्यानाश करना ही है ॥१४॥

आरम्भविनिवृत्तिश्च, निर्ग्रन्थेष्वेव जायते ।
न हि कार्यपराचीनै-र्मृग्यते भुवि कारणम् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—च = और, आरम्भविनिवृत्ति. = आरम्भ का अभाव,निर्ग्रन्थेषु = परिग्रहरहित मनुष्यों में,एव = ही,जायते = होता है। नीति.—हि = क्योकि, भुवि = भूतल पर,कार्यपराचीनैः = कार्य से विमुख पुरुषों के द्वारा,कारणम् = कारण,न मृग्यते = नही तलाशा जाता ॥१५॥

भावार्थः—आरम्भ का परित्याग भी बाह्य और आभ्यन्तर सर्वप्रकार के परिग्रहों के त्यागी मुनिराजों के ही हो सकता है। क्योंकि जैसे जो मनुष्य जिस कार्य को नहीं करना चाहता वह उसके कारणों की भी तलाश नहीं करता, उसी प्रकार जिन्हे कोई सांसारिक (परिग्रहीय) कार्य नहीं करना है, वे उसके कारणभूत आरम्भ को क्या करेंगे ? ॥१५॥

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपोऽन्यत्तु, संसारस्यैव साधनम् ।
मुमुक्षूणां हि कायोऽपि, हेयः किमपरं पुनः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, नैर्ग्रन्थ्यम् = परिग्रह का त्याग, एव = ही, तप = वास्तविक तप (अस्ति = है) अन्यत् = इससे भिन्न तप, तु = तो, ससारस्य = ससार का, (एव = ही) साधनम् कारण (अस्ति = है, अतएव) मुमुक्षूणाम् = मोक्ष के चाहने वालों के, काय. = शरीर, अपि = भी, हेयः = छोड़ने योग्य (कथितः = कहा गया है) पुन: = फिर, अपरम् = और, कि वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥१६॥

भावार्थः—बाह्य और आभ्यान्तर सर्व परिग्रहों का भली प्रकार त्याग कर देना ही मुक्तिदायक यथार्थ तप है, किन्तु इससे भिन्न सर्व तप जन्ममरणरूप ससार का ही कारण है। इसलिए मोक्ष चाहने वालों को अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या? किन्तु आत्मा से सर्वथा अभिन्न दृष्टिगोचर होने वाला शरीर भी त्याज्य समझना पड़ता है ॥१६॥

ग्रन्थानुबन्धी संसार—स्तेनैव न परिक्षयी ।
रक्तेन दूषितं वस्त्रं, न हि रक्तेन शुध्यति ॥१७॥

अन्वयार्थौ—ग्रन्थानुबन्धी = रागद्वेषादि परिग्रहकारणक, ससार = ससार, तेन = उस परिग्रह से, एव = ही परिक्षयी = नष्ट, न भवति = नही हो सकता। नीतिः—हि = क्योंकि, रक्तेन = रक्त से, दूषितम् = खराब किया हुआ, वस्त्रम् = वस्त्र, रक्तेन = रक्त से, एव = ही, न शुध्यति = साफ नही होता ॥१७॥

भावार्थः—जैसे कि रक्त (खून) से सना (भींगा) वस्त्र खून से ही साफ और पवित्र नहीं हो सकता, किन्तु उसे साफ और पवित्र करने के लिए पानी और साबुन आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जो संसार रागद्वेष आदि परिग्रहों से ही प्राप्त होता है, उसका उन परिग्रहों से ही नाश नहीं हो सकता ॥१७॥

तत्त्वज्ञानविहीनानां, नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्य-मन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञा हीनानाम् = तत्त्वज्ञानरहित जीवों के, नैर्ग्रन्थ्यम् = परिग्रह का परित्याग-मुनित्व, अपि = भी, निष्फलम् = फलरहित (भवति = होता है) नीतिः—हि = क्योंकि, अतण्डुलैः = चावलों से भिन्न, अन्यैः = अन्य, स्थाल्यादिभिः = बटलोई, जल और अग्नि आदि

से, अन्नम् = अन्न (भात),साध्यम् = पक्व, न भवति = नहीं होता ॥१८॥

भावार्थः—उपदानकारण के विना केवल निमित्त-कारण से कार्य कदापि निष्पन्न नहीं होता, अतएव जैसे भात के निमित्तकारण बटलोई; जल और अग्नि आदि के रहते हुये भी उपादानकारण चांवलों के बिना भात नहीं बनता, इसी प्रकार उपादानकारण तत्त्वज्ञान के बिना केवल निमित्तकारण परिग्रह के परित्याग मात्र से मोक्षप्राप्ति नहीं होती। इसीलिये तत्त्वज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना परिग्रह का परित्याग कर मुनि होना भी द्रव्यलिङ्गी मुनि के समान निःसार ही है ॥१८॥

तत्त्वज्ञानं च जीवादि—तत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः।
अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन्, मिथ्याज्ञानं तु कथ्यते॥

अन्वयार्थौ—च = और, जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः = जीवादितत्त्वो का यथार्थ निश्चय होना, एव = ही, तत्त्वज्ञानम् = सम्यग्ज्ञान (कथ्यते = कहलाता है) तु = और,अन्यथा = अन्यप्रकार,धी. = निश्चय करना, अस्मिन् लोके = इस लोक में, मिथ्याज्ञानम् = मिथ्याज्ञान, कथ्यते = कहलाता है ॥१९॥

भावार्थः—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातों तत्त्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्यों का त्यों (यथार्थ) जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है और इससे विपरीत जानना मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥१९॥

आप्तागमपदार्थाख्य — तत्त्ववेदन—तद्रुची ।
वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—माप्तागमपदार्थाख्यतत्त्ववेदनतद्रुची = सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्यार्थ तत्त्वों का यथार्थ परिज्ञान होना तो सम्यग्ज्ञान और यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन (कथ्येते = कहलाते हैं) च = और

तद्द्वयस्य = उन दोनोंका, आत्मनि = आत्मा में, अस्खलद्वृत्तिधारणम् = स्थिररूप से धारण करना, वृत्तम् = सम्यक्चारित्र (कथ्यते = कहलाता है)।

भावार्थ.—सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्यार्थ सातों तत्त्वों का यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है और उन्हीं का यथावत् श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का आत्मा में अटलरूप से धारण करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥२०॥

इति त्रयी तु मार्गः स्या-दपवर्गस्य नापरम् ।
बाह्यमन्यत्तपः सर्वं, तत्त्रयस्यैव साधनम् ॥२१॥

अन्वयार्थौ—इति = यह, त्रयी = तीनों का समूह, तु = तो, अपवर्गस्य = मोक्ष के, मार्गः = पाने का उपाय, अस्ति = है। अपरम् = अन्य कोई, न = नहीं। (और) अन्यत् = अन्य, सर्वम् = सब, बाह्यम् = अनशनादि बाह्य, तप = तप, तत्त्रयस्य = उन तीनों का, एव = ही, साधनम् = साधक (अस्ति = है। ॥२१॥

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही साक्षात् मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं और इनसे भिन्न तप आदिक जो जो धार्मिक क्रियाकलाप हैं, वे सब इन तीनों के ही कारण होने से परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं, साक्षात् नहीं।

न च बाह्यतपोहीन—माभ्यन्तरतपो भवेत् ।
तण्डुलस्यैव विक्लित्ति-र्न हि वह्न्यादिकं विना ॥२२॥

अन्वयार्थौ—च = और, बाह्यतपोहीनम् = बहिरंग तप के बिना, आभ्यन्तरतपः = प्रायश्चित्तादि अन्तरंगतप, न भवेत् = नहीं होता नीतिः—हि = क्योंकि, वह्न्यादिकं विना = अग्नि आदि के बिना, (बिना तिसः इति द्वितीया) तण्डुलस्य = चांवलों का, विक्लित्तिः — पकना, एव = ही, न भवेत् = नहीं हो सकता ॥२२॥

भावार्थः—निमित्तकारण के विना केवल उपादानकारण से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती। अतएव जैसे भात पकने के लिये मिमित्तकरण अग्नि, जल और बटलोई आदि का होना आवश्यक है, उसी प्रकार अंतरंग तप की सिद्धि के लिये वहिरंग तप का होना भी परमावश्यक है, विना बाह्यतप से अंतरंग तप नहीं होता ॥२२॥

तत्त्रयं च न मोक्षार्थ—माप्ताभासादिगोचरम् ।
ध्यातो गरुड़बोधेन, न हि हन्ति विषं बकः ॥२३॥

अन्वयार्थौ—च = और, आप्ताभासादिगोचरम् = झूठे देव, झूठे शास्त्र और कल्पितपदार्थ हैं विषय जिनके ऐसे, तत्त्रयम् = वे तीनों, मोक्षार्थम् = मोक्ष के साधन, न भवति = नही होते। नीतिः—हि= क्योंकि, गरुडबोधेन = गरुड़ की बुद्धि से, ध्यातः = ध्याया गया, बकः = बगुला, विषम् = विष को, न हन्ति = नष्ट नही करता ॥२३॥

भावार्थः—जैसे सर्प का विष गरुड़ का ध्यान करने से ही नष्ट होता है, बगुले को गरुड़ मान कर उसके ध्यान (जाप) से नहीं, उसी प्रकार सत्यार्थ देव, शास्त्र और तत्त्वों के श्रद्धान ज्ञान और आचरण से ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है, मिथ्यादेव, शास्त्र और तत्त्वों के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण स्वरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से नहीं ॥२३॥

सर्वदोष—विनिर्मुक्तं, सर्वज्ञोपज्ञ—मञ्जसा ।
तप्यध्वं तत्तपो यूयं, किं मुधा तुषखण्डनैः ॥२४॥

अन्वयार्थौ—तत् = इसलिये, यूयम् = तुम लोग, सर्वदोषविनिर्मुक्तम्=हिंसादिक दोषों से रहित, अञ्जसा = निश्चय से, सर्वज्ञोपज्ञम्= सर्वज्ञ देव के द्वारा उपदिष्ट, तपः = तपको, तप्यध्वम् = करो, मुधा = व्यर्थ, तुषखंडनै = भूसे के कूटने से, किम्=क्या लाभ, अस्ति=हो सकता है ?

भावार्थः—जैसे चांवल रहित भूसे को कूटने से कुछ भी सार नहीं निकलता, उसी प्रकार मिथ्यातप के तपने से भी लाभ नहीं होता। अतएव तुम्हारा कर्त्तव्य है कि इस मिथ्यातप को छोड़कर सर्वदोष रहित और जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट तप को ही तपो ॥२४॥

रागादिदोषसंयुक्तः, प्राणिनां नैव तारकः।
पतन्तः स्वयमन्येषां, न हि हस्तावलम्बनम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—रागादिदोषसयुक्त = रागादि दोषों सहित, देवः = देव,प्राणिनाम् = प्राणियों का,तारक. = उद्धार करने वाला,न भवति = नहीं होता। नीति —हि = क्योकि, स्वयम् = खुद,पतन्तः = गिरने वाले जन, अन्येषाम् = दूसरों के, हस्तावलम्बनम् = हाथ का सहारा, न भवन्ति = नही होते ॥२५॥

भावार्थ.—जो देव रागद्वेषादि दोषों से लिप्त है, वह दूसरे जीवों का हितकारी कभी भी नहीं हो सकता। जैसे जो स्वय किसी गड्ढे में गिर रहा हो. वह उसी में गिरते हुये किसी अन्य जन को नहीं बचा सकता, उसीप्रकार रागद्वेषादि के कारण जो स्वयं संसारसागर में डूब रहा है, वह उसी मे डूबते हुये अन्य प्राणी को कैसे बचा सकता है ? इसलिये जो रागादि दोषों से रहित हो वही सच्चा देव है ॥२५॥

न च क्रीडा विभोस्तस्य, बालिशेष्वेव दर्शनात्।
अतृप्तश्च भवेत्तृप्तिं, क्रीडया कर्तुमुद्यतः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस, विभोः = देव के, क्रीडा = क्रीडा, च = भी,न भवति = नही होती। तस्या. = उस क्रीडा के,बालिशेषु = अज्ञानियों में, एव = ही, दर्शनात् = देखे जाने से। (तथा), अतृप्तः = तृप्तिरहित (जन), एव = ही, क्रीडया = क्रीडा से, तृप्तिम् = तृप्ति को,

कर्तुम् = करने के लिये, उद्यतः = तत्पर, भवेत् = होता है ॥२६॥

भावार्थः—कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर रागादि रहित होकर भी क्रीडा के रूप में जगत् का निर्माण करता है। ऐसे लोगों के प्रति कहा जाता है कि अज्ञानी बालकों में देखी जाने वाली क्रीडा उस सर्वज्ञ कृतकृत्य परमात्मा में कैसे संभव हो सकती है? दूसरी बात यह भी है कि असंतुष्ट व्यक्ति ही क्रीडा से संतोष प्राप्त करने के निमित्त उस (क्रीडा) के करने में तत्पर होता है, किन्तु वह ईश्वर तो पूर्णतया संतुष्ट है, इसलिये भी उसके क्रीडा की संभावना नहीं की जा सकती ॥२६॥

स्वैराचारस्वभावोऽपि, नेश्वरस्यैश–हानितः ।
अप्यस्मदादिभि र्द्वेष्यं, सर्वोत्कर्षवतः कुतः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—ऐश्यहानितः = ईश्वरपने में क्षति होने से, ईश्वरस्य = सच्चे देव के, स्वैराचारस्वभाव = स्वेच्छाचार स्वभाव, अपि = भी, न भवति = नहीं हो सकता, यतः = क्योंकि, अस्मदादिभि. = हम जैसे साधारण मनुष्यों के द्वारा, अपि = भी, द्वेष्यम् = द्वेष करने योग्य (सामान्ये नपुंसकम्) (स्वेच्छाचार स्वभाव) सर्वोत्कर्षवतः = सर्वोत्कर्षशाली ईश्वर (देव) के, कुत. = कैसे, सम्भवति = हो सकता है।

भावार्थः—स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने से प्रभुत्व की क्षति होती है। और जब कि हम लोग साधारण जन भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं, तो वह सर्वोत्कर्षशाली मान्य देव के कैसे सम्भव हो सकती है? इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति न करने वाला ही सच्चा देव कहला सकता है ॥२७॥

अदोषश्चेदकृत्यं च, कृतिनः किमु कृत्यतः ।
स्वैराचारविधि र्दृष्टो, मत्त एव न चोत्तमे ॥२८॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि (वह ईश्वर देव) अदोषः = निर्दोष

(अस्ति = है) च = और (उस ईश्वर के) अकृत्यम् = करने योग्य कार्य का अभाव (अस्ति = है, तर्हि = तो) कृतिनः = कृतकृत्य उस ईश्वर के, कृत्यत = कार्य करने से, किमु = क्या फल, अस्ति = है। च = और, स्वैराचारविधि = स्वेच्छाचार प्रवृत्ति, मत्ते = उन्मत्त पुरुष में, एव = हीं, दृष्ट. = देखी जाती है, उत्तमे = महापुरुष में, न = नही ॥२८॥

भावार्थः—जब कि परमार्थ देव निर्दोष और कृतकृत्य है, तो फिर वह सृष्टिरचनारूप सदोष स्वेच्छाचार प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ? क्योंकि स्वच्छन्द प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुषों में ही देखी गई है, महापुरुषों में नहीं। अतएव महापुरुषों के भी पूज्य सर्व देव के स्वच्छन्द प्रवृत्ति का दोष मढ़ना अक्षम्य अविवेक है।

इति प्रबोधिताः केचिद्, बभूवुस्तेषु धार्मिकाः।
मृत्स्ना ह्यार्द्रत्वमायाति, नोपलं जलसेचनात् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—तेषु = उनमें से, इति = इस प्रकार (पूर्वरीति से) प्रबोधिता = समझाये गये, केचित् = कई साधु, धार्मिका. = धर्मात्मा, बभूवु = होगये। नीतिः—हि = क्योंकि, जलसेचनात् = जल के सींचने से, मृत्स्ना = अच्छी मिट्टी, एव = ही, आर्द्रत्वम् = गीलेपन को, आयाति = प्राप्त होती है, उपलम् = पत्थर, न = नही ॥२९॥

भावार्थ—जैसे जल के सिंचन से अच्छी मिट्टी ही गीली होती है, पत्थर नहीं, इसीप्रकार सदुपदेश सुपात्रों में ही सफल होता है; कुपात्रों में नहीं। तदनुसार जीवन्धर स्वामी ने यद्यपि सभी को सदृश हितकर उपदेश दिया था, तो भी अनेक मूर्खों पर उसका जरा भी असर नहीं हुआ, केवल कुछ कोमल चित्त साधुओं ने ही उसे अंगीकार किया ॥२९॥

धर्माश्रितान्समालोक्य, तापसान्मुमुदे कृती।
प्रीतये हि सतां लोके, स्वोदयाच्च परोदयः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—कृती = विद्वान् (जीवन्धर) तापसान् = तपस्वियों को, धर्माश्रितान् = धर्मासक्त, अवलोक्य = देखकर, मुमुदे = आनन्दित हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = संसार में, सताम् = सज्जनों के, स्वोदयात् = अपने उत्कर्ष की अपेक्षा, परोदयः = दूसरों का उत्कर्ष, प्रीतये = प्रीति के लिये (भवति = होता है) ॥३०॥

भावार्थः—साधुओं को धर्मासक्त देखकर जीवन्धर को बहुत आनन्द हुआ। ठीक ही है, क्योंकि दूसरे के उत्कर्ष को देखकर महापुरुष अपने उत्कर्ष से भी अधिक हर्ष मानते हैं। अतएव साधुओं के जिनधर्म के स्वीकार रूप उत्कर्ष को देख कर जीवन्धर का भी आनन्दित होना उचित ही था ॥३०॥

बोधिलाभात्परा पुंसां, भूतिः का वा जगत्त्रये।
किम्पाकफलसङ्काशैः, किं परैरुदयच्छलैः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—पुंसाम् = मनुष्यो के, जगत्त्रये = तीनो लोको में, बोधिलाभात् = जिनधर्म अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से, परा = उत्कृष्ट, भूतिः = विभूति, का = कौन (अस्ति = है) वा = अथवा, किम्पाकफल-सङ्काशैः = विषवृक्ष के फल के सदृश, उदच्छलैः = परिणाम में खतरनाक, परैः = पर वस्तुओ से, किम् = क्या फल, अस्ति = है ? ॥३१॥

भावार्थः- मनुष्यों के लिये तीनों लोकों में जिनधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति से बढ़कर और कोई विभूति नहीं है। इनसे भिन्न जिन जिन वस्तुओं को यह जीव अपनी विभूति मानता है, वे सब जैसे विषवृक्ष का फल देखने में सुन्दर और खाने में मीठा प्रतीत होता है, किन्तु फलकाल मे प्राणों का नाश कर देता है, उसी प्रकार परिपाक में पापजनक और दुःखदायक हैं ॥३१॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, देशे दक्षिणनामके।
सहस्रकूटमाश्रित्य, श्रीविमानं नुनाव सः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—तत. = इसके बाद,सः=वह जीवन्धर, तस्मात् = उस आश्रम से, विनिर्गत्य = निकलकर, दक्षिणनामके = दक्षिण, देशे = देश में, सहस्रकूटम् = सहस्रकूटनामक, श्रीविमानम् = जिनालय को आश्रित्य = प्राप्त होकर, नुनाव=स्तुति करने लगे ॥३२॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी तपस्वियों को धर्मोपदेश देने के पश्चात् उस आश्रम से प्रस्थान कर दक्षिणप्रान्त में गये। और वहां पर एक विख्यात सहस्रकूट (जिसमें १००० शिखर होते हैं) जिनालय के द्वार पर पहुँच कर निम्नप्रकार स्तुति करने लगे ॥३२॥

भगवन्दुर्णयध्वान्तै—राकीर्णे पथि मे सति।
सज्ज्ञानदीपिका भूयात्, संसारावधिवर्धिनी ॥३३॥

अन्वयार्थौ—भगवन्=हे भगवन्, दुर्णयध्वान्तैः = मिथ्यात्वरूपी अन्धकारपटल से, मे=मेरे, पथि=मार्गके, आकीर्णे सति = व्याप्त होने पर, ससारावधिवर्धिनी =मुक्ति को दिखलाने वाला, सज्ज्ञानदीपिका = सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक, भूयात् = प्राप्त होवे ॥३३॥

भावार्थः—जिस प्रकार अन्धकार के व्याप्त होने पर मार्ग में पड़ी हुई वस्तुएं पथिकों को दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु दीपक के मिल जाने पर वे स्पष्ट दिख जाती हैं, उसी प्रकार हे भगवन् मेरा हितमार्ग भी मिथ्यात्वमय प्रवृत्ति से मुझे विस्मृत हो रहा है, अतएव आपके प्रसाद से मुझे वह अपूर्व सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक प्राप्त हो; जिससे मेरा हितमार्ग मुझे सूझ सके ॥३३॥

जन्मजीर्णाटवीमध्ये, जनुषान्धस्य मे सती।
सन्मार्गे भगवन्भक्ति—र्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥३४॥

अन्वयार्थौ—भगवन्=हे भगवन्, जन्मजीर्णाटवीमध्ये=संसार-रूपी अतिशय पुराने वन में, जनुषा=जन्म से अन्धस्य = अन्धे, मे =

मेरे लिये, मुक्तिदायिनी = मुक्ति को देने वाली, सन्मार्गे = मोक्षमार्ग में, सती=उत्तम, भक्ति = भक्ति, भवतात् = प्राप्त होवे ॥३४॥

भावार्थः—जैसे किसी विशाल और पुराने जंगल में मार्गभ्रष्ट किसी जन्मान्ध पुरुष को किसी प्रकार यथार्थ राह मिल जावे; तो वह अभीष्ट स्थान पाकर बहुत संतुष्ट होता है, उसी प्रकार हे भगवन ! मैं भी सन्मार्ग को भूल कर अनादिकाल से इस दुखद संसार में भटक रहा हूँ। अब आपसे यही प्रार्थना है कि आपके प्रसाद से मुझे वह समीचीन भक्ति प्राप्त हो, जिससे मैं मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर परम्परया मुक्ति को प्राप्त कर सकूं।

स्वान्तशान्तिं ममैकान्ता—मनेकान्तैकनायकः।
शांतिनाथो जिनः कुर्यात्, संसृतिक्लेशशान्तये ॥३५॥

अन्वयार्थो—अनेकान्तैकनायक = स्याद्वाद मत के अनन्य प्रवर्तक, शान्तिनाथ. = शांतिनाथ, जिनः = भगवान्, संसृतिक्लेश-शान्तये=संसार के दुखों को दूर करने के लिये, मम = मेरे, एकान्ताम् = अटल, स्वान्तशान्तिम् = मनकी स्थिरता को, कुर्यात् = करें। एक' एव अन्तः परिच्छेदो यस्य तत् एकान्तम् ॥३५॥

भावार्थः—जैनमत के अनन्य नेता सोलहवें तीर्थङ्कर (अवतार) श्रीशान्तिनाथ भगवान के प्रसाद से मेरे मन की चंचलता हटे, जिससे पापबन्ध रुक जाने से मुझे सांसारिक दुःखों का सामना न करना पड़े ॥३५॥

इति स्तोत्रेण तच्चासी—दुद्घाटितकवाटकम्।
मुक्तिद्वारकवाटस्य, भेदिना किन्न भिद्यते ॥३६॥

अन्वयार्थो—इति = इस प्रकार, स्तोत्रेण = स्तुति से, तत् = वह जिनालय, उद्घाटितकवाटकम् = खुले हुये किवाड़ो वाला, आसीत् = हो गया। नीतिः—हि = क्योंकि, मुक्तिद्वारकवाटस्य = मोक्षके द्वारके किवाडो

के, भेदिना = भेदन करने वाले के द्वारा, किं = क्या, न भिद्यते = भेदन नही किया जा सकता ? ॥३६॥

भावार्थः—उस सहस्त्रकूट जिनालय के किवाड़ बहुत समय से बन्द थे; अनेकों के द्वारा अनेकबार अनेक प्रयत्नों के किये जाने पर भी नहीं खुले थे, किन्तु जीवन्धर के द्वारा पूर्वोक्त स्तोत्र के पढ़ने मात्र से वे अनायास ही खुल गये। ठीक ही है, क्योंकि जिस भक्तिपूर्वक किये गये स्तोत्र में मोक्ष तक प्राप्त कराने या जिस व्यक्ति में मोक्ष प्राप्त करने का सामर्थ्य होता है, उसके द्वारा तुच्छ किवाड़ों का खुल जाना क्या आश्चर्यजनक था ॥३६॥

अन्याशक्यमिदं मान्यो वितन्वन्न विसिष्मिये ।
लोकमालोकसात्कुर्वन्, न हि विस्मयते रविः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—मान्य. = माननीय जीवन्धर, अन्याशक्यम् = दूसरो से न किये जा सकने वाले, इदम् = इस कार्य को, वितन्वन् = करते हुये, न विसिष्मिये=गर्वान्वित नही हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, लोकम् = ससार को, आलोकसात् = प्रकाशमय, कुर्वन् = करता हुआ, रविः=सूर्य, न विस्मयते=गर्वान्वित नही होता ॥३७॥

भावार्थ—जैसे निखिल संसार के अन्य किसी के द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकने वाले सघन अन्धकार को सूर्य अकेला ही अनायास नष्ट कर कुछ भी गर्व नहीं करता, उसी प्रकार अनेकों के द्वारा नहीं खुले हुये बन्द किवाड़ों को केवल स्तुतिमात्र से खोल कर जीवन्धर स्वामी भी गर्वान्वित नहीं हुये ॥३७॥

तावता तं समासाद्य, प्रणतः कोऽपि पिप्रिये ।
स्वमनीषितनिष्पत्तौ, किन्न तुष्यन्ति जन्तवः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, प्रणत = विनीत, कः = कोई (पुरुष) तम् = उस जीवन्धर को, समासाद्य = पाकर, पिप्रिये = प्रसन्न

हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, जन्तव. = प्राणी, स्वमनीषितनिष्पत्तौ = अपनी इच्छित वस्तु के मिल जाने पर, न तुष्यन्ति किम् = प्रसन्न नहीं होते हैं क्या ? अपि तु, तुष्यन्ति एव = प्रसन्न ही होते हैं ॥३८॥

भावार्थः—किस महापुरुष के आने पर इस जिनालय के किवाड़ खुलते हैं, इस जानकारीके लिये सुभद्रनामक सेठके द्वारा वहां पर एक गुणभद्रनामक नोकर नियुक्त किया गया था। वह जीवन्धरस्वामी के द्वारा किवाड़ खुलने रूप अपनी इच्छाको पूर्ण देखकर उनके पास आया और बहुत प्रसन्न हुआ। ठीक ही है, क्योंकि इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर सभीको प्रसन्नता होती है।

स्वामी तु तं समालोक्य, कस्त्वमार्येति पृष्टवान्।
प्रभूणां प्राभवं नाम, प्रणतेष्वेकरूपता ॥३९॥

अन्वयार्थौ—तु = तो, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, तम् = उसको, समालोक्य = देखकर, आर्य = हे सज्जन, त्वम् = तुम, क. = कौन, असि = हो, इति = इस प्रकार, पृष्टवान् = पूछने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, प्रणतेषु = विनयीजनो पर, एकरूपता = समान व्यवहार करना (एव = ही) प्रभूणाम् = महापुरुषो की, प्राभवम् = प्रभुता (अस्ति = है)।

भावार्थः—महापुरुष अपने प्रति विनय प्रदर्शित करने वालों की लघुता और महत्ता पर लक्ष्य न कर उनके प्रति सदृश व्यवहार करते हैं, अतएव महापुरुष जीवन्धर ने भी उस नोकर की लघुता का लेशमात्र भी ख्याल न कर उससे 'आप कौन हैं और यहां क्यों रहते हैं' इत्यादि प्रश्न किये ॥३९॥

पृष्टः सोऽप्युत्तरं वक्तु—मुपादत्त कृतत्वरः।
समीहितेऽपि साहाय्ये, प्रयत्नो हि प्रकृष्यते ॥४०॥

अन्वयार्थौ—पृष्टः = पूछा गया, स. = वह, अपि = भी, कृतत्वरः सन् = शीघ्रतायुक्त होता हुआ, उत्तरम् = उत्तर को, वक्तुम् =

कर्म्मे को,उपाददत् = प्रारम्भ करता हुआ । नीति—हि = क्योंकि,समीहिते = इच्छित कार्यमें, साहाय्ये = सहायताके मिल जावे पर, प्रयत्न. = प्रयत्न, प्रकृष्यते = बढ़ जाता है ॥४०॥

भावार्थः—मनुष्य जिस कार्य को स्वय करना चाहता हो उसमें यदि उसे किसीकी प्रेरणा या सहायता मिलजावे तो उसका हौसला और भी बढ़ जाता है, उसी प्रकार गुणभद्र नौकर स्वयं चाहता था कि अभ्यागत महाशय से वर्तालाप करू, परन्तु उन्होंने उससे स्वयं ही प्रश्न कर डाला, इससे उस नौकर का भी साहस बढ़ गया और वह शीघ्र निम्नप्रकार उत्तर देने लगा ।

इह क्षेमपुरी नाम, राजधानी विराजते ।
नरपतिस्तु देवान्तो, राजा तत्पुरनायकः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—इह = यहां, क्षेमपुरी नाम = क्षेमपुरी नामक, राजधानी = राजा के रहने की नगरी,विराजते=सुशोभित है, तु=और, तत्पुरनायक = उस नगरी का स्वामी, देवान्तः=देव है अन्त में जिसके ऐसा, नरपति. = नरपति नामक, राजा = राजा, अस्ति = है ॥४१॥

भावार्थः—यहां यह क्षेमपुरीनामक राजधानी (राजा के निवास की नगरी) है और नरपतिदेव इसका राजा है ॥४१॥

तस्य श्रेष्ठिपदप्राप्तः, सुभद्रस्तस्य गेहिनी ।
नाम्ना तु निर्वृतिः पुत्री, क्षेमश्रीरित्यभूत्तयोः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उसका, सुभद्र. = सुभद्र,श्रेष्ठिपदप्राप्तः = सेठ(अस्ति = है)तु = और, नाम्ना = नाम से, निर्वृति = निर्वृत्ति, तस्य=उसकी, गेहिनी=धर्मपत्नी (अस्ति = है) (च = और) तयोः = उन दोनो के, क्षेमश्री.=क्षेमश्री नामक, पुत्री =सुपुत्री,अभूत् = है।॥४२॥

भावार्थ.—उस राजा के सुभद्रनामक सेठ और निर्वृत्तिनामक सेठानी है । इन दोनों के 'क्षेमश्री' नामक सुपुत्री है ।

भावार्थ—उस नरपतिदेव राजा के सुभद्र नामक एक सेठ है, उसकी सेठानी का नाम निर्वृति है और इन दोनों की एक क्षेमश्री नामक सुपुत्री है ॥४२॥

जन्मलग्ने च दैवज्ञा—स्तत्पतिं तमजीगणन् ।
स्वयंविघटितद्वारो, येनायं स्याज्जिनालयः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—दैवज्ञाः=ज्योतिषियो ने (तस्या =उस पुत्री के) जन्मलग्ने = जन्म मुहूर्त में, 'येन=जिससे, अयम् = यह, जिनालयः = जिनमन्दिर, स्वयविघटितद्वारः = स्वयं खुले हुये द्वार वाला, स्यात् = हो जावेगा, तम् = उसको, तत्पतिम्=उसका स्वामी, अजीगणन् = निश्चित किया था ॥४३॥

भावार्थः—उस क्षेमश्री के जन्ममुहूर्त में आये हुये ज्योतिषियों ने कहा था, कि जिस महापुरुष के आने पर इस सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ स्वयं खुल जावेंगे, वही इसका पति (स्वामी) होगा ॥४३॥

तत्परीक्षाकृते ऽत्रैव गुणभद्र—समाह्वयः ।
प्रेष्योऽहं प्रेरितास्तिष्ठन्,भवन्तं दृष्टवानिति ॥४४॥

अन्वयार्थौ—तत्परीक्षाकृते=उस पुरुष की परीक्षा करने के लिये, प्रेरित. = भेजा गया (और) अत्र=यहा पर, एव=ही तिष्ठन् = रहने वाला, गुणभद्रसमाह्वयः=गुणभद्र नामक, प्रेष्य.=नौकर, अहम् मैं, भवन्तम् = आपको (तथा = वैसा) दृष्टवान्=देख रहा हूँ । इति = इस प्रकार उस गुणभद्र ने जीवन्धर से कहा ॥४४॥

भावार्थः—"किस महापुरुष के आने पर इस जिनालय के किवाड़ खुलते हैं" इस बात को जानने के लिये उस सुपुत्री के पिता के द्वारा मैं यहां पर नौकर रूप से नियुक्त किया गया हूं । मेरा नाम गुणभद्र है । बहुत समय से यहां रहते हुये मैंने

केवल आपको ही ऐसा देखा है कि जिनके आने पर पहिले सैकड़ों के झक मार-मार कर चले जाने पर भी जो नहीं खुले थे जिनालय के वे किवाड़ सहज ही खुल गये हैं ॥४४॥

इत्युक्त्वा स पुन र्नत्वा, गत्वा सत्वरमात्मनः ।
स्वामिने स्वामिवृत्तान्त—ममन्दप्रीतिरब्रवीत् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—पुन = फिर, स = वह गुणभद्र, इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कहकर (और) नत्वा = नमस्कार कर, सत्वरम् = शीघ्र, गत्वा = जाकर, आत्मन. = अपने, स्वामिने = स्वामी से, स्वामिवृत्तान्तम् = जीवन्धर के समाचार को, अमन्दप्रीतिः सन् = अतिशय प्रसन्न होता हुआ, अब्रवीत् = कहने लगा ॥४५॥

भावार्थ—वह नौकर जीवन्धर स्वामी के प्रश्न का पूर्वोक्त प्रकार उत्तर देकर और उन्हें नमस्कार कर शीघ्र अपने स्वामी सुभद्र सेठ के पास गया। वहा उसने "जीवन्धर स्वामी के आने पर जिनालय के किवाड़ खुल गये हैं" यह समाचार हर्षपूर्वक उससे कह सुनाया ॥४५॥

भद्रवार्ता ततः शृण्वन्, सुभद्रोऽपि समागतः ।
तत्क्षणे च तमद्राक्षीज्, जिनपूजाकृतक्षणम् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—तत = इसके बाद, भद्रवार्ताम् = इष्ट बात को शृण्वन् = सुनने वाला, सुभद्र = सुभद्र, अपि = भी, समागत = आया, च = और, जिनपूजाकृतक्षणम् = जिनपूजा में किया है उत्सव जिसने ऐसे, तम् = उन जीवन्धर को, तत्क्षणे = उसी समय, अद्राक्षीत् = देखता हुआ। क्षणम् = उत्सव. इत्यर्थ. ॥४६॥

भावार्थ—जिनालय के किवाड़ों के खुलने का समाचार पाते ही सुभद्र शीघ्र वहां आया और उसने जिनराज की पूजन करते हुये जीवन्धर को देखा ॥४६॥

न गात्रमात्रमद्राक्षीद्, विभवं चास्य वैश्यराट् ।
सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं, शपथात्किं प्रतीयते ॥४७॥

अन्वयार्थौ—वैश्यराट् = प्रधानवैश्य सुभद्र, अस्य = इनके, गात्रमात्रम् = शरीरमात्र को, न अद्राक्षीत् = नही देखते हुये (किन्तु) विभवम् = वैभव को, च = भी, अद्राक्षीत् = निश्चित करते हुये, (धातूनामनेकार्थत्वात्) । नीति.—हि = क्योंकि, सौगन्धिकस्य = रक्त-कमल की, सौगन्ध्यम् = सुगन्ध, शपथात् = शपथ खाने से, प्रतीयते किम् = मालूम पड़ती है क्या ? (अपि तु स्वतः एव प्रतीयते)॥४७॥

भावार्थः—जिस प्रकार सुगन्धित रक्तकमल की सुगंध बताने के लिये शपथ (कसम, कौल) खाने की जरूरत नहीं होती किन्तु वह सामने आते ही स्वयं प्रगट हो जाती है; उसी प्रकार सुभद्र ने जीवन्धर कुमार के शरीरमात्र को देख कर बिना पूछ-ताछ किये ही उनके वैभव (ऐश्वर्य) का परिज्ञान कर लिया ॥४७॥

इज्यान्ते ऽभूद्यथायोग्य—मुपचारः परस्परम् ।
सतां हि प्रह्वता शास्ति, शालीनामिव पक्वताम् ॥४८॥

अन्वयार्थौ—इज्यान्ते = पूजा के बाद, तयो. = उन दोनो में, परस्परम् = परस्पर, यथायोग्यम् = उचित, उपचार. = शिष्टाचार (व्यवहार-विनय) अभूत् = हुआ । नीति.—हि = क्योंकि, शालीनाम् = धान्यो की, प्रह्वता = नम्रता, पक्वताम् = योग्यता को (पक्षान्तर में-परिपक्व पने को) शास्ति = प्रगट करती है ॥४८॥

भावार्थः—पूजा करने के बाद जीवन्धर और सुभद्र का आपस में उचितरीति से मेलमिलाप (जुहारु,विहार) हुआ । ठीक ही है कि जिस प्रकार धान्य के पौधों के नम (नव) जाने से उनका परिपाक निश्चित किया जाता है उसीप्रकार नम्रता प्रदर्शित करने से महापुरुष की योग्यता का भी परिचय होता है । तद्-

नुसार परस्पर नम्रता प्रदर्शित करने से एक को दूसरे की योग्यता का परिचय हुआ ॥४८॥

तद्वेश्म तस्य निर्बन्धा—दथ बन्धुप्रियो गतः ।
सख्यं साप्तपदीनं हि, लोके सम्भाव्यते सताम् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, बन्धुप्रिय = बन्धुओं का प्यारा (जीवन्धर) तस्य = उसके, निर्बन्धात् = आग्रह से, तद्वेश्म = उसके घर, गतः = गया । नीतिः - हि = क्योंकि, लोके = ससार में, सताम् = सज्जनो की, सख्यम् = मित्रता, साप्तपदीनम् = सात पदों के कहने या सात पग साथ चलने मात्र से होने वाली, सम्भाव्यते = सम्भव होती है । सप्तभिः पदैः निर्वृतम् इति विग्रहे 'साप्तपदीन सख्यम्' इतिसूत्रेण साप्तपदीन रूपस्य सिद्धिः ।

भावार्थ.—जुहार विहार होने के बाद जब सुभद्र ने जीवन्धर से अपने घर जाने के लिये आग्रह किया, तब वे उसके घर गये । ठीक ही है,क्योंकि सज्जन पुरुषों के सात वातों के करने या सात पग साथ चलने से ही (क्षणमात्र मे) मित्रता हो जाती है। तदनुसार कुछ वर्तालाप करने से ही उन दोनों में मैत्री हो गई थी, जिससे उस जीवन्धर ने उसका आग्रह स्वीकृत किया।

कन्यायाः करपीडां च, तद्दैन्यादवमन्यत ।
आश्रयन्तीं श्रियं को वा, पादेन भुवि ताडयेत् ॥५०॥

अन्वयार्थौ—सः = वह जीवन्धर, तद्दैन्यात् = उस सुभद्र सेठ के आग्रह से, कन्यायाः = क्षेमश्री कन्या के, करपीडाम् = विवाह को, च = भी, अवमन्यत = स्वीकार करता हुआ । वा = क्योंकि, भुवि = पृथ्वी पर, कः = कौन बुद्धिमान् पुरुष, आश्रयन्तीम् = अपना आश्रय लेने वाली श्रियम् = लक्ष्मी को, पादेन = पैर से, ताडयेत् = ठुकराता है ?॥५०॥

भावार्थ.—जब सुभद्र ने ज्योतिषियों के वचनानुसार

जीवन्धर से अपनी कन्या के साथ विवाह करने की प्रार्थना की तब उन्होंने स्वीकृति दे दी। ठीक ही है, क्योंकि अपने आप प्राप्त होती हुई लक्ष्मी को सभी आश्रय देते हैं, कोई भी लात नहीं मारते। अतएव सुयोग्य जीवन्धर को भी स्वयं प्राप्त होती हुई स्त्रीरूप लक्ष्मी की उपेक्षा करना कैसे उचित था ॥५०॥

अथ भद्रतरे लग्ने, सुभद्रेण समर्पिताम्।
क्षेमश्रियं पवित्रोऽय—मुपयेमे यथाविधि ॥५१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पवित्र. = माननीय, अयम् = इन जीवन्धर ने, सुभद्रेण = सुभद्र के द्वारा, समर्पिताम् = प्रदत्त, क्षेमश्रियम् = क्षेमश्री नामक कन्या को, भद्रतरे = अतिशय शुभ, लग्ने = लग्न में, यथाविधि = जैनविवाहविधिपूर्वक, उपयेमे = वरण किया ॥५१॥

भावार्थः—पश्चात् जीवन्धरकुमार ने सुभद्र सेठ के द्वारा प्रदत्त क्षेमश्रीनामक कन्या को शुभमुहूर्त में आर्षोक्त विधि से वरण किया ॥५१॥

॥ इति षष्ठो लम्बः समाप्तः ॥



अथ सप्तमो लम्बः

अथ वध्वा तया साक—मनुबोभूय भूयसीम् ।
सुखतातिं ततो यातुं, वितताम मतिं कृती ॥१॥

अन्वयार्थों—अथ = इसके बाद,कृती = पुण्यवान् (जीवन्धर) ने तया = उस, वध्वा, साकम् = स्त्री के साथ, भूयसीम् = बहुत, सुखतातिम् = सुख परम्परा को, अनुबोभूय = भोगकर, ततः = उस क्षेमपुरी से,यातुम् = जाने के लिये,मतिम् = विचार को,वितताम = किया । 'सहार्थेन' इति सूत्रेणात्र साकशब्दयोगे तृतीया विभक्ति जाता ॥१॥

भावार्थ—जीवन्धर कुमार ने क्षेमश्री से विवाह कर उसके साथ कुछ सांसारिक सुखों का अनुभव कर क्षेमपुरी नगरी से अन्यत्र जाने का विचार किया ॥१॥

अकथयन्नथ स्वामी, गणरात्रात्यये गतः ।
न हि मुग्धाः सतां वाक्यं, विश्वसन्ति कदाचन ॥२॥

अन्वयार्थों—अथ = इसके बाद, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, गणरात्रात्यये = बहुत रात्रियों (दिनों) के बीत जाने पर, अकथयन् = बिना कुछ कहे हुये, एव = हीं, तत = उस क्षेमपुरी से, गत = चले गये । नीति—हि = क्योंकि, मुग्धा = भोले मनुष्य, सताम् = महापुरुषों के, वाक्यम् = वचन को,कदाचन = कभी,न विश्वसन्ति = प्रमाण नहीं मानते ।

भावार्थ—क्षेमश्री के साथ सुख भोगते हुये जीवन्धर के जब बहुत दिन बीत चुके, तब वे अपने सम्बन्धियों को सूचना दिये बिना ही उस क्षेमपुरी नगरी से चले गये। ठीक ही है

क्योंकि भोले मनुष्य महापुरुषों के वचनों का प्रायः विश्वास नहीं करते। इसी कारण जीवन्धर ने अपने गमन का अभिप्राय अपने सम्बन्धियों से प्रगट नहीं किया ॥२॥

तद्वियोगादभूत्पत्नी, दग्धरज्जु–सम–द्युतिः ।
प्राणाः पाणिगृहीतीनां, प्राणनाथो हि नापरम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(तस्य=उन जीवन्धर की) पत्नी = स्त्री क्षेमश्री, तद्वियोगात्=उनके वियोग से, दग्धरज्जुसमद्युति.= जली हुई रस्सी के समान काली और कृश,अभूत्=हो गई। नीति—हि=क्योंकि, पाणिगृहीतीनाम् = विवाहिता स्त्रियो के, प्राणा.=प्राण (तासाम्= उनके) प्राणनाथः = पतिदेव (एव=ही,भवति=होते हैं) अपरम्=दूसरा कोई, (सामान्ये नपुंसकम्) न=नही ॥३॥

भावार्थ.—जीवन्धर कुमार के वियोग से उनकी पत्नी क्षेमश्री को बहुत रंज हुआ। ठीक ही है, क्योंकि विवाहिता स्त्रियों को पति प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं, अतएव उनके वियोग से उन्हें प्राणों के वियोग के समान दुःख होना ही चाहिये। इसी कारण क्षेमश्री को असह्य दुःख हुआ ॥३॥

सुभद्रोऽपि पवित्रं त—मन्विष्याधिमयोऽभवत् ।
बहुयत्नोपलब्धस्य, प्रच्यवो हि दुरुत्सहः ॥४॥

अन्वयार्थौ—सुभद्रः = सुभद्र सेठ, अपि = भी, पवित्रम् = माननीय, तम् = उस जीवन्धरको, अन्विष्य=तलाश कर (अप्राप्तेः = उनके न मिलने से) आधिमयः=अत्यन्त दुखी, अभवत्= हुए। नीति.—हि=क्योंकि, बहुयत्नोपलब्धस्य = बहुत कोशिश से प्राप्त वस्तु का, प्रच्यवः=वियोग, दुरुत्सहः = असह्य (जायते=हो जाता है) ॥४॥

भावार्थः—सुभद्र नामक सेठ ने स्वयं वन मे जाकर जीवन्धर की बहुत तलाश की, पर जब वे नहीं मिले, तब उसे बहुत

दुःख हुआ। ठीक ही है, क्योंकि अधिक परिश्रम से प्राप्त वस्तु का वियोग अत्यन्त असह्य होता है; इसलिये जीवन्धर के वियोग से सुभद्र के भी असह्य दुःख हुआ ॥४॥

स्वामी स्वाभरणत्याग-मैच्छद् गच्छन्नतुच्छधीः ।
विवेकभूषितानां हि, भूषा दोषाय कल्पते ॥५॥

अन्वयार्थौ—गच्छन् = गमन करते हुए, अतुच्छधीः = अतिशय बुद्धिमान्, स्वामी = जीवन्धर ने, स्वाभरणत्यागम् = अपने आभूषणों के परित्याग की (ऐच्छत्) चाह की। नीतिः— (हि) = क्योंकि, भूषा = लौकिक आभूषण, विवेकभूषितानाम् = विवेक से शोभायमान जनों के, दोषाय = दोष के लिये (एव = ही) कल्पते = माना जाता है।

भावार्थः—विवेकी जनों का भूषण वास्तव में विवेक ही है, अतएव उन्हें ये लोक प्रसिद्ध वस्त्राभूषण अप्रिय मालूम हुआ करते हैं। तदनुसार विवेकी जीवन्धर को भी अपने वैवाहिक आभूषण प्रिय नहीं मालूम हुये, अतएव क्षेमपुरी से कुछ दूर पहुँचने पर उन्होंने अपने आभूषणों के परित्याग का विचार किया ॥५॥

धार्मिकाय तदाकल्पं, दातुं च समकल्पयत् ।
स्थाने हि बीजवद्दत्त-मेकं चापि सहस्रधा ॥६॥

अन्वयार्थौ—तदा = उसी समय, स. = वह जीवन्धर कुमार, (तत् = उस), आकल्पम् = आभूषणों के समूह को, धार्मिकाय = किसी धर्मात्मा पुरुष के लिये दातुम् = देने का, च = भी, समकल्पयत् = निश्चय करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, स्थाने योग्य स्थान में, दत्तम् = दी गई, एकम् = एक, अपि = भी (वस्तु = वस्तु) बीजवत् = बीज के समान, सहस्रधा = हजारगुणा (फलति = फल देती है) ॥६॥

भावार्थः—जीवन्धर ने अपनी पूर्वोक्त इच्छा के अनुसार

इन आभूषणों को किसी धर्मात्मा व्यक्ति के लिये देने का संकल्प (निश्चय) भी कर लिया । क्योंकि जैसे अच्छी उपजाऊ जमीन में बोया गया बीज कई गुणा फल देता है, उसी प्रकार योग्य पात्र में दिया गया थोड़ा भी दान हजार गुणा फल देता है। अतएव जीवन्धर ने अपने आभूषण किसी योग्य पात्र को देना ही उचित समझा ॥६॥

तावता सन्यधात्कोऽपि, सन्निधेस्तस्य सन्निधौ ।
भागधेयविधेया हि, प्राणिनां तु प्रवृत्तयः ॥७॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, कः = कोई पुरुष, अपि = भी, सन्निधे = सज्जनों में श्रेष्ठ, तस्य = उस जीवन्धर के, सन्निधौ = पास, सन्यधात् = आया । नीतिः—हि = क्योंकि प्राणिनाम् = प्राणियों की, प्रवृत्तय. = प्रवृत्तियां भागधेयविधेया: = भवितव्य के अनुकूल (भवन्ति = होती हैं) ॥७॥

भावार्थः—उसी समय एक किसान जीवन्धर के पास आया, क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्तियां भवितव्य के अनुकूल होती हैं। निष्कर्ष:—उस किसान का भी भवितव्य अच्छा था, इसलिये जीवन्धर की ओर आने मे उसकी प्रवृत्ति हुई ॥७॥

आगच्छन्तमपृच्छच्च, पामरं पार्श्वमात्मनः ।
कुतः कुत्र प्रयासि त्वं, स्वास्थ्यं चास्ति न वेति च ॥८॥

अन्वयार्थौ—(सः = वह जीवन्धर, च = भी) आत्मन. = अपने, पार्श्वम् = समीप, आगच्छन्तम् = आते हुये (तम् = उस) पामरम् = कृषक से, अपृच्छत् = पूछने लगा (यत् = कि) त्वम् = तुम, कुत. = कहा से, आगत = आये, च = और, कुत्र = कहा, प्रयासि = जारहे हो, वा = और (ते = तेरे) स्वास्थ्यम् = कुशल, अस्ति = है, वा = अथवा, नास्ति = नही है ? ॥८॥

भावार्थ—जीवन्धरकुमार ने उस पथिक किसान से पूछा कि "तुम कहां से आये हो, कहां जा रहे हो, और तुम्हें किसी बात का दुःख तो नहीं है" ॥८॥

प्रीतः प्रत्यब्रवीत्सोऽपि, प्रश्रयेण समाश्रितः ।
मुखदानं हि मुख्यानां, लघूनामभिषेचनम् ॥९॥

अन्वयार्थौ—प्रश्रयेण = विनय से, समाश्रित = सहित, च = और, प्रीत. = प्रसन्न, स = उस किसान ने, अपि = भी, प्रत्यब्रवीत् = उत्तर दिया। नीतिः—हि = क्योंकि, मुख्यानाम् = महापुरुषों का, मुखदानम् = सन्मुख होकर बोलना, लघूनाम् = छोटे आदमियों के, अभिषेचनम् = राज्यभिषेक के समान (जायते = होता है) ॥९॥

भावार्थः—सम्पत्ति आदि से हीन पुरुषों से महापुरुषों का वार्तालाप करना उन तुच्छ जनों को राज्याभिषेक के समान आनन्ददायक होता है। इसीलिये जीवन्धर द्वारा पूर्वोक्त प्रश्न पूछे जाने पर वह किसान भी बहुत प्रसन्न हुआ और विनयपूर्वक उन्हें निम्नप्रकार उत्तर देने लगा ॥९॥

इतस्ततो मया मह्य !, गम्यते कार्यकाम्यया ।
स्वास्थ्यं स्वास्थ्यतमं भूयात्, कार्येऽप्यार्यदर्शो मम ॥१०॥

अन्वयार्थौ—हे मह्य ! = हे पूज्य, मया = मेरे द्वारा, कार्यकाम्यया = कार्य की इच्छा से, इतस्तत = इधर उधर, गम्यते = भ्रमण किया जाता है, आर्यदर्शः = आपके दर्शन से, मम = मेरे, कार्ये = कार्य में, स्वास्थ्यम् = कुशलता, स्वास्थ्यतमम् = अधिक कुशलता रूप, भूयात् = होवे ॥१०॥

भावार्थः—हे पूज्य ! मैं कार्यवश इधर उधर भ्रमण (यात्रा) किया करता हूँ, मेरे सर्वथा कुशल है, तथा आपके शुभदर्शन से मेरी वह कुशलता और भी वृद्धिगत हो ॥१०॥

इत्युक्तेन कुमारेण, प्रत्युक्तो वृषलः पुनः।
स्वास्थ्यं नाम न कृष्यादि, जायमानं कृषीवल! ॥११॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, उक्तेन = कहे गये कुमारेण = जीवन्धर कुमार के द्वारा (सः = वह) वृषल: = किसान, पुन = फिर, प्रत्युक्त = कहा गया (यत् = कि) कृषीवल ! = हे किसान, कृष्यादि-जायमानम् = खेती आदि से उत्पन्न, स्वास्थ्यम् = सुख, स्वास्थ्य नाम = सच्चा सुख, न अस्ति = नही है। कृषिरस्यास्तीति कृषीवल', 'रजः कृष्या-सुतिपरिषदो वलच्' इति सूत्रेण वलच्प्रत्ययः । वले इति दीर्घः। असिमसिकृपिसेवावाणिज्यशिल्पभेदात् षट् कर्माणि ॥११॥

भावार्थ.—उस किसान से पूर्वोक्त उत्तर पाकर जीवन्धरने उससे फिर कहा कि "हे कृषक ! खेती आदि षट्कर्मों से जो सुख प्राप्त होता है, वह नश्वर तथा दुःख का कारण होने से हेय है। परमार्थभूत सुख तो निराकुलतारूप ही है, अतएव वही ग्राह्य है।

षट्कर्मोपस्थित स्वास्थ्य, तृष्णाबीजं विनश्वरम्।
पापहेतुः परापेक्षि, दुरन्तं दुःखमिश्रितम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—षट्कर्मोपस्थितम् = षट्कर्मों से उत्पन्न, स्वास्थ्यम् = सुख, तृष्णाबीजम् = तृष्णा का कारण, विनश्वरम् = नष्ट होजाने वाला, पापहेतु = पाप का कारण, परापेक्षि = दूसरे की अपेक्षा रखने वाला, दुरन्तम् = परिणाम में दुःखजनक (च = और) दुःखमिश्रितम् = दुःखों से मिला हुआ (अस्ति = है) ॥१२॥

भावार्थ—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन छह कर्मों से उत्पन्न सुख तृष्णा का कारण, नश्वर, पापजनक, परापेक्ष, परिणाम मे दुःखजनक और दुःखमिश्रित है।

आत्मोत्थमात्मना साध्य—मव्याबाधमनुत्तरम् ।
अनन्तं स्वास्थ्यमानन्द—मतृष्णमपवर्गजम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—आत्मना = आत्मा के द्वारा, साध्यम् = प्राप्त करने योग्य, आत्मोत्थम् = आत्मा से उत्पन्न, अव्याबाधम् = बाधारहित, अतृष्णम् = तृष्णारहित, अनन्तम् = अन्तरहित, अनुत्तरम् = सर्वोत्कृष्ट, अपवर्गजम् = मोक्ष में होने वाला, आनन्दम् = आनन्द (एव = ही) स्वास्थ्यम् = सच्चा सुख (अस्ति = है)। न उत्तर प्रधान यस्मात् तत् अनुत्तर, सर्वोत्कृष्टम् इत्यर्थः ॥१३॥

भावार्थः—जो सुख, पर पदार्थों की अपेक्षारहित आत्म मात्र सापेक्ष, निर्बाध, अनुपम, अविनश्वर और तृष्णा से रहित है, वही वास्तविक सुख है। वह मोक्ष होने पर ही प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत परपदार्थों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख सातावेदनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला, तृष्णा को ही बढ़ाने वाला और नश्वर है, अतः वह वास्तविक सुख नहीं, किन्तु दुख-रूप ही है ॥१३॥

तदपि स्वपरज्ञाने, याथात्म्यरुचिमात्रके ।
परित्यागे च पूर्णे स्यात्, परमं पदमात्मनः ॥१४॥

अन्वयार्थौ—आत्मनः = आत्मा का, तत् = वह, परमम् = उत्तम, पदम् = मोक्ष, अपि = भी, याथात्म्यरुचिमात्रके = यथार्थ श्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन, स्वपरज्ञाने = स्व और परके भेदविज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान, च = और, परित्यागे = पर पदार्थों के त्यागरूप सम्यक्चारित्र के, पूर्णे सति = पूर्ण होने पर, एव = ही, स्यात् = होता है ॥१४॥

भावार्थः—आत्मा का वह उत्तम सुख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पूर्ण होने पर ही होता है। इनमें परपदार्थों से भिन्न आत्मश्रद्धान सम्यग्दर्शन, आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान तथा पर द्रव्यों को छोड़ कर आत्मस्वरूप में मग्न होना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥१४॥

स्वमपि ज्ञानदृक्सौख्य—सामर्थ्यादिगुणात्मकम् ।
परं पुत्रकलत्रादि, विद्धि गात्रमलं परैः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(हे कृपक ! त्वम् = तू) ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादि-गुणात्मकम् = अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि गुण स्वरूप वस्तु को, स्व = आत्माको, च = तथा, पुत्रकलत्रादि = पुत्र और स्त्री आदि को, परम् = आत्मासे भिन्न पर वस्तु, विद्धि = जान ? परैः = अन्य वस्तुओ से, अलम् = वस, गात्रम् = अपने शरीर को, अपि = भी, परम् = पर वस्तु, विद्धि, = जान ॥१५॥

भावार्थः—हे कृषक ! निश्चयनय से प्रत्येक आत्मा सिद्धों के समान अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (अनन्तचतुष्टय) स्वरूप है, ऐसा तू निश्चय कर, तथा अपने से भिन्न पुत्र और स्त्री आदिक वस्तुओं को पर वस्तु जान। अधिक क्या कहा जाय ? आत्मा से सर्वथा अभिन्न प्रतीत होने वाले इस शरीर को भी पर वस्तु जान ॥१५॥

एवं भिन्नस्वभावोऽयं, देही स्वत्वेन देहकम् ।
बुध्यते पुनरज्ञाना—दतो देहेन बध्यते ॥१६॥

अन्वयार्थौ—एवम् = इस प्रकार (पुत्रकलत्रशरीरादिभिः = पुत्र; स्त्री और शरीर आदि से) भिन्नस्वभावः = भिन्नस्वभाव वाला, अयम् = यह, देही = आत्मा, अज्ञानात् = अज्ञान से, देहकम् = शरीर को (एव = ही) स्वत्वेन = आत्मरूप से, बुध्यते = मानता है। अतः = इसलिये, पुनः = फिर, देहेन = शरीर से, बध्यते = बँधता है। देहः एव देहकम्, स्वार्थे कप्रत्ययः ॥१६॥

भावार्थ—पुत्र, स्त्री और शरीर आदिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न भी यह आत्मा अपनी अज्ञानता अपने से सम्बद्ध शरीर को ही आत्मा मानता है, इसी अविवेक के कारण

कर्मों से बँधकर फिर से शरीर धारण करता है। यदि यह अपने स्वरूप को शरीर से सर्वथा भिन्न समझ ले; तो फिर इसे इस संसार में अनेकबार शरीर धारण न करना पडे, अर्थात् कुछ समय बाद इसे मुक्ति की प्राप्ति अवश्य हो जाय ॥१६॥

अज्ञानात्कायहेतुः स्यात्, कर्माज्ञानमिहात्मनाम्।
प्रतीके स्यात्प्रबन्धोऽय-मनादिः सैव संसृतिः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—इह = इस लोक में, आत्मनाम् = ससारी प्राणियो के, अज्ञानात्=अज्ञान से, कर्म=शुभाशुभ कर्म, कायहेतुः = शरीर का कारण, स्यात्=होता है, तथा, प्रतीके=शरीर के होने पर, अज्ञानम्=अज्ञान, स्यात = होता है। (एवम्=इस प्रकार अयम्=यह, प्रबन्ध =परिपाटी, अनादि.=अनादिकाल से चली आई, अस्ति = है, सा=वह, एव = ही, ससृतिः = ससार, अस्ति=है। नियतलिङ्गत्वात् हेतुशब्दस्य पुस्त्वम् ॥१७॥

भावार्थः—इस संसार मे संसारी प्राणियों की अज्ञानता से कर्मबन्ध के कारण नवीन २ शरीर की प्राप्ति होती है। और शरीर के प्राप्त होने पर फिर से अज्ञान होता है। इस प्रकार यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि काल से चली आ रही है। और इस परम्परा का नाम ही ससार है ॥१७॥

स्वं स्वत्वेन ततः पश्यन्, परत्वेन च तत्परं।
परत्यागे मतिं कुर्याः, कार्यैरन्यै किमस्थिरैः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—तत =इसलिये, स्वम् = आत्मा को, स्वत्वेन = निजरूप से तथा, परम्=आत्मा से भिन्न वस्तु को, परत्वेन=पररूप से, पश्यन्=विचारता हुआ (त्वम्=तुम) परत्यागे – पर वस्तु के त्याग में, मतिम्=बुद्धि को, कुर्याः=प्रवृत्त कर, अन्यं =दूसरे, अस्थिरै = नश्वर, कार्यैः = कार्यों से, किम्=क्या प्रयोजन (अस्ति=है) ॥१८॥

भावार्थ.—इसलिये, हे कृषक ! तू ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा को उपादेय और उससे भिन्न परवस्तुओं को हेय जान कर उनको त्याग, क्योंकि पर वस्तुओं के सम्बन्ध से आत्मा का कभी भी हित नहीं हो सकता ॥१८॥

परत्यागकृतो ज्ञेयाः, सानगारा अगारिणः ।
गात्रमात्रधनाः पूर्वे, सर्वसावद्यवर्जिताः ॥१९॥

अन्वयार्थौ—परत्यागकृत.=आत्मा से भिन्न पर वस्तु के त्याग करने वाले, सानगारा.=महाव्रत सहित मुनि (तथा) अगारिणः= गृहस्थ, ज्ञेया.=जानना चाहिये (तत्र=उनमें) गात्रमात्रधना.=शरीरमात्र परिग्रह रखने वाले (च=और) सर्वसावद्यवर्जिता =समस्तपापरहित व्यक्ति, पूर्वे=प्रथम (मुनि) (कथ्यन्ते=कहलाते हैं) ॥१६॥

भावार्थ.—पर वस्तु के त्यागरूप चारित्र के धारण करने वाले दो होते हैं, एक मुनि; दूसरे गृहस्थ । इनमे शरीर के सिवाय अन्य समस्त परिग्रह तथा स्थूल और सूक्ष्म दोनों पापों के त्यागी महापुरुष मुनि कहलाते हैं ॥१६॥

मूलोत्तरादिकान्वोढुं, त्वं न शक्तो हि तद्गुणान् ।
न हि वारणपर्याणं, भर्तुं शक्तो वनायुजः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—त्वम्=तू, मूलोत्तरादिकान्=मूलगुण और उत्तर-गुण इत्यादि, तद्गुणान्=उन मुनियो के गुणो को, वोढुम्=धारण करने को, शक्त.=समर्थ, न=नही (असि=हो) नीति.—हि=क्योकि, वनायुजः=पारसी देश का घोडा, वारणपर्याणम्=हाथीके पलान को, भर्तुम्=धारण करने को, शक्त =समर्थ, नास्ति=नही होता ॥२०॥

भावार्थ:—हे कृषक ! जैसे अल्पशक्ति का धारक घोड़ा हाथी के बोझ (हौदे आदि) को धारण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस समय तू भी उन मुनियों के महाव्रतों को धारण

करने के लिये समर्थ नहीं है। अतएव तू इस समय गृहस्थधर्म को ही स्वीकार कर ॥२०॥

अतस्त्वमधुना धर्मं, गृहाण गृहमेधिनाम् ।
न ह्यारोढुमधिश्रेणिं, यौगपद्येन पार्यते ॥२१॥

अन्वयार्थौ—अत = इसलिये, त्वम् = तूं, अधुना = इस समय, गृहमेधिनाम् = गृहस्थो के, धर्मम् = धर्म को, गृहाण = स्वीकार कर। नीति—हि = क्योंकि, अधिश्रेणिम् = जीने के ऊपर, यौगपद्येन = एक साथ, आरोढुम् = चढने को, न पार्यते = समर्थ नही हुआ जा सकता।

भावार्थः—इसलिये इस समय तू गृहस्थधर्म को ही स्वीकार कर, क्योंकि जैसे कोई साधारण पुरुष नसैनी या जीने पर बीच की सीढ़ियों को छोड़ कर एकदम ऊपर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार तू भी एकदम मुनियों के व्रतोंको धारण नहीं कर सकता, अतएव क्रमप्राप्त गृहस्थधर्म ही स्वीकार कर ॥२१॥

त्रिचतुःपञ्चभि र्युक्ता, गुणशिक्षाणुभि र्व्रतैः ।
तत्त्वधीरुचिसंपन्नाः, सावद्या गृहमेधिनः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—(क्रमश = क्रम से) त्रिचतु पञ्चभि. = तीन, चार और पाच, गुणशिक्षाणुभि. व्रतै. = गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अणुव्रतो से, युक्ता. = सहित, तत्त्वधीरुचिसम्पन्ना = सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन सहित, (तथा) सावद्या. = सूक्ष्मपापसहित व्यक्ति, गृहमेधिन. = गृहस्थ, (भवन्ति = हुआ करते हैं) ॥२२॥

भावार्थ —जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित होकर ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों के धारी तथा स्थूल पंचपाप के त्यागी होते हैं, वे गृहस्थ (श्रावक) कहलाते हैं ॥२२॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं, स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ ।
मद्यमांसमधुत्यागै—स्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—मद्यमासमधुत्यागै सह = मद्यत्याग, मासत्याग और मधुत्याग सहित, अहिंसा = हिंसात्याग, सत्यम् = असत्यत्याग, अस्तेयम् = चौर्यत्याग, स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ = परस्त्रीत्याग और स्थूलपरिग्रहत्याग, तेषाम् = उन गृहस्थो के, मूलगुणाष्टकम् = आठ मूलगुणों का समूह (उक्तम् = कहा गया है) ॥२३॥

भावार्थः—मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, हिंसात्याग, (अहिंसाणुव्रत) असत्यत्याग (सत्याणुव्रत) चौर्यत्याग (अचौर्याणुव्रत) स्वदारसंतोष (ब्रह्मचर्याणुव्रत) और परिग्रहत्याग (परिग्रहपरिमाणाणुव्रत) ये श्रावक के अष्ट मूलगुण है ॥२३॥

भोगोपभोगसंहारो—ऽनर्थदण्ड—व्रतान्वितः ।
गुणानुबृंहणाद् ज्ञेयं, दिग्व्रतेन गुणव्रतम् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—गुणानुबृंहणात् = मूलगुणो के वर्धक होने से, दिग्व्रतेन सह = दिग्व्रत के साथ, अनर्थदण्डव्रतान्वितः = अनर्थदण्डव्रतसहित, भोगोपभोगसंहारः = भोगोपभोगपरिमाणव्रत, गुणव्रतम् = गुणव्रत, ज्ञेयम् = जानना चाहिये ॥२४॥

भावार्थः—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगसंहार (भोगोपभोगपरिमाणव्रत) ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। ये तीनों अष्टमूलगुणों मे गुण (वृद्धि या दृढ़ता) करते हैं, इसलिये इनको गुणव्रत कहते हैं ॥२४॥

सप्रोषधोपवासेन, व्रतं सामायिकेन च ।
देशावकाशिकेन स्याद्, वैयावृत्यं तु शिक्षकम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—सप्रोषधोपवासेन = प्रोषधोपवासव्रत सहित, सामायिकेन = सामायिक, च = और, देशावकाशिकेन सह = देशव्रत या देशावकाशिकव्रत के साथ, वैयावृत्यम् = वैयावृत्य, शिक्षक व्रतम् = शिक्षाव्रत (कथ्यते = कहलाता है) ॥२५॥

परिच्छिन्नदिशि प्राप्तिं, त्यागं निष्फलदुष्कृतेः।
मितान्नस्त्र्यादिकत्वं च, कृत्यं विद्धि गुणव्रते ॥२६॥

अन्वयार्थौ—परिच्छिन्न दिशि=परिमित दिशाओं में, प्राप्तिम्= गमन को, निष्फलदुष्कृते = निष्प्रयोजन पापजनक कार्य के, त्यागम् = त्याग को, च = और, मितान्नस्त्र्यादिकत्वम् = परिमित स्त्री आदि को, गुणव्रते = गुणव्रत में, कृत्यम् = करने योग्य कार्य, विद्धि =जान ॥२६॥

भावार्थः—दशों दिशाओं की मर्यादा कर उससे बाहर जाने आने के त्याग को दिग्व्रत कहते हैं। रास्ते में चलते समय जिन हरी वनस्पति का तोड़ना इत्यादि में व्यर्थ पाप का बन्ध होता होता है; उनका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कर अधिक की चाह नहीं करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है ॥२६॥

सञ्चारस्यावधिं नित्यं, सचिह्ना चात्मभावना।
दानाद्यैरुपवासश्च, पर्वादिष्वन्यतः कृती ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अन्यत = शेष शिक्षाव्रत में, नित्यम् = हमेशा, सचिह्ना = बाग बाजार आदि के चिह्न सहित, सचारस्य = गमन की, अवधिः = मर्यादा, आत्मभावना = आत्म का चिन्तवन, दानाद्यैः सह = दान, पदसम्वाहन, आपत्तिनिवारण आदि सहित, पर्वादिषु = पर्व आदि के दिनो में, उपवास = उपवास करना, कृती = कर्त्तव्य (विद्धि = जान)

भावार्थ.—दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त लिये कृत बड़ी मर्यादा मे भी घड़ी घंटा आदि काल के विभाग से कमी करना देशव्रत है। सामायिक के लिये निश्चित समय के पांचो पापो का नव संकल्पों से त्याग कर आत्मचिन्तवन करना सामायिक व्रत है। पर्व के दिन व्रत की आन्तरिक भावना से आरम्भादि का त्याग कर चार प्रकार के भोजनों का त्याग प्रोषधोपवास है। गुणी

मुनिजन आदि के लिये स्व पर के धर्म की वृद्धि की भावना से लाभादिक की चाह बिना चतुर्विध दान देना वैयाव्रत कहलाता है।

अणुव्रती व्रतैरेतैः, क्वचिद्देशे क्वचित्क्षणे ।
महाव्रती भवेत्तस्माद्, ग्राह्यं धर्ममगारिणाम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—अणुव्रती = अणुव्रतो का धारक श्रावक, एतैः = इन, व्रतैः = व्रतो से, क्वचित् = किसी, देशे = स्थान में, क्वचित् = किसी, क्षणे = समय में, महाव्रती = महाव्रतधारी, भवेत् = होता है, तस्मात् = इसलिये (आचार्याः = आचार्य) अगारिणाम् = गृहस्थो के, धर्मम् = धर्म को, ग्राह्यम् = धारण करने योग्य (विदुः = कहते हैं) । धर्मशब्दः ग्राह्यशब्दश्चात्र कर्म विद्यते, न तु कर्ता। अन्यथा 'ग्राह्यो धर्म इति स्यात्।

भावार्थः—देशव्रती श्रावक इन व्रतों के प्रभाव से कभी योग्य देश और योग्य कालादिक रूप सामग्री पाकर महाव्रती भी बन जाता है। अतएव तुम इस समय देशचरित्र को ही धारण करो। पश्चात् योग्य द्रव्यादि के मिलनेपर महाव्रती भी हो सकोगे।

इत्युक्तः प्रत्यगृह्णाच्च, स धर्मं गृहमेधिनाम् ।
कः कदा कीदृशो न स्याद्, भाग्ये सति पचेलिमे॥२९॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, उक्तः = उपदिष्ट, सः = वह किसान, गृहमेधिनाम् = गृहस्थों के, धर्मम् = धर्म को, प्रत्यगृह्णात् = स्वीकार करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, भाग्ये = सौभाग्य के, पचेलिमे = उदय होने पर, कः = कौन, कदा = कब, कीदृशः = कैसा, न स्यात् = नही हो जाता ? ॥२९॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी के इस प्रकार उपदेश देने पर उस किसान ने पूर्वोक्त गृहस्थधर्म स्वीकार कर लिया। ठीक ही है, क्योंकि सौभाग्य का उदय होने पर साधारण पुरुष भी महान् बन जाता है, अतएव तुच्छ गिना जाने वाला वह किसान

पुण्य का उदय होने पर यदि देशव्रती श्रावक हो गया तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥२६॥

अत्यादरान्निजाहार्य—ममुष्मै दानविद्ददौ ।
नादाने किन्तु दाने हि, सतां तुष्यति मानसम् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—दानवित् = दान का ज्ञाता, जीवन्धर, अत्यादरात् = अत्यन्त आदर से निजाहार्यम् = अपने आभूषणो को, अमुष्मै = इस किसान के लिये, ददौ = प्रदान करता हुआ । नीति.—हि = क्योकि, सताम् = महापुरुषों का, मानसम् = मन, दाने = दान देने में, एव = ही, तुष्यति = प्रसन्न रहता है, आदाने = दान लेने में, न = नही ॥३०॥

भावार्थः—गृहस्थधर्म धारण कर लेने पर उस किसान के लिये जीवन्धर स्वामी ने अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण प्रदान किये। क्योंकि महापुरुषों का हृदय औरों को दान देने मे ही प्रसन्न रहता है, लेने में नहीं । इसी कारण जीवन्धर उसे अपने आभूषण देकर बहुत प्रसन्न हुये ॥३०॥

अनर्घ्याकल्पलाभाच्च, धर्मलाभाच्च पिप्रिये ।
तादात्विकसुखप्रीतिः, संसृतौ हि विशेषतः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—(सः = वह किसान,) अनर्घ्याकल्पलाभात् = बहुमूल्य आभूषणों की प्राप्ति से, च = और, धर्मलाभात् = धर्म की प्राप्ति से, पिप्रिये = अधिक प्रसन्न हुआ । नीति.—हि = क्योकि, संसृतौ = संसार में, तादात्विकसुखप्राप्ति. = तात्कालिक सुख में प्रेम, विशेषत. = विशेषरूप से (भवति = होता है) ॥३१॥

भावार्थः—प्राणी को तात्कालिक (कार्य करने के अनन्तर ही प्राप्त होने वाला) सुख विशेष आनन्ददायक होता है, अतएव वह किसान धर्मलाभ के साथ बहुमूल्य आभूषणों को भी प्राप्त कर अधिक आनन्दित हुआ ॥३१॥

तं विसृज्य ततः स्वामी, तस्य स्मरन् विनिर्ययौ ।
प्रत्यक्षे च परोक्षे च, सन्तो हि समवृत्तिकाः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, स्वामी = जीवन्धर, तम् = उस किसान को (तत्र = वहा, एव = ही) विसृज्य = छोडकर, तस्य = उसका स्मरन् = स्मरण रखते हुए, एव = ही (ततः = वहां से) विनिर्ययौ = चल दिये । नीतिः—हि = क्योकि, सन्तः = सज्जन मनुष्य, प्रत्यक्षे = सामने, च = और, परोक्षे = पीछे, समवृत्तिकाः = समान व्यवहार करने वाले (भवन्ति = होते हैं) ॥३२॥

भावार्थ—जीवन्धर कुमार वस्त्राभूषण देने के बाद उस किसान को वहा ही छोड कर अपने हृदय मे उसका स्मरण रखते हुये और भी आगे चले गये। क्योंकि सज्जन मनुष्य सामने और पीछे समान व्यवहार करते है। इसीलिये जीवन्धर उसे परोक्ष मे भी नहीं भूले ॥३२॥

अथारण्ये क्वचिच्छ्रान्तो, निषण्णो निरुपद्रवः ।
शरण्यं सर्वजीवानां, पुण्यमेव हि नापरम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, श्रान्त = थके हुये, जीवन्धर, क्वचित् = किसी, अरण्ये = वन में, निरुपद्रवः = उपद्रव रहित, निषण्णः = बैठ गये । नीति—हि = क्योकि, सर्वजीवानाम् = समस्त प्राणियो का, शरण्यम् = रक्षक, पुण्यम् = पुण्य, एव = ही (भवति = होता है) अपरम् = और कोई, न = नही ॥३३॥

भावार्थ—मार्ग की यात्रा से थके हुये जीवन्धरकुमार किसी वन मे ही निर्भय होकर अकेले बैठ गये। ठीक ही है, क्योंकि पुण्यवान् पुरुषों को कहीं भी भय नहीं हुआ करत, तदनुसार उस विस्तृत और भयंकर वन मे एकाकी जीवन्धर के भी पुण्य के उदय से कोई उपद्रव नहीं हुआ ॥३३॥

तत्र चैकाकिनीं रामां, पश्यन्नासीत्पराङ्मुखः ।
अपदोषानुषङ्गा हि, करुणा कृतिसम्भवा ॥३४॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धर, तत्र = उस वन में, एकाकिनीम् = अकेली, रामाम् = एक स्त्री को, पश्यन् = देखता हुआ, पराङ्मुखः = विमुख, आसीत् = हो गया । नीतिः—हि = क्योंकि कृतिसम्भवा = विद्वानों से उत्पन्न, करुणा = दया, अपदोषानुषङ्गा = दोष को आशङ्का रहित (भवति = होती है) ॥३४॥

भावार्थः—उस वन मे जीवन्धरने किसी जगह एक अकेला स्त्री (विद्याधरी) को देखकर उसकी ओर से अपना मुख फेर लिया। ठीक ही है, क्योंकि विद्वज्जन किसी पर ऐसी अनुचित दया नहीं करते; जिसमें दोष की आशंका हो। तदनुसार जीवन्धर ने भी विद्याधरी को देख उसके पास जाकर दुःख सुख की बात पूछना भी अनुचित समझा ॥३४॥

सा तु जाता वृषस्यन्ती, वृषस्कन्धस्य वीक्षणात् ।
अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां, न तु प्राप्ते कदाचन ॥३५॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, सा = वह विद्याधरी, वृषस्कन्धस्य = बैल के समान पुष्ट कन्धे वाले जीवन्धर के, वीक्षणात् = देखने से, वृषस्यन्ती = कामान्ध, जाता = हो गई । नीति.-हि = क्योंकि, स्त्रीणाम् = स्त्रियो की, रुचि. = चाह (प्रायः = बहुधा, अप्राप्ते = अप्राप्त पुरुष में, (एव = ही, स्यात् = होती है), तु = किन्तु, प्राप्ते = प्राप्त पुरुष में, कदाचन = कभी भी, न भवति = नही होती ॥३५॥

भावार्थः—किन्तु वह विद्याधरी सुन्दर और हृष्ट पुष्ट जीवन्धर को देख कर उन पर आसक्त हो गई। ठीक ही है, क्योंकि अपने पति के सर्वथा योग्य होने पर भी प्रायः कर स्त्रियों का प्रेम अन्य अप्राप्त पुरुषों में हुआ ही करता है। तदनुसार

उस विद्याधरी ने भी काम के वशीभूत होकर अपने स्वामी के मौजूद रहते हुये भी जीवन्धर की चाह की ॥३५॥

अश्वस्यन्तीं विभाव्यैना—माकूतज्ञो व्यरज्यत ।
अनुरागकृदज्ञानां, वशिनां हि विरक्तये ॥३६॥

अन्वयार्थौ—आकूतज्ञः = अन्य के अभिप्राय के जान कर जीवन्धर, एनाम् = इस विद्याधरी को, अश्वस्यन्तीम् = कामासक्त, विभाव्य = जानकर, विरज्यत = विरक्त हो गये । नीतिः—हि = क्योंकि, अज्ञानाम् = मूर्खों के, अनुरागकृत् = रागजनक (वस्तु = वस्तु) वशिनाम् = जितेन्द्रियो के, विरक्तये = विराग के लिये (जायते = होता है) ॥३६॥

भावार्थः—बिना कहे ही और के अभिप्राय के जानकार जीवन्धर इस (विद्याधरी) को कामासक्त जान कर उसकी ओर से विरक्त हो गये । क्योंकि जो वस्तु मूर्खों के रागजनक होती है । वही वस्तु जितेन्द्रिय जनों के वैराग्यवर्धक होती है । यही कारण था जो विद्याधरी को कामासक्त देख कर भी जीवन्धर उसमें आसक्त न होकर विरक्त ही हुये ॥३६॥

पृथक्चेदङ्गनिर्माणं, चर्ममांसमलादिकम् ।
सजुगुप्सेऽत्र तत्पुञ्जे, मूढात्मा हन्त मुह्यति ॥३७॥

अन्वयार्थौ—चेत् = यदि, अङ्गनिर्माणम् = शरीर की रचना, पृथक् = जुदी जुदी (क्रियेत = की जाय, तर्हि = तो) चर्ममांसमलादिकम् = चमडा, मांस और मल आदिक, एव = ही (दृश्येत = दृष्टिगोचर होगा) तत् = तो भी, हन्त = खेद की बात है (यत् = कि) मूढात्मा = अज्ञानी प्राणी, सजुगुप्से = घृणासहित, तत्पुञ्जे = चमडे और मांस आदि के ढेर रूप, अत्र = इस शरीर में, मुह्यति = मोहित होता है ॥३७॥

भावार्थः—यदि शरीर की रचना अलग अलग की जाय, तो इसमें चमड़ा और मांस के सिवाय और कोई अच्छी

वस्तु नहीं दिखेगी। तो भी खेद की बात है कि इस शरीर-(चमडे, मांस और मल आदि के ढेर) मे अज्ञानी प्राणी प्रेम करता है ॥३७॥

दुर्गन्धमलमांसादि — व्यतिरिक्तं विवेचने ।
नेक्षते जातु देहेऽस्मिन्, मोहे को हेतुरात्मनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थो—विवेचने सति = आत्मा के अलग होने पर, अस्मिन् = इस, देहे = शरीर में, दुर्गन्धमलमासादिव्यतिरिक्तम् = दुर्गन्ध, मल और मास आदि से भिन्न वस्तु, जातु = कभी भी, न ईक्षते = न दिखेगी। (एवम् = ऐसा, सति = होने पर) आत्मनाम् = प्राणियों के, (अत्र = इस शरीर में) मोहे = मोह होने में, क = कौन, हेतु = कारण, (अस्ति = है) ? ॥३८॥

भावार्थ—एकमेक होकर मिले हुये आत्मा और शरीर से आत्मा के अलग हो जाने पर इस शरीर में दुर्गन्ध, मल और मांस से भिन्न और कोई सुन्दर वस्तु नहीं दिखेगी। ऐसी हालत में मूर्ख प्राणी इसमें मोह क्या करता है, यह विचारणीय बात है ? ॥३८॥

अज्ञानमशुचे र्बीजं, ज्ञात्वा व्यूहं च देहकम्।
आत्मात्र सस्पृहो वक्ति, कर्माधीनत्वमात्मनः ॥३९॥

अन्वयार्थो—देहकम् = शरीर को, अशुचे = अपवित्रता का, बीजम् = कारण, अज्ञानम् = ज्ञानरहित, च = और, व्यूहम् = विचार रहित, ज्ञात्वा = जानकर, अपि = भी, अत्र = इस शरीर में, सस्पृहः = अनुरागी, आत्मा = आत्मा, आत्मन = अपनी, कर्माधीनत्वम् = कर्मकृत अधीनता को (स्वयम् = अपने आप) वक्ति = प्रगट करता है ॥३९॥

भावार्थ—यह शरीर, अपवित्रता का कारण, ज्ञान-रहित और विचारशक्ति-रहित है, ऐसा जान कर भी उसमें

अनुराग करने वाला आत्मा यही सूचित करता है, कि—मैं कर्मों के आधीन हूँ, अन्यथा शरीर मे मेरा (आत्मा का) अनुराग ही नहीं होता ॥३९॥

मदीयं मांसलं मांस—ममीमांसेयमङ्गना।
पश्यन्ती पारवश्यान्धा,ततो याम्यात्मनेऽथवा ॥४०॥

अन्वयार्थौ—इयम् = यह, अङ्गना = स्त्री, मदीयम् = मेरे, मासलम् = पुष्ट, मासम् = शरीर को, पश्यन्ती = देखती हुई, अमीमासा = विवेकशून्य (सती = होती हुई) पारवश्यान्धा = कामान्ध (जाता = हो गई)। ततः = इसलिये, अथवा = तथा, आत्मने = अपने हितके लिये (इतः = इस वन से, अहम् = मैं) यामि = जाता हूँ ॥४०॥

भावार्थः—विवेकहीन यह विद्याधारी मेरे हृष्ट पुष्ट और सुन्दर शरीर को देखकर आसक्त हो गई है, इसलिये अथवा अपने सदाचार की रक्षा और हित के लिये इस वन से मेरा चला जाना ही उचित है, ऐसा जीवन्धरकुमार ने निश्चय किया ॥४०॥

अङ्गारसदृशी नारी, नवनीतसमा नराः।
तत्तत्सान्निध्यमात्रेण, द्रवेत्पुंसां हि मानसम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—नारी = स्त्री, अङ्गारसदृशी = जलते हुये कोयले के समान (च = और) नराः = मनुष्य,नवनीतसमा. = मक्खन के समान (भवन्ति = होते हैं) ततः = इसलिये, तत्सान्निध्यमात्रेण = उन स्त्रियो की समीपता मात्र से, पुसाम् = पुरुषो का, मानसम् = हृदय, द्रवेत् = विचलित हो जाता है ॥४१॥

भावार्थः—नीतिकारों ने स्त्रियों को अङ्गार समान और पुरुषों को मक्खन समान बतलाया है। जैसे समीप में अङ्गार होने से मक्खन पिघल जाता है, उसीप्रकार समीप में स्त्री के होने से पुरुष का मन भी विचलित (कामातुर) होजाता है ॥४१॥

संलापवासहासादि, तद्वर्ज्यं पापभीरुणा ।
बालया वृद्धया मात्रा, दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तत् = इसलिये, पापभीरुणा = पाप से भीत व्यक्ति के द्वारा, बालया=जवान कन्या से, वृद्धया = वृद्धा स्त्री से, मात्रा = माता से, दुहित्रा = पुत्री से, वा = और,व्रतस्थया=व्रतपालन करने वाली आर्यिका आदि से (अपि=भी, एकान्ते=एकान्त में) संलापवासहासादि=बातचीत सहवास और हँसी आदिक, वर्ज्यम् = त्यागा जाना चाहिये ॥४२॥

भावार्थः—जब कि स्त्री के समीप रहने मात्र से पुरुषों का मन चलायमान (कामातुर) हो जाता है, तब पाप से भीत विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह—जवान कन्या, वृद्धा, माता और पुत्री ही से नहीं किन्तु व्रतधारिणी स्त्री (आर्यिकादि) से भी अनर्थक वार्तालाप, एकान्तनिवास और हँसी मजाक आदि नहीं करे ॥४२॥

इति वैराग्यतर्केण, ततो यातुं प्रचक्रमे ।
भेतव्यं खलु भेतव्यं, प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर) इति=इस प्रकार, वैराग्यतर्केण = वैराग्यजनक विचार से,ततः = वहां से, यातुम् =प्रस्थान करने के लिये, प्रचक्रमे = तैयार हुये । नीतिः—खलु = क्योंकि, प्राज्ञैः = बुद्धिमानों के द्वारा, अज्ञोचितात् = मूर्ख पुरुषों के करने योग्य कार्य से,परम् =अत्यन्त, भेतव्यं भेतव्यम् = डरते रहना चाहिये ॥४३॥

भावार्थः—मूर्खों के करने योग्य कार्यों से विवेकियों को सदा दूर रहना चाहिये । इसीकारण विवेकी जीवन्धर उस कामिनी की ओर से विरक्त होकर वहां से चलने को तैयार हुये ॥४३॥

विरक्तमेव रक्ता सा, निश्चिकाय विपश्चितम्।
निसर्गादिङ्गितज्ञान-मङ्गनासु हि जायते ॥४४॥

अन्वयार्थौ—रक्ता = आसक्त, अपि = भी, सा = वह, विद्याधरी, विपश्चितम् = विवेकी जीवन्धर को (स्वस्याम् = अपने में) विरक्तम् = विरक्त, एव = ही, निश्चिकाय = निश्चय करती हुई। नीतिः-हि = क्योंकि, इङ्गितज्ञानम् = शरीर की चेष्टा से मन के भावो को जानने वाला ज्ञान, अङ्गनासु = स्त्रियो में, निसर्गात् = स्वभाव से (एव = ही) जायते = होता है ॥४४॥

भावार्थः—उस विद्याधरी ने भी जीवन्धर के द्वारा कुछ कहे विना ही उन्हें अपने से विरक्त निश्चय कर लिया। ठीक ही है, क्योंकि शरीर की चेष्टा से ही अन्य के मन का भाव जानने का ज्ञान स्त्रियों में स्वभाव से ही होता है। इसलिये विद्याधरी ने जीवन्धर का अभिप्राय स्वयमेव जान लिया ॥४४॥

तस्य स्वान्तं वशीकर्तुं, स्वोदन्तमियमूचिषी।
प्रतारणविधौ स्त्रीणां, बहुद्वारा हि दुर्मतिः ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस जीवन्धर के, स्वान्तम् = मन को, वशीकर्तुम् = वश में करने के लिये, इयम् = यह विद्याधरी, स्वोदन्तम् = अपने वृत्तान्त को, ऊचिषी = कहने लगी। नीतिः-हि = क्योंकि स्त्रीणाम् = स्त्रियो की, दुर्मतिः = दुर्बुद्धि (अन्यस्य = अन्य के) प्रतारणविधौ = ठगने के विषय में, बहुद्वारा = अनेक द्वार वाली (भवति = होती है) ॥४५॥

भावार्थ—जीवन्धरकुमार के मन को लुभाने के लिये उस विद्याधरी ने उनसे निम्नप्रकार अपना वृत्तान्त सुनाया। क्योंकि स्त्रियां दूसरों को ठगने की अनेक कलायें जाना करती हैं। तदनुसार उस विद्याधरी ने जीवन्धर को ठगने के लिये उनसे अपनी करुण कहानी कहना शुरू की ॥४५॥

विद्धि दीनां महाभाग, मां विद्याधरकन्यकाम् ।
स्यालेनात्र बलान्नीतां, त्यक्तामात्मप्रियाभयात् ॥४६॥

अन्वयार्थौ—महाभाग=हे भाग्यवान् जीवन्धर (त्वम्=तुम) माम्=मुझको, स्यालेन=भाई के साले के द्वारा, बलात् = जबर्दस्ती से, नीताम्—लाई हुई (किन्तु) आत्मप्रियाभयात् = अपनी स्त्री के डर से, अत्र=इस वन में, त्यक्ताम्=छोडी हुई, दीनाम् = अनाथ (च = और) विद्याधरकन्यकाम् = विद्याधर की कन्या, विद्धि = जानो ॥४६॥

भावार्थः—हे भाग्यवान् जीवन्धर ! मैं विद्याधर की एक दीन (अनाथ) कन्या हूँ । मेरे भाई का साला मुझे जबर्दस्ती (चोरी) से हर लाया था, किन्तु अपनी स्त्री के भय से वह मुझे इस जङ्गल में छोड़ गया है ॥४६॥

अनङ्गतिलकां नाम्ना, पुंसां तिलक ! रक्ष माम् ।
अशरण्यशरण्यत्वं, वरेण्ये वर्ततामिति ॥४७॥

अन्वयार्थौ—पुंसां तिलक = हे पुरुषोत्तम, नाम्ना = नाम से, अनङ्गतिलकाम् = अनङ्गतिलका, माम् = मुझको, रक्ष = सहारा दीजिये, (येन = जिससे) वरेण्ये = महापुरुषों में, अशरण्यशरण्यत्वम्=असहायो का सहायक पना, वर्तताम् = रहे ॥४७॥

भावार्थः—हे महापुरुष ! जीवन्धर ! मेरा नाम अनङ्ग-तिलका है, आप मेरी रक्षा कीजिये, जिससे महापुरुषों में असहायों का सहायकत्व रहे, यह लोक शरणातीत प्रतीत न हो ।

तावदार्तस्वरः को ऽपि, शश्रुवे श्रुतशालिना ।
क प्रयाता प्रिये प्राणा, मम यान्तीति दुःसहः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—तावत्=इतने ही में, प्रिये = हे प्यारी, त्वम् = तुम, क्व = कहा, प्रयाता = चली गई (त्वद्वियोगे = तेरे वियोग में) मम=मेरे, प्राणा.=प्राण, यान्ति=निकले जाते हैं। इति=इस प्रकार,

दुःसहः = असह्य, कः = कोई, आर्तस्वरः = दुखी मनुष्य का शब्द, श्रुतशालिना = विद्वान जीवन्धर के द्वारा, शुश्रुवे = सुना गया ॥४८॥

भावार्थः—इतने में ही "हे प्यारी तुम कहां चली गई, तुम्हारे बिना मेरे प्राण निकल रहे हैं", इस प्रकार किसी दुखी मनुष्य का असह्य शब्द जीवन्धर ने सुना ॥४८॥

योषाप्येषा मिषेणास्मा-न्निमेषादिव निर्ययौ ।
मायामयी हि नारीणां, मनोवृत्ति निसर्गतः ॥४९॥

अन्वयार्थौ—एषा = यह, योषा = स्त्री, अपि = भी मिषेण = किसी बहाने से (अस्मात् = इस स्थान से) निमेषात् = क्षणमात्र में, इव = ही, निर्ययौ = चली गई । नीति—हि = क्योंकि, नारीणाम् = स्त्रियों की, मनोवृत्तिः = चित्तवृत्ति, निसर्गतः = स्वभाव से, मायामयी = कपटयुक्त (वरीवर्तते = होती है) ॥४९॥

भावार्थः—यह स्त्री किसी बहाने से क्षणमात्र में ही जीवन्धर के पास से अन्यत्र चली गई । क्योंकि स्त्रियों की चित्त-वृत्ति में छल-कपट स्वभाव से ही होता है । तदनुसार उस विद्याधरी ने भी अन्यत्र जाने के लिये बहाना रूप कपट क्षण-मात्र में कर दिखाया और जीवन्धर जैसे विवेकी को भुलावे में डाल दिया ॥४९॥

आर्त्तस्वरकरोऽप्याह, दैन्यं मान्यस्य वीक्षणात् ।
शोच्याः कथं न रागान्धा, ये तु वाच्यान्न बिभ्यति ॥५०॥

अन्वयार्थौ—आर्त्तस्वरकरः = दुःखद्योतकशब्द कहने वाला, सः = वह अभ्यागत व्यक्ति, अपि = भी, मान्यस्य = माननीय जीवन्धर के, वीक्षणात् = देखने से, दैन्यम् = दीनतापूर्वक, आह = कहने लगा । नीतिः—हि = क्योंकि, ये = जो मनुष्य, वाच्यात् = अपवाद से, न बिभ्यति = नहीं डरते हैं (ते = वे) रागान्धाः = रागीजन, शोच्याः = शोचनीय, कथम् = कैसे, न सन्ति = नहीं हैं ? ॥५०॥

भावार्थः—जो रागी मनुष्य अपनी निंदा से भी नहीं डरते, उनकी हालत विचित्र और शोचनीय होती है। इसी कारण आये हुये रागी विद्याधर ने भी महापुरुष जीवन्धर से अपनी स्त्री के लज्जाजनक समाचार को सुनाने के अनौचित्य का विचार नहीं कर उनसे निम्नप्रकार इतिवृत्त (समाचार) कहना शुरू किया ॥५०॥

उदन्योपद्रुतामत्र, मान्य ! भार्यां पतिव्रताम् ।
पानीयार्थमवस्थाप्य, नाद्राक्षं प्रस्थितागतः ॥५१॥

अन्वयार्थौ—मान्य=हे माननीय, उदान्योपद्रुताम्=प्यास से व्याकुल, पतिव्रताम् = पतिव्रता, भार्याम् = स्त्री को, अत्र = यहा पर, अवस्थाप्य = विठाकर,पानीयार्थम् = पानी लाने के लिये,प्रस्थितागतः = जाकर आया हुआ (अहम्=मैं) अत्र = यहा पर, ताम् = उसको, न अद्राक्षम् = नही देखता हूँ। अद्राक्षमिति लुङि उत्तमपुरुषैकवचनम्। पूर्वं प्रस्थित पश्चादागत. इति प्रस्थितागतः ॥५१॥

भावार्थ.—हे माननीय जीवन्धर मेरी पतिव्रता धर्मपत्नी प्यासी थी, उसे यहां पर ही बिठाकर मैं पानी लाने के लिये जलाशय को गया था; वहां से वापिस आकर देखता हूँ तो वह यहां नहीं है ॥५१॥

विद्याप्यविद्यमानैव, मम विद्याधरोचिता ।
मर्त्योत्तम ! भवानत्र, कर्त्तव्यं कथयेदिति ॥५२॥

अन्वयार्थौ—मर्त्योत्तम = हे पुरुषोत्तम ! (तद्वियोगे = उसका वियोग होने पर, मम = मेरी, विद्याधरोचिता = विद्याधरो के योग्य, विद्या = विद्या, अपि = भी, अविद्यमाना = विलीन, एव = ही, जाता = हो गई है, भवान्=आप, अत्र=इस विषय में, कर्त्तव्यम्=करने योग्य उपाय को, कथयेद् = कहिये ॥५२॥

भावार्थः—हे पुरुषोत्तम जीवन्धर ! उस स्त्री के कारण ही मेरी विद्याधर सम्बन्धी विद्या भी विलीन हो गई है और मुझे कर्त्तव्य-मार्ग भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसलिये विशेष विद्वान् आप इस विषय में मुझे कर्त्तव्य मार्ग बतलाने की कृपा कीजिये।

पुरन्ध्रीष्वतिसंधाना — दभैषीदभयङ्करः ।
वचनीयाद्धि भीरुत्वं, महतां महनीयता ॥५३॥

अन्वयार्थौ—अभयङ्करः = निर्भय जीवन्धर, पुरन्ध्रीषु = स्त्रियों में (स्थितात् = रहने वाली) अतिसन्धानात् = ठगविद्या से, अभैषीत् = डर गये। नीति—हि = क्योंकि, वचनीयात् = निन्दाजनक कार्यों से, भीरुत्वम् = भीतपना, महताम् = महापुरुषों का, महनीयता = बडप्पन, अस्ति = है ॥५३॥

भावार्थः—निन्दाजनक कार्यों से डरते (दूर) रहना महाजनों का महत्त्व है, इसी कारण जीवन्धर ने उस विद्याधर से उसकी स्त्री की शरारत को जान कर स्त्रियों में अधिक प्रेम करना आपत्तिजनक निश्चित किया ॥५३॥

नभश्चरं पुनश्चैनं, स विपश्चिदबोधयत् ।
अपश्चिमफलं वक्तुं, निश्चितं हि हितार्थिनः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, विपश्चित् = विद्वान्, सः = वह जीवन्धर, एनम् = इस, नभश्चरम् = विद्याधर को, अबोधयत् = समझाता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, हितार्थिनः = हितैषी जन, निश्चितम् = निश्चित, च = और, अपश्चिमफलम् = उत्कृष्ट फलदायक बात को, एव = ही, वक्तुम् = कहने को (इच्छन्ति = चाहते हैं) ॥५४॥

भावार्थः—हितैषी जन निश्चित और उत्तम फलदायक बात ही कहा करते हैं, इसलिये विद्वान् जीवन्धरने भवदत्त विद्याधर को निम्नप्रकार हितकर और परमार्थ उपदेश दिया ॥५४॥

भवदत्त ! मुधार्तोऽसि, विद्यावित्तो भवन्नपि ।
न विद्यते हि विद्याया—मगम्यं रम्यवस्तुषु ॥५५॥

अन्वयार्थौ—भवदत्त = हे भवदत्त (त्वम् = तू) विद्यावित्त = विद्यारूपी धनवाला, भवन् = होता हुआ, अपि = भी, मुधा = व्यर्थ, आर्त = दुखी, असि = होता है । नीति — हि = क्योकि, विद्यायाम् = विद्या के होने पर, रम्यवस्तुषु = सुन्दर वस्तुओ में (किमपि = कुछ भी) अगम्यम् = दुष्प्राप्य, न विद्यते = नही होता ॥५५॥

भावार्थः—विद्वानों के दुष्प्राप्य वस्तु भी सरलता से प्राप्त हो जाता है इसलिये किसी उत्तम वस्तु के वियोग होने पर भी उनके खेद नहीं होता । ऐसी हालत मे हे भवदत्त ! विद्याधर ! तू विद्यावान् होकर भी अपनी स्त्री के वियोग में इतना अधीर क्यों होता है ? ॥५५॥

नभश्चर ! न कश्चित्स्याद्, विपश्चिदविपश्चितोः ।
विनिश्चलशुचो र्भेदो, यतश्चन कुतश्चन ॥५६॥

अन्वयार्थौ—नभश्चर = हे विद्याधर, यतश्चन कुतश्चन = जिस किसी हर्ष विषाद के कारण से, विनिश्चलशुचोः = हर्ष विषाद करने पर, विपश्चिदविपश्चितो = विद्वान् और मूर्ख में, कश्चिद् = कोई, भेद. = भेद, न = नही (स्याद = होगा) ॥५६॥

भावार्थः—हे विद्याधर ! विवेकी जन विपत्ति के आने पर भी धैर्य रखते हैं और विशेष लाभ होने भी गर्व नहीं करते, किन्तु मूर्ख जन जरासी विपत्ति से अधीर हो जाते हैं और थोड़े से लाभ मे फूल जाते है, इसी बात से इन दोनों मे अन्तर है । यदि विपत्ति और सम्पत्ति आने पर दोनों समान रूप से अधीर और प्रसन्न होने लगें, तो फिर उन दोनों मे कोई अन्तर नहीं रहेगा । ऐसी हालत मे विद्वान् भी तू अधीर

होकर अपनी मूर्खता क्यों सूचित करता है ? ॥५६॥

परं सहस्रधीभाजि, स्त्रीवर्गे का पतिव्रता।
पातिव्रत्यं हि नारीणां, गत्यभावे तु कुत्रचित् ॥५७॥

अन्वयार्थौ—परम् = और, सहस्रधीभाजि = हजारो प्रकार की बुद्धि के धारक, स्त्रीवर्गे = स्त्रीसमूह में, पतिव्रता = पतिव्रता, का = कौन, (स्यात् = होती है) हि = निश्चय से, नारीणाम् = स्त्रियो के, पातिव्रत्यम् = पतिव्रता पन, गत्यभावे = उपाय या अवसर न होने पर, कुत्रचित् = कही पर (एव = ही, भवेत् = होता है) ॥५७॥

भावार्थः—स्त्रिया हजारों ढङ्ग बनाना जानती हैं, उनमें पतिव्रता पन तो अवसर या उपाय के न होने पर ही प्रतिशत (सैकड़े में) दस पांच में ही सम्भव हो सकता है ॥५७॥

मदमात्सर्यमायेर्ष्या — रागरोषादिभूषिताः।
असत्याशुद्धिकौटिल्य—शाठ्यमौढ्यघनाः स्त्रियः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—स्त्रिय. = स्त्रिया, मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागरोषादि-भूषिताः = घमड; डाह, कपट, द्वेष; मोह, क्रोध आदि सहित (च = और) असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यघना. = झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता सहित (भवन्ति = होती हैं) ॥५८॥

भावार्थः—स्त्रियों में, घमड, डाह, कपट, द्वेष, मोह, क्रोध, झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता ये बातें स्वाभाविक होती हैं ॥५८॥

निर्घृणे निर्दये क्रूरे, निर्व्यवस्थे निरङ्कुशे।
पापे पापनिमित्ते च, कलत्रे ते कुतः स्पृहा ॥५९॥

अन्वयार्थौ—निर्घृणे = घृणारहित, निर्दये = दयारहित, क्रूरे = दुष्ट, निर्व्यवस्थे = व्यवस्थारहित, निरङ्कुशे = स्वतन्त्र, पापे = पापरूप, च = और, पापनिमित्ते = पाप की कारण, कलत्रे = स्त्री के विषय में,

ते = तेरी, स्पृहा = प्रीति, विश्वास या इच्छा, कुतः = कैसे (भवेत् = होती है) 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या वार्तिकेनात्र' समासः ॥५९॥

भावार्थ—हे भवदत्त ! घृणारहित, दयारहित, दुष्ट, व्यवस्थारहित, स्वतन्त्र, पापरूप और पाप की कारण स्त्री के विषय में तुझे प्रेम विश्वास या चाह नहीं करना चाहिये। उसमें विश्वासादि करने से किसी का कुछ भी वास्तविक लाभ नहीं हुआ ॥५९॥

इत्युपादिष्ट—मेतस्य, हृदये नासजत्तराम् ।
जठरे सारमेयस्य, सर्पिषो न हि सञ्जनम् ।६०॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, उपादिष्टम् = उपदेश, एतस्य = इस भवदत्त के, हृदये = हृदय में, न असजत्तराम् = कुछ भी नही लगा। नीतिः—हि = क्योंकि, सारमेयस्य = कुत्ते के, जठरे = पेट में, सर्पिष. = घी का, सञ्जनम् = ठहरना (न स्यात् = नही होता) ॥६०॥

भावार्थः—जैसे कुत्ते के पेट में घी नहीं ठहरता; उसी प्रकार दुष्टों के हृदय में सज्जनों का उपदेश भी स्थान नहीं पाता, तदनुसार इस भवदत्त विद्याधर के हृदय में भी जीवन्धर स्वामी के पूर्वोक्त उपदेश ने कुछ भी असर नहीं किया ॥६०॥

स्वामी तु तस्य मौढ्येन, सुतरामन्वकम्पत ।
उत्पथस्थे प्रबुद्धाना–मनुकम्पा हि युज्यते ॥६१॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, स्वामी = जीवन्धर, तस्य = उस विद्याधर की, मौढ्येन = मूर्खता से, सुतराम् = अत्यन्त, अन्वकम्पत = दयायुक्त हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, उत्पतस्थे = कुमार्ग में चलने वाले मनुष्य पर, प्रबुद्धानाम् = बुद्धिमानो की, अनुकम्पा = दया, युज्यते एव = योग्य ही है ॥६१॥

भावार्थः—विद्वान मनुष्य कुमार्गगामी मनुष्य पर भी दया करते हैं। इस नीति के अनुसार अपने सदुपदेश की अवहेलना करने पर भी उस विद्याधर की मूर्खता पर जीवन्धर के बहुत दया उत्पन्न हुई ॥६१॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, कमप्यारामभाश्रयत् ।
अदृष्टपूर्वदृष्टौ हि, प्रायेणोत्कण्ठते मनः ॥६२॥

अन्वयार्थो—ततः = इसके बाद, जीवन्धर, तस्मात् = उस वन से, विनिर्गत्य = निकल कर, कमपि = किसी, आरामम् = बगीचे को, आश्रयत् = पहुँचे। नीति—हि = क्योंकि, मनः = मन अदृष्टपूर्वदृष्टौ = पहले नहीं देखी हुई वस्तु के देखने में, प्रायेण = बहुधा, उत्कण्ठते = उत्कण्ठित होता है ॥६२॥

भावार्थः—जीवन्धर कुमार उस वन से निकल कर समीपवर्ती किसी बगीचे में गये। क्योंकि पहले नहीं देखी हुई वस्तु के देखने में प्रत्येक मनुष्य का मन प्रायः उत्कण्ठित (देखने का उत्सुक) हुआ करता है। इसीलिये जीवन्धर के भी अदृष्ट बगीचा के देखने की इच्छा हुई ॥६२॥

तत्राम्रफलमाक्रष्टुं, धनुषा कोऽपि नाशकत् ।
अशक्तैः कर्तुमारब्धं, सुकरं किं न दुष्करम् ॥६३॥

अन्वयार्थो—तत्र = उस बगीचे में, क = कोई राजकुमार, धनुषा = बाण से, आम्रफलम् = एक आम के फल को, आक्रष्टुम् = गिराने को, न अशक्त् = समर्थ नहीं हुआ। नीति—हि = क्योंकि, अशक्तै = असमर्थों के द्वारा, कर्तुम् = करने को, आरब्धम् = प्रारम्भ किया गया, सुकरम् = सरल (अपि = भी, कार्यम् = कार्य) दुष्करम् = कठिन, न स्यात् किम् = नहीं होजाता है क्या? अकशत् इति लुङिप्रथमपुरुषैक वचनम्।

के एक फल को गिराता था, किन्तु वह उस कार्य मे सफल नहीं हुआ। क्योंकि असमर्थ जनों को सरल काम भी कठिन हो जाता है, तदनुसार धनुर्विद्या मे अपरिपक्व राजकुमार के भी उपरोक्त सरल काम कठिन हो गया ॥६३॥

स्वामी तु तत्फलं, विद्ध-मादत्त सशिलीमुखम् ।
तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः, साध्यते हि समीहितम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, स्वामी = जीवन्धर, विद्धम् = बाण से छिन्न, तत् = उस, फलम् = फल को सशिलोमुखम् = बाणसहित, आदत्त=ग्रहण करते हुये। नीति: – हि=क्योंकि, तत्तन्मात्रकृतोत्साहैं = उत्साह से तत्परतापूर्वक कार्य करने वालों के द्वारा (स्वस्य = अपना) समीहितम् = इच्छितकार्य, साध्यते = सिद्ध कर लिया जाता है ॥६४॥

भावार्थः—किन्तु जीवन्धरकुमार ने उस फल को एक ही बाण से छेद कर जमीन पर गिराया। क्योंकि उत्साह और तत्परतापूर्वक कार्य करने वाले मनुष्य अपने इच्छित कार्य को सरलता से पूर्ण कर लेते हैं, इसीकारण धनुर्विद्या मे निपुण और उत्साही जीवन्धर ने उस फल को सरलता से गिरा दिया ॥६४॥

अपराद्धपृषत्कोऽपि, दृष्ट्वा व्यस्मेष्ट तत्कृतिम् ।
अपदानमशक्ताना—मद्भुताय हि जायते ॥६५॥

अन्वयार्थौ—अपराद्धपृषत्क = लक्ष्यवेध करने में विफल बाण वाला (स =वह राजकुमार) अपि=भी, तत्कृतिम् = जीवन्धर की चतुराई को, दृष्ट्वा=देखकर, व्यस्मेष्ट=आश्चर्य करने लगा। नीति.— हि=क्योंकि, अपदानम् = प्रशसनीय कार्य, अशक्तानाम्=असमर्थो के, अद्भुताय=आश्चर्य के लिये, जायते = होता है ॥६५॥

भावार्थः—औरों के प्रशसनीय उत्तम कार्य को देख कर असमर्थ जनों के महान् आश्चर्य होता है, तदनुसार लक्ष्यवेध

नहीं कर सकने वाला वह राजकुमार जीवन्धर के द्वारा अनायास किये गये लक्ष्यवेध को देखकर अधिक आश्चर्यान्वित हुआ।

स्वामिनोऽयं स्ववृत्तान्तं, सकातर्यं समभ्यधात्।
सन्निधाने समर्थानां, वराको हि परो जनः ॥६६॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह राजकुमार, स्ववृत्तान्तम् = अपने समाचार को, स्वामिन = जीवन्धर स्वामी से, सकातर्यम् = दीनता-पूर्वक, समभ्यधात् = कहने लगा। नीति—हि = क्योंकि, समर्थानाम् = शक्तिशालियो के, सन्निधाने = सामने, परः = अन्य असमर्थ, जनः = मनुष्य, वराकः = दीन (भवति = हो जाता है) ॥६६॥

भावार्थः—वह राजकुमार अपने समाचार को जीवन्धर से दीनतापूर्वक कहने लगा। ठीक ही है, क्योंकि शक्तिशालियों के सामने अन्य असमर्थ मनुष्य दीन हो ही जाता है। तदनुसार शक्तिशाली जीवन्धर के सामने वह अभ्यागत राजकुमार भी बहुत कायल हुआ ॥६६॥

कर्त्तव्यं वा न वा प्रोक्तं, मया कार्मुककोविद !
कर्णकटून्यपि मद्वाक्य—माकर्णयितुमर्हसि ॥६७॥

अन्वयार्थौ—कार्मुककोविद = हे धनुर्विद्यानिपुण (जीवन्धर) मया = मेरे द्वारा, प्रोक्तम् = कहा जाने वाला वचन, कर्तव्यम् = मानने योग्य, स्यात् = हो, वा = अथवा, न स्यात् = न हो (तथापि = तो भी) कर्णकटु = कानों के अप्रिय, अपि = भी, मद्वाक्यम् = मेरे वचन को, आकर्णयितुम् = सुनने को (त्वम् = तुम) अर्हसि = योग्य हो ॥६७॥

भावार्थः—हे धनुर्विद्याप्रवीण ! जीवन्धर ! मेरा वक्ष्यमाण वचन योग्य हो अथवा अयोग्य तथापि सुनने में कोई हानि नहीं; तदनुसार कार्य करना न करना आपकी इच्छा पर निर्भर है; इसलिये अप्रिय भी मेरे वचन को सुनने की कृपा कीजिये ॥६७॥

एतन्मध्यमदेशस्था, हेमाभा स्यादियं पुरी ।
क्षत्रियो दृढमित्रः स्यात्, तत्प्रिया नलिनाह्वया ॥६८॥

अन्वयार्थौ— एतन्मध्यमदेशस्था = इस मध्यप्रदेश में स्थित, इयम् = यह, हेमाभा = हेमाभा नामक, पुरी = नगरी, स्यात् = है, (तस्या = उसका) दृढमित्रः = दृढमित्र नामक, क्षत्रिय = क्षत्रियकुलोत्पन्न राजा (वर्तते = है, च = और) नलिनाह्वया = नलिनानामक, तत्प्रिया = उसकी स्त्री (विद्यते = है) ॥६८॥

भावार्थः— इस मध्यप्रदेश में हेमाभा नगरी है। उसमें दृढमित्र नामक राजा और नलिना नामक रानी है ॥६८॥

सुमित्राद्यास्तयोः पुत्रा-स्तेष्वप्यन्यतमोऽस्म्यहम् ।
वयसैव वयं पक्वा, विश्वेऽपि न तु विद्यया ॥६९॥

अन्वयार्थौ—तयो = उन दोनों के, सुमित्राद्या = सुमित्र आदिक, पुत्रा = पुत्र (सन्ति = हैं) तेषु = उनमें, अहम् = मैं, अपि = भी, एक = एक, अस्मि = हूँ (तथा) विश्वे = समस्त, अपि = ही, वयम् = हम, वयसा = उम्र से, एव = ही, पक्वाः = बडे (जाता = हो गये हैं), तु = किन्तु, विद्यया = विद्या से, न = नही । सा च स च तौ, तयोः तयो । विश्वे, इति प्रथमावहुवचनम् यथा, सर्वे ॥६९॥

भावार्थः—इस राजा रानी के सुमित्र और धनमित्र आदिक अनेक पुत्र हैं। उनमें से मैं भी एक हूँ। हम सब उम्र में तो बडे हो गये हैं, किन्तु विद्याहीन हैं ॥६९॥

तातपादोऽयमस्माकं, चापविद्याविशारदम् ।
विचिनोति न चेद्दोष-एषोऽप्यालोक्यतामिति ॥७०॥

अन्वयार्थौ—अस्माकम् = हमारे, अयम् = ये, तातपादः = पूज्य पिता, चापविद्याविशारदम् = धनुर्विद्या में निपुण पुरुष को, विचिनोति = तलाश रहे हैं। चेत् = यदि, दोष = हानि, न स्यात् = न

होवे (तर्हि=तो) एषः=ये हमारे पिता, अपि = भी, आलोक्यताम् = दृष्टिगोचर कीजिये ॥७०॥

भावार्थः—हमारे पिता हम लोगों को शिक्षा-सम्पन्न बनाने के हेतु धनुर्विद्या के जानकार एक विद्वान को खोज (तलाश) रहे हैं, यदि आप अनुचित न समझें तो उनसे मिलने की कृपा कीजिये ॥७०॥

तद्व्याहारे विसम्वादो, विदुषोऽप्यस्य नाजनि ।
विधिं घटयतीष्टार्थैः, स्वयमेव हि देहिनः ॥७१॥

अन्वयार्थौ—तद्व्याहारे = उस राजकुमार के कथन में, अस्य = इस, विदुष = विद्वान् जीवन्धर के, अपि = भी, विसवाद = विरोध, न अजनि = नहीं हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, विधिः = कर्म, देहिनः = प्राणियों को, इष्टार्थैं = इष्ट वस्तुओं से, स्वयम् = खुद, एव = ही, घटयति = सम्बन्ध करा देता है ॥७१॥

भावार्थः—उस राजकुमार के वचन को मानने में जीवन्धर ने भी निषेध नहीं किया, क्योंकि शुभकर्म, प्राणियों को इष्ट वस्तुओं से अपने आप सम्बन्ध करा देता है, तदनुसार जीवन्धर को भी, राजकुमार का वचन मान लेने में कनकमाला की प्राप्ति रूप लाभ होना था, इसलिये उन्हें भी उसकी बात मान लेने में विसवाद नहीं हुआ ॥७१॥

पार्थिवं च ततः पश्यँ-स्तद्वश्योऽभूच्च सम्मतेः ।
अनुसारप्रियो न स्यात्, को वा लोके सचेतनः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—तत. = इसके बाद (जीवन्धरकुमार) पार्थिवम् = राजा को, पश्यन् = देखते हुये (तत्कृताया = उसके द्वारा किये गये, सम्मते = सत्कार से, तद्वश्य. = उसके वशीभूत, अभूत् = हो गये । नीति.—हि = क्योंकि, लोके = संसार से, क. = कौन, सचेतन = जीवित

प्राणी, अनुसारप्रिय = अपने अनुकूल मनुष्य पर प्रेम करने वाला, न स्यात् = नही होता ? ॥७२॥

भावार्थ—इस लोक में अपने अनुकूल मनुष्य पर सभी प्राणी प्रेम करते है, तदनुसार जब दृढ़मित्र राजा ने जीवन्धर का सत्कार किया, तब वे भी उसकी अनुकूलता देखकर उस पर बहुत प्रसन्न हुये और सर्वथा उसके वशीभूत (अनुकूल) हो गये ॥७२॥

महीक्षिता क्षणात्तस्य, माहात्म्यमपि वीक्षितम् ।
वपु र्वक्ति हि सुव्यक्त-मनुभावमनक्षरम् ॥७३॥

अन्वयार्थौ—महीक्षिता = राजा ने, अपि = भी, क्षणात् = क्षण मात्र मे, तस्य = उस जीवन्धर का, माहात्म्यम् = प्रभाव, वीक्षितम् = देख लिया। नीति –हि = क्योकि, वपुः = शरीर (मनुष्यस्य = मनुष्य के) अनुभावम् = प्रभाव को, अनक्षरम् = शब्दोच्चारण विना (एव = ही) सुव्यक्तम् = स्पष्ट, वक्ति = प्रगट कर देता है ॥७३॥

भावार्थः—परिचय कराये विना ही शरीर के देखने मात्र से उस व्यक्ति का प्रभाव प्रायः स्पष्ट विदित हो जाता है, इसीलिये दृढमित्र राजा ने भी किसी के द्वारा परिचय कराये विना ही जीवन्धर के शरीर के देखने मात्र से ही उनका प्रभाव निश्चित कर लिया ॥७३॥

सुतविद्यार्थमत्यर्थं, पार्थिवस्तमयाचत ।
आराधनैकसम्पाद्या, विद्या न ह्यन्यसाधना ॥७४॥

अन्वयार्थौ—पार्थिव = राजा, सुतविद्यार्थम् = अपने पुत्रो को विद्या पढवाने के लिये, तम् = उन जीवन्धर से, अत्यर्थम् = अत्यन्त, अयाचत = प्रार्थना करता हुआ। नीति —हि = क्योकि, विद्या = विद्या, आराधनैकसम्पाद्या = गुरु की सेवा सुश्रूषा से ही प्राप्त होने वाली,

(विद्यते = होती है) अन्यसाधना = कारणान्तर से प्राप्त होने वाली, न जायते = नही है ॥७४॥

भावार्थः—गुरु की सेवा सुश्रूषा करने से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अन्य प्रकार नहीं। इसीलिये दृढमित्र राजा ने अपने राजकुमारों को विद्या पढ़वाने के लिये विद्वान् जीवन्धर से विनयपूर्वक प्रार्थना की ॥७४॥

अभ्यर्थनवलात्तस्य, कुमारोऽप्यभ्युपागमत् ।
स्वयं देया सती विद्या, प्रार्थनायां तु किं पुनः ॥७५॥

अन्वयार्थौ—कुमार.= जीवन्धर कुमार, अपि = भी, तस्य = उस राजा की, अभ्यर्थनवलात् = प्रार्थना से (तत्पाठनम् = उन राजकुमारों के पढाने को) अभ्युपागमत् = स्वीकार करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, सती = उत्तम निर्दोष, विद्या = शिक्षा, स्वयम् = अपने आप, देया = प्रदान करने योग्य (भवति = होती है) तु = तो, पुनः = फिर, प्रार्थनायाम् = प्रार्थना करने पर, किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥७५॥

भावार्थः—उत्तम और निर्दोष विद्या दूसरों के लिये बिना याचना किये स्वयमेव प्रदान करना चाहिये, फिर कदाचित् कोई प्रार्थना करे तब तो उसे अवश्य ही प्रदान करना (पढ़ाना) चाहिये, इसीकारण जीवन्धर कुमार ने पुत्रों के पढ़ाने के हेतु की गई दृढ़मित्र राजा की प्रार्थना स्वीकृत की ॥७५॥

पवित्रोऽपि सुतान्विद्यां, स प्रापयदवञ्चितम् ।
कृतार्थानां हि पारार्थ्य-मैहिकार्थपराङ्मुखम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—पवित्र = निष्कपट, सः = वह जीवन्धरकुमार, अपि = भी, सुतान् = उन राजकुमारों को, विद्याम् = शिक्षा को, अवञ्चितम् = सत्यहृदयपूर्वक, प्रापयत् = देने लगा। नीति.—हि = क्योंकि, कृतार्थनाम् = परोपकारियों का, पारार्थ्यम् = परोपकार, ऐहिकार्थपरा-

मुखम् = इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन से रहित (वरीवर्तते = होता है)।

भावार्थः—जीवन्धर ने भी उन राजकुमारों को निष्कपट (सच्चे) हृदय से शिक्षा दी। ठीक ही है, क्योंकि परोपकारियों का परोपकार इस भव के हितार्थ नहीं होता, किन्तु परभव में आत्महित के लिये ही होता है, इसलिये जीवन्धर ने अपने परभव के सुधार का लक्ष्य रखते हुए उन राजकुमारों के पढ़ाने में निष्कपट भाव रखा ॥७६॥

प्रश्रयेण बभूवुस्ते, प्रत्यक्षाचार्यरूपका: ।
विनयः खलु विद्यानां, दोग्ध्री सुरभिरञ्जसा ॥७७॥

अन्वयार्थौ—ते = वे राजकुमार (गुरो = गुरु की) प्रश्रयेण = विनय और सेवा सुश्रूषा से, प्रत्यक्षाचार्यरूपका. = साक्षात् गुरु के समान, बभूवु: = हो गये हैं। नीति—हि = क्योंकि (गुरो = गुरु की) अञ्जसा = यथार्थ, विनय = विनय, विद्यानाम् = विद्याओं की, दोग्ध्री = देने वाली, सुरभि: = कामधेनु के समान (जायते = होती है) ॥७७॥

भावार्थ:—जिस प्रकार कामधेनु इच्छित मनोरथों को पूर्ण करती है, उसी प्रकार गुरु की सच्ची सेवा करने से भी इच्छित विद्याओं की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वे राजकुमार भी गुरु जीवन्धर की सच्ची सेवा करने से साक्षात गुरु के समान विद्वान हो गये ॥७७॥

वीक्ष्य तानतृपद्भूपो, विद्यानां पारदृश्वनः ।
पुत्रमात्रं मुदे पित्रो-र्विद्यापात्रं तु किं पुनः ॥७८॥

अन्वयार्थौ—भूप: = राजा, तान् = उन पुत्रों को, विद्यानाम् = विद्याओं के, पारदृश्वन. = पारगामी, वीक्ष्य = देखकर अतृपत् = प्रसन्न हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, पित्रो. = माता पिता के, पुत्रमात्रम् = सामान्य पुत्र (एव = ही) मुदे = हर्ष के लिये, स्यात् = होता है,

तु = तो, पुन. = फिर, विद्यापात्रम् = विद्वान् पुत्र, किं वक्तव्य: = कहना ही क्या है ? ॥७८॥

भावार्थः—इस संसार में सामान्य पुत्र से ही माता पिता को परम आनन्द होता है, तो फिर पुत्र के विद्वान होने पर उत्पन्न होने वाले आनन्द का कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो और भी अधिक होगा। इसीलिये दृढ़मित्र राजा अपने राजकुमारों को विद्वान् देख कर बहुत प्रसन्न हुआ ॥७८॥

अतिमात्रं पवित्रं तं, धात्रिपः समभावयत् ।
असम्भावयितु र्दोषो, विदुषां चेदसम्मतिः ॥७९॥

अन्वयार्थौ—धात्रिप = राजा, पवित्रम् = निष्कपट, तम् = उस जीवन्धर को, अतिमात्रम् = अधिक, समभावयत् = सत्कृत करता हुआ। (यतः = क्योंकि) चेत् = यदि, विदुषाम् = विद्वानों का, असम्मति. = सम्मान का अभाव (स्यात् = हो, तर्हि = तो) असम्भावयितु: = आदर न करने वाले का (एव = ही) दोष. = अपराध, (मन्यते = माना जाता है) ॥७९॥

भावार्थः—दृढ़मित्र राजा ने भी निष्कपट भाव से अपने राजकुमारों को शिक्षा देने वाले जीवन्धर का अधिक सत्कार किया। क्योंकि यदि विद्वानों का सत्कार नहीं किया जाय तो सत्कार न करने वाले की ही मूर्खता समझी जाती है, इसी कारण राजा ने उनका सत्कार कर अपना कर्त्तव्य पालन किया।

महोपकारिणः किं वा, कुर्यामित्यप्यतर्कयत् ।
विद्याप्रदायिनां लोके, का वा स्यात्प्रत्युपक्रिया ॥८०॥

अन्वयार्थौ—वा = और (स = वह दृढमित्र राजा, अहम् = मैं, अस्य = इस) महोपकारिण. = महान् उपकारी का, किम् = क्या प्रत्युपकार, कुर्याम = करूं, इति = यह, अपि = भी, अतर्कयत् =

विचारने लगा। नीतिः—वा = क्योंकि, लोके = संसार में, विद्याप्रदायिनाम् = शिक्षा देने वाले शिक्षको का, प्रत्युपक्रिया = प्रत्युपकार, का = क्या, स्यात् = हो सकता है ? किन्तु, कापि न = कोई नही ॥८०॥

भावार्थः—दृढमित्र राजा ने "इस महान उपकारी जीवन्धर का मैं क्या प्रत्युपकार करूं इस प्रकार" विचार भी किया। ठीक ही है, क्योंकि इस लोक में शिक्षा देने वाले शिक्षकों का प्रत्युपकार किसी भी वस्तु से नहीं किया जा सकता, इसलिये वह राजा उनके प्रत्युपकारार्थ विशेष असमंजस में पड़ गया ॥८०॥

कन्याविश्राणनं तस्मै, करणीयमजीगणत् ।
शक्यमेव हि दातव्यं, सादरैरपि दातृभिः ॥८१॥

अन्वयार्थौ—स. = वह दृढमित्र राजा, तस्मै = उस जीवन्धर कुमार के लिये, कन्याविश्राणनम् = कन्या का देना, करणीयम् = कर्त्तव्य, अजीगणत् = निश्चित करता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, सादरैः = आदर सहित, दातृभि. = दाताओ के द्वारा, अपि = भी, शक्यम् = अपनी शक्ति के अनुसार वस्तु, एव = ही, दातव्यम् = दी जाना चाहिये।

भावार्थः—पात्र के प्रति दाता की कितनी भी श्रद्धा या भक्ति क्यों न हो, फिर भी दाता को पात्र के लिये अपनी शक्ति के अनुसार ही वस्तु देना चाहिये, इसलिये दृढमित्र राजा ने जीवन्धर के प्रति विशेष श्रद्धा और भक्ति होने पर भी अन्य राज्यादिक न देकर उन्हें अपनी कन्या ही प्रदान करना निश्चित किया ॥८१॥

अभ्युपाजीगमत्पुत्रीं, परिणेतुममुं पुनः ।
उदाराः खलु मन्यन्ते, तृणायेदं जगत्त्रयम् ॥८२॥

अन्वयार्थौ—पुन = फिर (वह राजा) पुत्रीम् = अपनी राजकुमारी को, परिणेतुम् = व्याहने के लिये, अमुम् = जीवन्धर को,

अभ्युपाजीगमत् = स्वीकारता लेना हुआ। नीति – हि = क्योंकि, उदारा: = उदार व्यक्ति, इदम् = इस, जगत्त्रयम् = लोकत्रय को, तृणाय = तृण के समान, मन्यन्ते = मानते हैं ॥८२॥

भावार्थः—उस दृढमित्र राजा ने अपनी राजकुमारी को वरण करने के लिये जीवन्धर को स्वीकृति ली। ठीक ही है, क्योंकि उदारपुरुष लोकत्रय को भी तृण के समान तुच्छ गिनते हैं। इसीलिये राजा ने महापुरुष जीवन्धर के लिये स्त्री की प्राप्ति कोई विशेष या गण्य बात नहीं समझ उसके वरण के हेतु उनकी स्वीकृति ली ॥८२॥

ततः कनकमालाख्यां, कन्यां राज्ञा समर्पिताम् ।
पर्यणैषीत्पवित्रोऽयं, पवित्रामग्निसाक्षिकम् ॥८३॥

अन्वयार्थी—तत = इसके बाद, पवित्र = आदरणीय, अयम् = यह जीवन्धर, राज्ञा = दृढमित्र राजा के द्वारा, समर्पिताम् = प्रदान की हुई, पवित्राम् = सुन्दर और सदाचारिणी, कनकमालाख्याम् = कनकमाला नामक, कन्याम् = कन्या को, अग्निसाक्षिकम् = अग्नि की साक्षिपूर्वक, पर्यणैषीत् = व्याहता हुआ ॥८३॥

भावार्थ—इसके बाद जीवन्धरकुमार ने दृढमित्र राजा के द्वारा समर्पित, सुन्दर और सदाचारिणी कनकमाला कन्या को आर्षोक्त विधि से अग्नि की साक्षिपूर्वक वरण किया ॥८३॥

॥ इति सप्तमो लम्बः समाप्तः ॥



अथ अष्टमो लम्बः

अथ तत्करपीडान्ते ऽसक्तस्वान्तो ऽभवत्सुधीः ।
तीरस्थाः खलु जीवन्ति, न हि रागाब्धिगाहिनः ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सुधी = बुद्धिमान् (जीवन्धर) तत्करपीडान्ते = उस कनकमाला के साथ विवाह होने के बाद (तस्याम् = उसमें) असक्तस्वान्तः = आसक्तिरहित, अभवत् = हुये । नीति.—हि = निश्चय से, तीरस्था = रागरूपी समुद्र के किनारे पर स्थित मनुष्य, (तु = तो) जीवन्ति = जीवित रहते हैं । (किन्तु) रागाब्धिगाहिन = रागरूपी समुद्र के बीच में गोते खाने वाले मनुष्य, न जीवन्ति = जीवित नहीं रहते ॥१॥

भावार्थ.—कनकमाला के साथ विवाह हो चुकने पर जीवन्धर स्वामी उसमें अधिक आसक्त नहीं हुये । क्योंकि जैसे समुद्र के किनारे पर रहने वाला मनुष्य तो सकुशल रहता है, किन्तु समुद्र के बीच में गये हुये मनुष्यों की कुशल नहीं होती, उसी प्रकार अल्पराग करने वाले तो सुख पाते हैं, किन्तु अधिक राग करने वाले नहीं । इसीलिये जीवन्धर ने कनकमाला पर अधिक अनुराग नहीं किया ॥१॥

स्यालानां तत्र वात्सल्या–द्वात्सीत्सुचिरं सुधीः ।
वत्सलेषु च मोहः स्याद्, वात्सल्यं हि मनोहरम् ॥२॥

अन्वयार्थौ—सुधी = बुद्धिमान् जीवन्धर, स्यालानाम् = अपने सालो के, वात्सल्यात् = प्रेम से, तत्र = उस हेमामा नगरी में, सुचिरम् = बहुत समय तक, अवात्सीत् = रहे । नीति—हि = क्योंकि,

वत्सलेषु = प्रेमियो पर, मोह. = प्रेम, स्यात् एव = हो ही जाता है, (यतः = क्योंकि) वात्सल्यम् = प्रेमभाव, मनोहरम् = मन का आकर्षण करने वाला (भवति = होता है) ॥२॥

भावार्थः—जीवन्धर स्वामी के सालों ने उन पर बहुत प्रेम किया इसलिये वे उस हेमाभा नगरी में बहुत समय तक रहे। ठीक ही है, क्योंकि वात्सल्य एक ऐसा मनोमोहक गुण है कि जिससे प्रेमी जनों पर स्नेह स्वयमेव हो जाया करता है, यही कारण था जो जीवन्धर कुमार अपने सालों के प्रेमसूत्र में बँधकर बहुत समय तक वहां से नहीं जा सके ॥२॥

यापितोऽपि महाकाल—स्तस्य नोद्वेगमातनोत् ।
वत्सलैः सह सम्वासे, वत्सरो हि क्षणायते ॥३॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस जीवन्धर का, यापित. = बीता हुआ, अपि = भी, महाकालः = बहुत समय, तस्य = उस जीवन्धर के, उद्वेगम् = खेद को, न आतनोत् = नही करता हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, वत्सलैः सह = प्रेमियो के साथ, संवासे = रहने पर, वत्सर. = वर्ष, अपि = भी, क्षणायते = क्षण के समान हो जाता है ॥३॥

भावार्थ.—प्रेमी मित्रों के साथ रहने पर वर्षों जैसा समय भी क्षणमात्र के समान निकल जाता है, इसीलिये अपने प्रेमी सालों के साथ रहते रहते जीवन्धर का बहुत समय बीत गया, फिर भी उन्हें वहा लेशमात्र भी आकुलता नहीं हुई ॥३॥

कदाचित्कापि तत्प्रान्तं, समन्दस्मितमासदत् ।
नैसर्गिकं हि नारीणां, चेतःसम्मोहि चेष्टितम् ॥४॥

अन्वयार्थौ—कदाचित् = किसी समय, तत्प्रान्तम् = उस जीवन्धर के पास, का = कोई अपरिचित स्त्री, समन्दस्मित यथा

स्मितया = कुछ हँसी पूर्वक, आमदत् = आई । नीति —हि = क्योंकि, चेतःसमोहि = चित्त को मोहित करने वाली, चेष्टितम् = चेष्टा, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, नैसर्गिकम् = स्वाभाविक (एव = ही) विद्यते = रहा करता है ॥४॥

भावार्थ —एक समय जीवन्धर स्वामी जब एकान्त में बैठे थे, उस समय कोई एक अपरिचित स्त्री कुछ मुस्कराती हुई उनके पास आई । ठीक ही है, क्योंकि अन्य के चित्त को मोहित करने की चेष्टा (प्रयास) स्त्रियों के स्वभाव से ही होती है । इसीलिये उस स्त्री ने जीवन्धर के चित्त को लुभाने के लिये मन्द मन्द हँसी का प्रयोग किया ॥४॥

अप्राक्षीत्तां च साकूतां, किमायातेति सादरः ।
विवक्षालिङ्गितं हि स्यात्, प्रष्टुः प्रश्नकुतूहलम् ॥५॥

अन्वयार्थौ—सादरः = आदरसहित, कुमारः = जीवन्धर कुमार, साकूताम् = विशेष अभिप्राय से आई हुई, ताम् = उस स्त्री से, अप्राक्षीत् = पूछने लगे । [यत् = कि, त्वम् = तुम, अत्र = यहा] किम् = क्यों, आयाता = आई हो । नीतिः—हि = क्योंकि, प्रष्टुः = पूछने वाले का, प्रश्नकुतूहलम् = प्रश्न के विषय में कौतूहल, विवक्षालिङ्गितम् = कुछ कहने की इच्छा से युक्त, स्यात् = होता है ॥५॥

भावार्थः—उस स्त्री के समीप आने पर जीवन्धरकुमार ने कुछ विशेष अभिप्राय से उससे अपने यहा आने का कारण आदरपूर्वक पूछा । ठीक ही है, क्योंकि प्रश्नकर्त्ता कौतूहल वश जो प्रश्न करता है वह किसी न किसी विशेष प्रयोजन को लिये हुए अवश्य ही हुआ करता है ॥५॥

अत्र चायुधशालायां, चैकदैवाविशेषतः ।
स्वामिन्स्वामिनमद्राक्ष—मित्यसौ प्रत्यभाषत ॥६॥

अन्वयार्थौ—स्वामिन् = हे जीवन्धरकुमार, अत्र = यहा पर, च = और, आयुधशालायाम् = आयुधशाला में, एकदा = एक समय, एव = ही, स्वामिनम् = आपको, अद्राक्षम् = देख रही हूँ, इति = इस प्रकार, असौ = वह स्त्री, प्रत्यभाषत = उत्तर देती हुई ॥६॥

भावार्थ—उस स्त्री ने जीवन्धर कुमार को उत्तर दिया कि मैंने यहां और आयधुशाला (शस्त्रागार) में एक ही समय बिना किसी विशेषता के आपको देखा है ॥६॥

अतिमात्रं पवित्रोऽय—मचित्रीयत तच्छ्रुतेः ।
अयुक्तं खलु दृष्टं वा, श्रुतं वा विस्मयावहम् ॥७॥

अन्वयार्थौ—पवित्र. = विशुद्ध, अयम् = यह जीवन्धर, तच्छ्रुतेः = उस स्त्री के उत्तर के सुनने से, अतिमात्रम् = अत्यन्त, अचित्रीयत = आश्चर्य करने लगे। नीतिः—खलु = निश्चय से, दृष्टम् = देखी हुई, वा = और, श्रुतम् = सुनी हुई, अयुक्तम् = अनहोनी बात, विस्मयावहम् = आश्चर्यजनक (भवति होती है) ॥७॥

भावार्थः—किसी अनहोनी बात के देखने या सुनने से प्रायः सभी को आश्चर्य होता है । इसीलिये "मैंने यहां और शस्त्रागार में एक साथ आप को देखा है" इस प्रकार उस स्त्री से कहे गये अनहोने वचन को सुन कर जीवन्धर को भी बड़ा आश्चर्य हुआ ॥७॥

नन्दाढ्यः किमिहायात—इत्ययं पुनरौहत ।
संसारविषये सद्यः, स्वतो हि मनसो गतिः ॥८॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, अयम् = यह जीवन्धर, किम् = क्या, इह = यहा पर, नन्दाढ्यः = नन्दाढ्य, आयातः = आया है, इति = इस प्रकार, औहत = विचारने लगा। नीतिः—हि = निश्चय से, मनस = मन की, गतिः = प्रवृत्ति, संसारविषये = संसार के विषयों में, सद्यः =

शीघ्र, च = और, स्वत = अपने आप (एव = ही, भवेत् = हो जाती है) 'आयात इति' इत्यत्र 'भोभगो अघो०' इति सूत्रेण यकारे कृते तल्लोपे जात. ॥८॥

भावार्थः—उस स्त्री के वचन को सुनकर जीवन्धर ने सोचा कि हो न हो यहां नन्दाढ्य अवश्य आया है। ठीक ही है, क्योंकि संसार के विषयों में मन की प्रवृत्ति अपने आप ही हो जाती है। इसीलिये जीवन्धर का विचार अपने भाई नन्दाढ्य के आगमन की ओर अपने आप ही जा पहुँचा ॥८॥

प्रागेव तन्मनोवृत्तेः, प्रययौ तत्र तद्वपुः ।
आस्थायां हि विना, यत्नमस्ति वाक्कायचेष्टितम् ॥९॥

अन्वयार्थौ—तद्वपु.=जीवन्धरस्वामी का शरीर, तन्मनोवृत्ते = उन जीवन्धर की मनोवृत्ति के, प्राक् =पहिले, एव = ही, तत्र = उस आयुधशाला मे, एव = ही, प्रययौ = पहुँच गया। नीतिः—हि = निश्चय से, आस्थायाम् = प्रेम के (सत्याम् = होने पर) यत्न विना = कोशिश किये विना (एव = ही) वाक्कायचेष्टितम् = वचन और शरीर का व्यापार, अस्ति = हो जाता है। मनोवृत्ते. इति पञ्चम्या. रूपम् ॥९॥

भावार्थः—नन्दाढ्य के आगमन की सम्भावना का विचार होते ही जीवन्धरकुमार शस्त्रागार मे जा पहुंचे। ठीक ही है, क्योंकि कभी कभी विश्वास के होने पर कोशिश किये विना ही वचन और शरीर की प्रवृत्ति हो जाती है। इसीलिये विशेष ऊहापोह किये बिना ही जीवन्धर स्वयम् वहां पहुँच गए ॥९॥

गत्वा तत्र च नन्दाढ्यं, पश्यन्सम्मदसादभूत् ।
भ्रातु विलोकनं प्रीत्यै, विप्रयुक्तस्य किं पुनः ॥१०॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर) तत्र = वहा, गत्वा = जाकर, नन्दाढ्यम् = नन्दाढ्य को, पश्यन् = देखता हुआ, सम्मदसात् = अतिप्रसन्न,

अभूत् = हुये । नीतिः—हि = क्योंकि, भ्रातुः = भाई का, विलोकनम् = देखना (एव = ही) प्रीत्यै = प्रीति के लिये (भवति = होता है) पुन. = फिर (विप्रयुक्तस्य भ्रातुः = विछुड़े हुये भाई का) विलोकनम् = देखना, किम् = क्या (वक्तव्यम् = कहना है) ? ॥१०॥

भावार्थः—जब कि सामान्य रूप से भाई का मिलना ही प्रीतिजनक होता है तो फिर बहुत दिन के वियोगी भाई के मिलने पर भी अधिक प्रसन्नता क्यों न होगी ? अतएव बहुत समय से बिछुडे हुये अपने छोटे भाई नन्दाढ्य को देख कर जीवन्धर को भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥१०॥

अनुजोऽपि तमालोक्य, मुमुचे दुःखसागरात् ।
विस्मृतं हि चिरं भुक्तं, दुखंः स्यात्सुखलाभतः ॥११॥

अन्वयार्थौ—अनुज. = छोटा भाई, अपि = भी, तम् = उन जीवन्धर को, आलोक्य = देखकर, दु.खसागरात् = दु.खरूपी समुद्र से, मुमुचे = पार हो गया । नीतिः—हि = क्योंकि, चिरम् = बहुत समय तक, भुक्तम् = भोगा गया, दु खम् = दु ख, सुखलाभतः = सुख की प्राप्ति से, विस्मृतम् = विस्मृत, स्यात् = हो जाता है ॥११॥

भावार्थः—बहुत समय तक भोगा गया दु.ख भी सुख के मिलने पर विस्मृत हो जाता है, तदनुसार चिरकाल से विछुड़े हुये अपने बड़े भाई जीवन्धर के मिलने से नन्दाढ्य का भी महान् दुःख सुख में परिणत हो गया ॥११॥

कथमाया इति ज्याया–नन्वयुङ्क्त मिथोऽनुजम् ।
वञ्चनं चावमानं च, न हि प्राज्ञैः प्रकाश्यते ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(त्वम् = तुम, अत्र = यहां) कथम् = कैसे, आया. = आये, इति = इस प्रकार, मिथः = एकान्त में, ज्यायान् = बडे भाई जीवन्धर, अनुजम् = छोटे भाई नन्दाढ्य से, अन्वयुङ्क्त = पूछने लगे ।

नीतिः—हि = क्योंकि, प्राज्ञैः = बुद्धिमानों के द्वारा (स्वस्य = अपना) वञ्चनम् = ठगाया जाना, च = और, अवमानम् = अपमान, न प्रकाश्यते = प्रगट नही किया जाता ॥१२॥

भावार्थः—बुद्धिमान् मनुष्य अपनी वँचना (ठगाये जाने) और अपमान को अन्य से प्रगट नहीं करते, तदनुसार जीवन्धर ने भी नन्दाढ्य से "तुम यहां पर कैसे आये हो" इत्यादि बातें एकान्त मे ही पूछीं; जिससे कि पूर्व की घटना (राज्य से भ्रष्ट होना आदि) किसी अन्य को विदित न हो सके ॥१२॥

सखेदं ध्यातदुःखोऽय—माचख्यौ वृत्तिमात्मनः ।
ध्यातेऽपि हि पुरा दुःखे, भृशं दुःखायते जनः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—ध्यातदुःखः = पहिले अनुभव किये हुये दुःख को याद करता हुआ, अयम् = यह नन्दाढ्य (आत्मनः = अपने) वृत्तिम् = समाचार को (जीवकम् = जीवन्धर से) सखेदम् = खेदसहित, आचख्यौ = कहने लगा । नीतिः—हि = क्योंकि, पुरा = पूर्वकाल में, (भुक्ते = भोगे हुये) दुःखे = दुःख के, ध्याते = स्मरण होने पर, अपि = भी, जनः = मनुष्य, भृशम् = अत्यन्त = दुःखायते = दुखी होता है ॥१३॥

भावार्थः—पूर्वकाल मे भोगे हुये दुःख का स्मरण होने पर मनुष्य अत्यन्त दुःखी होने लगता है, तदनुसार वह नन्दाढ्य भी जीवन्धर के प्रश्न से पूर्व मे अनुभूत उनके वियोग जनित दुःख का स्मरण होने से खिन्न हुआ और उनसे अपना वृत्तान्त निम्नप्रकार कहने लगा ॥१३॥

पूज्यपाद ! तदास्माकं, पापाद्भवति निर्गते ।
मृतकल्पोऽप्यहं मर्तुं, सर्वथा समकल्पयम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—पूज्यपाद = हे पूज्यवर, तदा = उस समय, अस्माकम् = हमारे, पापात् = पाप से, भवति = आपके, निर्गते = चले

आने पर, मृतकल्पः = मरे हुये के समान, अपि = भी, अहम् = मैं, सर्वथा = बिलकुल, मर्तुम् = मरने को, समकल्पयम् = सङ्कल्प कर चुका था ॥१४॥

भावार्थः—हे पूज्यवर ! हमारे अशुभकर्म के निमित्त से जब आप राजपुरी से इधर चले आये थे, तब आपके वियोग के दुःख से मैंने अपने मरने का संकल्प कर लिया था ॥१४॥

विद्याविदितवृत्तान्ता, कथंवृत्ता प्रजावती ।
इत्यालोच्यैव संस्थाने, बोधो मे समजायत ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(किन्तु) विद्याविदितवृत्तान्ता = अपनी विद्या के प्रभाव से समस्त समाचार को जानने वाली, प्रजावती = भावज कथंवृत्ता = किस प्रकार (अस्ति = है) इति = इस प्रकार, आलोच्य = विचार कर, संस्थाने = योग्य समय में, मे = मेरे, बोधः = सुबुद्धि समजायत = उत्पन्न हुई ॥१५॥

भावार्थः—किन्तु अपनी 'अवलोकिनी नामक' विद्या के प्रभाव से आपके वियोगादि के सर्व समाचार को बिना कहे स्वयमेव जानने वाली भावज (आपकी धर्मपत्नी गन्धर्वदत्ता) को इस समय क्या हालत होगी ? इस बात के जानने को उस समय मेरे सुबुद्धि उत्पन्न हुई ॥१५॥

एवं भाविभवद्दृष्टि — शम्भरत्वादहं पुनः ।
प्रजावतीगृहं प्राप्य, सविषादमवास्थिषम् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—एवम् = और, भाविभवद्दृष्टिशम्भरत्वात् = भविष्य में होने वाले आपके दर्शन के सुख की आशा से, पुनः = पीछे (अहम् = मैं) प्रजावतीगृहम् = भावज के घर को, प्राप्य = जाकर (तत्र = वहां पर) सविषादम् = खेदपूर्वक, अवास्थिषम् = बैठ गया ॥१६॥

भावार्थ—इस प्रकार भविष्य में आपके शुभदर्शन के सुख की आशा से भी आत्मसमर्पण के हेतु समय टाल कर

में उनकी हालत जानने के लिये भावज गन्धर्वदत्ता के घर जाकर खेदपूर्वक वहां बैठ गया ॥१६॥

स्वामिनि स्वामिहीनानां, कुतः स्त्रीणां सुखासिका।
इति वक्तुमुपक्रान्ते, हृदयज्ञा तु साभ्यधात् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—स्वामिनि = हे पूज्य भावज, स्वामिहीनाम = पतिविहीन, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, सुखासिका = सुखपूर्वक स्थिति, कुत. = कैसे (स्यात् = हो सकती है) इति = इस प्रकार, वक्तुम् = कहने के लिये, उपक्रान्ते = प्रारम्भ करने पर (एव = ही) हृदयज्ञा = मन की बात, जानने वाली, सा = वह गन्धर्वदत्ता, अभ्यधात् = कहने लगी ॥१७॥

भावार्थ.—"हे भावज ! पतिविहीन स्त्री को सदा दुःख का ही अनुभव हुआ करता है-क्षण भर भी सुख नहीं मिलता। इस प्रकार जब मैं उसको सान्त्वना देने के लिये कुछ कहना प्रारम्भ ही करना चाहता था, उसी समय बिना कहे ही अपनी विद्या के बल से मेरे मन की बात जान कर भावज निम्नप्रकार कहने लगी ॥१७॥

अङ्ग ! किं खिद्यसे ज्याया—ननुपद्रव एव ते।
वयमेव महापापा, मग्नेदुःखाब्धि पातिताः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—अङ्ग = हे वत्स ! (त्वम् = तुम) किम् = क्यो, खिद्यसे = खेद करते हो, ते = तुम्हारे, ज्यायान् = बड़े भाई, अनुपद्रव = उपद्रवरहित, एव = ही (अस्ति = हैं, किन्तु) महापापा. = महापापी, वयम् = हम लोग, एव = ही, मग्नेदुःखाब्धि = दुःखरूपी समुद्र में, पातिता = गिराये गये हैं ॥१८॥

भावार्थ—हे वत्स ! तुम क्यों खेद करते हो ? तुम्हारे बड़े भाई सर्वथ सुखपूर्वक (प्रसन्न) हैं, हम लोग ही महान पापी हैं, जो उनके वियोग के असह्य दुःख का अनुभव कर रहे हैं।

प्रतिदेशं प्रतिग्रामं, प्रतिगृह्यैव मह्यते ।
विपच्च सम्पदे हि स्याद्, भाग्यं यदि पचेलिमम् ॥१९॥

अन्वयार्थौ—(सः = वे जीवन्धर) प्रतिदेशम् = प्रत्येक देश में, च = और, प्रतिग्रामम् = हरएक ग्राम में, प्रतिगृह्य = अगवानी पूर्वक स्वागतसहित, एव = ही, मह्यते = पूजे जाते हैं। नीति.—हि = क्योंकि, यदि = अगर, भाग्यम् = पुण्य, पचेलिमम् = फल देने के सम्मुख (स्यात् = हो, तर्हि = तो) विपत् = आपत्ति, च = भी, सम्पदे = सुख के लिये, स्यात् = हो जाती है ॥१९॥

भावार्थः—पुण्य का उदय होने पर विपत्ति भी सम्पत्ति (सुख) रूप परिणत हो जाती है, तदनुसार आपके बड़े भाई का भी इस समय पुण्य का उदय है, इसलिये उनको किसी प्रकार का दुःख नहीं है। वे जिस किसी गांव या देश में जाते हैं; सर्वत्र माने और पूजे जाते हैं ॥१९॥

द्रष्टुमिच्छसि चेद्वत्स, तं जनं तव पूर्वजम् ।
किं नु ताम्यसि गम्येत, क्व नु पापा हि भामिनी ॥२०॥

अन्वयार्थौ—वत्स = हे प्रिय, चेत् = यदि (त्वम् = तुम) तव = अपने, तम् = उस, पूर्वजं जनम् = बड़े भाई को, द्रष्टुम् = देखने को, इच्छसि = इच्छा करते हो (तर्हि = तो) किम् = क्यों, ताम्यसि = दुखी होते हो ? (त्वया = तेरे द्वारा) गम्येत = जाया जाना चाहिये। पापा = पापिनी, भामिनी = स्त्री, क्व = कहा पर, गच्छेत् = जा सकती है ? ॥२०॥

भावार्थः—हे देवर जी ! तुम्हारे बड़े भाई सर्वथा सुखी हैं; फिर भी यदि तुम उनका दर्शन करना चाहते हो तो खेद क्यों करते हो ? मैं अपनी विद्या के बल से उनके पास तुम्हें अभी पहुँचाये देती हूं। तुम तो पुरुष हो, इच्छानुसार सर्वत्र

जा सकते हो। पापिनी तो हम लोग ही हैं, जो अकेली कहीं ग्रामान्तर जाने का विचार भी नहीं कर सकतीं ॥२०॥

इत्युक्त्वा शाययित्वा च, शय्यायां साभिमन्त्रितम्।
मामत्रभवती चात्र, सपत्रं प्राहिणोदिति ॥२१॥

अन्वयार्थों—इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कहकर, अत्रभवती = पूज्य भावज, माम् = मुझको, शय्यायाम् = सेज पर, साभिमन्त्रितम् = मन्त्रपूर्वक, शाययित्वा = सुला कर, सपत्रम् = पत्रसहित, अत्र = यहा पर प्राहिणोत् = भेजती हुई ॥२१॥

भावार्थः—भावज गन्धर्वदत्ता ने इस प्रकार, सान्त्वना देकर और 'स्मरतरङ्गिणी' नामक एक शय्या पर, मंत्रपूर्वक सुला कर एक पत्र के साथ अपनी विद्या के बल से मुझे बात की बात मे यहां पहुँचा दिया ॥२१॥

अखिद्यत ततः स्वामी, सदयैरनुजोदितैः।
स्नेहपाशो हि जीवाना-मासंसारं न मुञ्चति ॥२२॥

अन्वयार्थों—ततः = इसके बाद, स्वामी = जीवन्धर, सदयैः = करुणाजनक, अनुजोदितैः = छोटे भाई नन्दाढ्य के वचनों से, अखिद्यत = दुखी हुये। नीति—हि = क्योंकि, जीवानाम् = प्राणियों का, स्नेहपाशः = प्रेमबन्धन, आससारम् = जब तक ससार रहता है तब तक, (तान् = उन प्राणियों को) न मुञ्चति = नही छोडता ॥२२॥

भावार्थः—प्राणी जब तक संसार मे वास करता है, तब तक उसका स्त्री आदिक से प्रेमबन्धन नहीं छूटता, इसीलिये अपने छोटे भाई नन्दाढ्य के करुणाजनक उक्त वचनों को सुन कर जीवन्धर भी कुछ दुखी हुये ॥२२॥

गुणमालाव्यथाशंसि, पत्रं चायमवाचयत्।
चतुराणां स्वकार्योक्तिः, स्वमुखान्न हि वर्तते ॥२३॥

अन्वयार्थो—अयम् = यह जीवन्धर (गन्धर्वदत्तालिखितम् = गन्धर्वदत्ता के द्वारा लिखे हुये) गुणमालाव्यथाशंसि = गुणमाला के विरहसम्बन्धी दुःख के सूचक, पत्रम् = पत्र को, च = भी, अवाचयत् = वांचता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, चतुराणाम् = बुद्धिमानो के, स्वकार्योक्ति: = अपने काम का कहना, स्वमुखात् = अपने मुख से, न वर्तते = नहीं होना ॥२३॥

भावार्थः—जीवन्धर ने गन्धर्वदत्ता के द्वारा लिखा हुआ पत्र भी पढ़ा। उसमे लिखा था कि हे स्वामिन्! गुणमाला निवेदन करती है कि हमे आपके वियोग का दुःख असह्य होरहा है. अतः शीघ्र दर्शन दीजिये इत्यादि। ठीक ही है, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष अपने अन्तरङ्ग अभिप्राय किसी दूसरेके वहाने से ही प्रगट किया करते है, अपनी मुख्यता से नहीं, अतएव गन्धर्वदत्ता ने गुणमाला के आश्रयसे वास्तवमें अपना ही दुःख सूचित किया था।

अन्यापदेशसन्देशात्, खेचर्यां खेदवानभूत् ।
विद्वेषः पक्षपातश्च, प्रतिपात्रं च भिद्यते ॥२४॥

अन्वयार्थो—(जीवन्धर) अन्यापदेशसंदेशात् = गुणमाला के वहाने से पत्र में लिखित समाचार से, खेचर्याम् = विद्याधरी गन्धर्वदत्ता के विषय में, खेदवान् = खिन्न, अभूत् = हुये। नीति—हि = क्योंकि, विद्वेषः = द्वेषभाव, च = और, पक्षपातः = प्रेम, प्रतिपात्रम् = प्रत्येक वस्तु में, भिद्यते = अलग अलग होता है ॥२४॥

भावार्थ—मनुष्य का द्वेष और प्रेम प्रत्येक वस्तु मे भिन्न भिन्न ही हुआ करता है। इसी कारण गुणमाला के वहाने से पत्र मे लिखित पूर्वोक्त सदेश से जीवन्धर को गन्धर्वदत्ता के विषय मे ही अधिक खेद हुआ। क्योंकि उस पर ही उनका अधिक प्रेम था ॥२४॥

प्रियाशोकश्रुते जातः, शोकोऽप्येतस्य नास्फुरत् ।
न हि प्रसादखेदाभ्यां, विक्रियन्ते विवेकिनः ॥२५॥

अन्वयार्थो—प्रियाशोकश्रुते.=गन्धर्वदत्ता के दुःख के सुनने से, एतस्य = इस जीवन्धर के, जात = उत्पन्न हुआ, शोक. = शोक, अपि = भी, न अस्फुरत् = प्रगट नहीं हुआ । नीति —हि= क्योंकि, विवेकिन. = विवेकी जन, प्रसादखेदाभ्याम् = हर्ष और विषाद से, न विक्रियन्ते = विकार को प्राप्त नहीं होते ॥२५॥

भावार्थ.—विवेकी जन हर्ष और विषाद के कारणों से हर्ष तथा विषाद नहीं करते । इसी कारण विवेकी जीवन्धर ने भी गन्धर्वदत्ता के दु.ख के परिज्ञान से उत्पन्न हुये शोक (रञ्ज) को बाह्य में प्रगट नहीं होने दिया ॥२५॥

वैवाहिकगृहस्थाश्च, ह्यातस्थुरनुजं भृशम् ।
बन्धो बंन्धौ च बन्धो हि, बन्धुता चेदवञ्चिता ॥२६॥

अन्वयार्थौ—वैवाहिकगृहस्था = जीवन्धर की ससुराल के मनुष्य, अपि = भी, अनुजम् = जीवन्धर के छोटे भाई नन्दाढ्य को, भृशम् = अत्यन्त, आतस्थुः = घेर गये । नीति.—हि= क्योकि, चेत् = यदि, अवञ्चिता = निष्कपट, बन्धुता = बन्धुपना-हितैषिता (स्यात् = हो, तर्हि = तो) बन्धो.=सम्बन्धी के, बन्धौ=सम्बन्धी में (अपि = भी) बन्ध = प्रेम, स्यात्=हो जाता है ॥२६॥

भावार्थ.—जिस सम्बन्धी पर मनुष्य का अकृत्रिम (निष्कपट) प्रेम होता है, उस सम्बन्धी के सम्बन्धी पर भी उसका प्रेम अवश्य हो जाता है । इसी कारण जीवन्धर पर उनके सम्बन्धियों का जिस प्रकार सच्चा प्रेम था, उसी प्रकार उन्होंने जीवन्धर के सम्बन्धी उनके भाई पर भी अधिक प्रेम किया ॥२६॥

अवस्कन्दाद् गवां गोपा, अथाक्रोशन्नृपाङ्गणे ।
पीडायां तु भृशं जीवा, अपेक्षन्ते हि रक्षकान् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गोपाः = बहुत से ग्वाल, गवाम् = अपनी गायो के, अवस्कन्दात् = पकड़े जाने से (आगत्य = आकर) नृपाङ्गणे = राजभवन के सामने के मैदान में, आक्रोशन् = रोने चिल्लाने लगे । नीति —हि = क्योंकि, भृशम् = अत्यन्त, पीडायाम् = दुःख के आने पर, जीवा = प्राणी, रक्षकान् = रक्षको को, अपेक्षन्ते एव = तलाशते ही हैं ॥२७॥

भावार्थः—एक समय कुछ ग्वाल चोरों के द्वारा अपनी गायों के पकड़े जाने से राजमहल के सामने के मैदान में आकर रोने चिल्लाने लगे । क्योंकि प्राणियों पर जब असह्य आपत्ति आ जाती है, तब वे अपने रक्षकों को याद किया करते हैं । इसीलिये ग्वालों ने अपने सर्वस्व गोधन के हरणरूप महती आपत्ति के आने पर अपने प्रतिपालक राजा की शरण ली ॥२७॥

सानुक्रोशं तदाक्रोशं, क्षमाधीशो न चक्षमे ।
पातापायान्न चेत्पायात्, कुतो लोकव्यवस्थितिः ॥२८॥

अन्वयार्थौ—क्षमाधीश = दृढमित्र राजा, सानुक्रोशम् = करुणाजनक, तदाक्रोशम् = उन ग्वालों के रुदन को, न चक्षमे = सहन नही कर सका । (यत. = क्योंकि) चेत् = यदि (राजा) पातापायात् = अध पतन से होने वाले विनाश से, न पायात् = रक्षा नहीं करे (तर्हि = तो) लोकव्यवस्थितिः = ससार की स्थिति (एव = ही) कुत. = कैसे, (स्यात् = रह सकती है) ॥२८॥

भावार्थ.—वह दृढ़मित्र राजा उन ग्वालों के करुणाजनक रुदन को नहीं सह सका । क्योंकि यदि राजा अपनी प्यारी प्रजा की आपत्ति से रक्षा नहीं करे; तो फिर लोक का व्यवहार

ही कैसे चल सकेगा ? इसी कारण राजा ने उन ग्वालों की उस असह्य आपत्ति की उपेक्षा न कर चोरों को पकड़ कर गायों के वापिस कराने का संकल्प किया ॥२८॥

स्वामी श्वशुररुद्धो ऽपि, गोमोचनकृते ययौ ।
पराभवो न सोढव्यो-ऽशक्तैः शक्तैस्तुः किं पुनः ॥२९॥

अन्वयार्थौ—श्वशुररुद्धः = ससुर के द्वारा रोके गये, अपि = भी, स्वामी = जीवन्धर, गोमोचनकृते = गायों को छुड़ाने के लिये, ययौ = गये । नीति.—हि = क्योंकि, पराभवः = तिरस्कार, अशक्तै = असमर्थ जनो के द्वारा (अपि = भी) न सोढव्य = सहन नहीं किया जाता, तु = तो, पुनः = फिर, शक्तैः = समर्थ पुरुषो के द्वारा, किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥२९॥

भावार्थः—इतने मे ही जीवन्धर स्वामी गायों के हरण का समाचार सुन कर अपने ससुर के रोकने पर भी चोरों से गायें छुड़ाने के लिये चल दिये । ठीक ही है, क्योंकि अपने तिरस्कार को असमर्थ जन भी सहन नहीं करते, तो फिर समर्थ पुरुष तो सहन करेंगे ही क्यों ? इसी कारण गोहरण करके राज्यशासन की अवहेलना करने और राजा की परवाह न करने रूप अपने ससुर के अपमान को समर्थ जीवन्धर भी नहीं सह सके ॥२६॥

दस्यवो ऽपि गवां तत्र, मित्राण्येवाभवन्विभोः ।
एधोगवेषिभि र्भाग्ये, रत्नं चापि हि लभ्यते ॥३०॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहा पर, गवाम् = गायो के, दस्यवः = चोर, अपि = भी, विभो. = जीवन्धर स्वामी के, मित्राणि = मित्र, एव = ही, अभवन् = थे । नीति.—हि = क्योंकि, भाग्ये सति = भाग्य के होने पर, एधोगवेषिभिः = लकड़हारों के द्वारा, रत्नम् = रत्न, च = भी, लभ्यते = प्राप्त किया जाता है ।

'लभ्यते' इत्यत्र कर्मणि लट् लकार । एधम् शब्दस्य रूपाणि पयस्-शब्दवत् भवन्ति ॥३०॥

भावार्थ.—उस वन में गायों के चोर भी जीवन्धर स्वामी के मित्र ही थे, जो चोरों के बहाने से इनके पास आये हुये थे। ठीक ही है, क्योंकि सौभाग्य के होने पर कभी लकड़हारे को रत्न भी मिल जाता है। तदनुसार जीवन्धर का भी भाग्य अच्छा था, जिससे चोर (वास्तव में बनावटी चोर) भी उनके मित्र ही निकले ॥३०॥

समोऽभूत्स्वामिमित्रेषु, स्नेहश्चान्योन्यवीक्षणात् ।
एककोटिगतस्नेहो, जडानां खलु चेष्टितम् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—अन्योन्यवीक्षणात् = परस्पर एक दूसरे के देखने से, स्वामिमित्रेषु = जीवन्धर स्वामी और उनके इन मित्रो में, सम.= समान, स्नेह = प्रेम, अभूत्=हुआ । नीति.—हि=क्योंकि, एककोटिगत-स्नेह = एकपक्ष में प्रेम का रहना, जडानाम् = मूर्खों का, चेष्टितम् = काम (अस्ति = है) ॥३१॥

भावार्थ:—जीवन्धर स्वामी और उनके इन मित्रों में परस्पर एक दूसरे के देखने से एक सरीखा ही प्रेम हुआ। क्योंकि एकाङ्गी प्रीति मूर्ख ही करते हैं, बुद्धिमान् नहीं। इसीलिये उन विवेकियों का प्रेम दोनों (मित्र और स्वामी) में समान ही रहा, हीनाधिक नहीं ॥३१॥

जामातरि चमत्कारो, राज्ञोऽभून्मित्रवीक्षणात् ।
कृतिनोऽपि न गण्या हि, वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥३२॥

अन्वयार्थौ—मित्रवीक्षणात्=जीवन्धर के मित्रों के देखने से, जामातरि=अपने दामाद जीवन्धर के विषय में, राज्ञ =दृढमित्र राजा के, चमत्कार:=अत्यन्त आश्चर्य, अभूत् = हुआ । नीति'—हि = क्योंकि,

कृतिन = भाग्यशाली महापुरुष, वीतस्फीतपरिच्छदाः = समृद्धि और परिवार रहित (अपि = भी) न गण्याः = नहीं समझे जाना चाहिये। वीतोनष्ट:, स्फीत:समृद्ध:, परिच्छद:परिवारो येषान्ते वीतस्फीतपरिच्छदा:।

भावार्थः—स्वामी के मित्रों को देखने से अपने जमाई (दामाद) जीवन्धर के विषय में दृढ़मित्र राजा को महान् आश्चर्य हुआ। ठीक ही है, क्योंकि भाग्यशाली मनुष्यों को किसी भी अवस्था में समृद्धि और परिवार आदि से रहित नहीं समझना चाहिये। प्रकृत में यद्यपि महापुरुष जीवन्धर का परिवार विशाल और ऐश्वर्य भी अपरिमित था, परन्तु इसका परिज्ञान राजा दृढमित्र को पहिले कभी भी नहीं हो सका। अतएव इस समय जीवन्धर के मित्रों को देख उसके ऐश्वर्य का अनुमान कर उन्हें विशेष आश्चर्य हुआ ॥३२॥

समित्रावरजोऽहृष्य—दतिमात्र—मसौ कृती ।
एकेच्छानामतुच्छानां, न ह्यन्यत्सङ्गमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—समित्रावरज = मित्रों और छोटे भाई सहित, कृती = विद्वान्, असौ = यह जीवन्धर (अपि = भी) अतिमात्रम् = अत्यन्त, अहृष्यत् = आनन्दित हुआ। नीति—हि = क्योंकि, एकेच्छानाम् = समान विचार वाले, अतुच्छानाम् = महाजनों के, सङ्गमात् = सत्संगति से, अन्यत् = भिन्न कोई दूसरा, सुखम् = उत्तम सुख (न भवति = नहीं होता)

भावार्थः—समान विचार वाले मित्रों की संगति से महापुरुषों को सर्वाधिक प्रसन्नता होती है, इसी कारण समान अवस्था और विचार वाले भाई और मित्रों के मिलने से जीवन्धर के भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥३३॥

अयथापुरसम्मानात्, समशेत सखीनसौ ।
विशेते हि विशेषज्ञो, विशेषाकारवीक्षणात् ॥३४॥

अन्वयार्थौ—असौ=यह जीवन्धर (मित्रकृतम्=मित्रों के द्वारा किये हुये, स्वस्य=अपने) अयथापुरसमानात्=अपूर्व सत्कार से सखीन् प्रति=मित्रों के प्रति, समशेत=सन्देह करने लगे। नीतिः—हि=क्योंकि, विशेषज्ञः=विशेष का जानने वाला बुद्धिमान्, विशेषाकार-वीक्षणात्=विशेषताओं के देखने से, विशंते=सन्देह करने लगता है।

भावार्थः—मित्रों के द्वारा, अपना अपूर्व आदर किये जाने से जीवन्धर स्वामी "क्या हमारी क्षत्रियता इन्होंने जान ली, अथवा इस आदर में अन्य भी कोई रहस्य है इत्यादि" सन्देह करने लगे। ठीक ही है, क्योंकि विद्वान मनुष्य नवीन विशेषताओं को देखने से उनमें सन्देह करने लगते हैं। इसी कारण जीवन्धर को अपना विशेष सत्कार देखने से सन्देह हुआ ॥३४॥

रहस्येव वयस्येषु, तन्निदानमचोदयत् ।
एककण्ठेषु जाता हि, वन्धुता ह्यवतिष्ठते ॥३५॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर) तन्निदानम्=उस अपूर्व सत्कार के कारण को, रहसि=एकान्त में, एव=ही, वयस्येषु=मित्रमंडली में, अचोदयत्=पूछने लगे। नीतिः—हि=क्योंकि, एककण्ठेषु=समान प्रेमियो में, जाता=उत्पन्न हुई, वन्धुता=मित्रता, हि=निश्चय से, अवतिष्ठते=स्थिर रहती है ॥३५॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धर ने एकान्त स्थान में अपनी मित्र-मण्डली में उनके द्वारा किये गये अपने अपूर्व सत्कार का कारण पूछा। ठीक ही है, क्योंकि समान प्रेम करने वालों में ही मित्रता स्थिर रहा करती है। इसी कारण बहुत समय तक परस्पर वियोग रहने पर भी स्वामी और उनके मित्रों की मित्रता मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ था ॥३५॥

मुख्यं सख्यं गतस्तेषा—माचख्यौ पङ्कजाननः ।
सज्जनानां हि शैलीयं, सक्रमारम्भशालिता ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तेषा मध्ये = उन मित्रो में, मुख्यम् = प्रधान, सख्यम् = मित्रता को, गत. = प्राप्त, पङ्कजानन = पद्मास्य नामक मित्र, आचख्यौ = बोला, नीति —हि = क्योंकि, सक्रमारम्भशालिता = क्रमपूर्वक कार्य का प्रारम्भ करना, इयम् = यह, सज्जनानाम् = सज्जन पुरुषो की, शैली = पद्धति (अस्ति = है) ॥३६॥

भावार्थ—क्रमपूर्वक कार्य करना महापुरुषों की शैली (रीति) होती है, इस बात का लक्ष्य रखते हुये जीवन्धर के मित्रों में प्रधान पद्मास्य ने उनको निम्नप्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥३६॥

स्वामिन्स्वामिवियोगेऽपि, युक्ता दग्धासुभिर्वयम् ।
अस्तोकभाविभाग्येन, हस्तग्राहं ग्रहादिव ॥३७॥

अन्वयार्थौ—हे स्वामिन्, स्वामिवियोगे = आपका वियोग होने पर, दग्धासुभि = जले हुये प्राणो से, युक्ता: = सहित, वयम् = हम सब, अस्तोकभाविभाग्येन = भविष्य में होने वाले आपके दर्शनरूप अधिक सौभाग्य से, हस्तग्राहम् = हाथ पकड कर, ग्रहात् = रोकने से, इव=ही (अजीवाम=जीवित रहे) ॥३७॥

भावार्थः—हे स्वामिन् ! उस समय आपके चले आने पर हम लोग सर्वथा मृततुल्य हो चुके थे, किन्तु भविष्य में होने वाले आपके शुभदर्शनरूपी सौभाग्य की आशासे हीजीवित रहे।

साश्वासास्ततो देव्या, दत्तहस्तावलम्बनाः ।
प्रास्थिष्महि धुरं प्राप्ता—वयमश्वीयपाणिनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—तत = फिर, देव्या = देवी गन्धर्वदत्ता के द्वारा, दत्तहस्तावलम्बना. = सहारे को प्राप्त, च = और, साश्वासा. = आश्वासन

सहित, वयम् = हम सब, अश्वीयपाणिनाम् = घोड़ो के वेचने वालो के, धुरम् = वेप को, प्राप्ता = प्राप्त होते हुये (ततः = वहां से) प्रास्थिष्महि = रवाना हुये ॥३८॥

भावार्थः—इसके वाद देवी गन्धर्वदत्ता ने जब अपनी विद्या के वल से आपका शुभ सन्देश सुनाते हुये हमें आश्वासन और आपका पता दिया, तव हम लोग आपके शुभदर्शन की इच्छा से घोडे वेचने वालों का वेष वना कर यहां आये हैं ।

अतिलङ्घ्य ततोऽध्वान — मध्वश्रमविहानये ।
दण्डकारण्यविख्यातं, तापसाश्रममाश्रिताः ॥३९॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके वाद (वयम् = हम सब, अधिकम् = अधिक) अध्वानम् = मार्ग को, अतिलङ्घ्य = तय कर, अध्वश्रमविहानये = मार्ग की थकावट दूर करने के लिये, दण्डकारण्यविख्यातम् = दण्डक वन में प्रसिद्ध (एकम् = एक) तापसाश्रमम् = तपस्वियो के आश्रम को, आश्रिताः = पहुँचे ॥३९॥

भावार्थः—हम लोग राजपुरी से रवाना होकर वहुत सा मार्ग तय कर मार्गजन्य थकावट दूर करने के लिये दण्डक वन में प्रसिद्ध तपस्वियों के एक आश्रम मे पहुँचे ॥३९॥

दर्शंदर्शं ततो दृश्यं, विहरन्तोऽत्र विश्वतः ।
अपश्याम क्वचित्काञ्चित्, पुण्यतः पुण्यमातरम् ॥४०॥

अन्वयार्थौ—अत्र = यहा पर, दृश्यम् = दर्शननीय वस्तुओं को दर्शंदर्शम् = देख देखकर, विश्वतः = चारो ओर, विहरन्तः = घूमते हुये (वयम् = हम लोग) पुण्यतः = पुण्योदय से, काञ्चित् = किसी, पुण्यमातरम् = पवित्र माता को, अपश्याम = देखते हुये ॥४०॥

भावार्थः—उस दण्डक वन मे चारों ओर मनोहर दृश्यों (देखने योग्य वस्तुओं) को वार वार देख कर घूमते हुये

हम लोगों ने वहां किसी स्थान पर अपने पुण्योदय से एक पूज्य माता को देखा ॥४०॥

तन्मात्रा दृष्टमात्रेण, कुत्रत्या इति चोदिताः ।
वयमप्युत्तरं वक्तु-मुपक्रम्य, यथाक्रमम् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—तन्मात्रा = उस माता के द्वारा, दृष्टमात्रेण = देखने मात्र से, यूयम् = तुम लोग, कुत्रत्याः = कहा से आये, इति = इस प्रकार, चोदिताः = पूछे गये, वयम् = हम लोग, अपि = भी, यथाक्रमम् = क्रम पूर्वक, उत्तरम् = उत्तर को, वक्तुम् = कहने को, उपक्रम्य = प्रारम्भ करके (इति = वक्ष्यमाण प्रकार, अवोचाम = कहने लगे) ॥४१॥

भावार्थः—उस पूज्य माता ने हम लोगों को देखते ही जब पूछा कि "तुम लोग कहां से आये हो।" तब हम लोगों ने भी उन्हें क्रम से निम्नप्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥४१॥

अस्ति राजपुरे कश्चिद्, विबुधानामपश्चिमः ।
विशां च जीवकाख्योऽय-मेतं जीवातुका वयम् ॥४२॥

अन्वयार्थौ—राजपुरे = राजपुरी नगरी में, विबुधानाम् = विद्वानो का, च = और, विशाम् = वैश्यो का, अपश्चिम = प्रधान, कश्चित् = कोई, अयम् = यह प्रसिद्ध, जीवकाख्य = जीवन्धरनामक महापुरुष (अस्ति = है) च = और, वयम् = हम सब, एतम् = इस जीवन्धर को, जीवातुका = अनुकरण करने वाले मित्र या नोकर (स्म. = हैं) ॥४२॥

भावार्थ—हे माता ! राजपुरी नगरी मे विद्वानों और वैश्यों मे प्रधान एक जीवन्धर नामक महापुरुष हैं। हम लोग उसी महापुरुष के अनुजीवी (नौकर चाकर) हैं ॥४२॥

काष्ठाङ्गाराह्वयः कोऽपि, कोपादेनमनेनसम् ।
हन्तुं किलेत्यवोचाम, मूर्छिता सा च पेतुषी ॥४३॥

अन्वयार्थौ—(तत्र = उस नगरीमें) काष्ठाङ्गाराह्वयः = काष्ठाङ्गार

नामक, क:=कोई दुष्ट राजा, अनेनसम्=निरपराध, अपि=भी, एनम् इस जीवन्धर को, कोपात्=क्रोध से, हन्तुम्=मारने को, किल = बस, इति=इतना ही (वयम्=हम लोग) अवोचाम=कहने पाये थे (यत्=कि) सा=वह माता, मूर्च्छिता = मूर्च्छित (सती=होती हुई) पेतुषी=गिर पडी ॥४३॥

भावार्थः—उसी राजपुरी नगरी में एक काष्ठाङ्गार नामक दुष्ट राजा है 'उसने क्रोध से किसी समय निरपराध भी इस जीवन्धर को इसके पराक्रम से जलकर मारनेके लिये........" मेरा इतना अधूरा वाक्य ही सुनकर वह माता मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी ॥४३॥

हन्त हन्त हतो नाय—मम्बेत्यभिहिता मया।
पिहितासुप्रयाणा सा, प्रालपल्लब्धचेतना ॥४४॥

अन्वयार्थौ—हन्त हन्त=हाय हाय, अम्ब=हे माता, अयम्=ये जीवन्धर, न हतः=मारे नहीं गये, इति=इस प्रकार, मया=मुझसे, अभिहिता=कही गई (अतएव=इसलिये) पिहितासुप्रयाणा=रुक गया है प्राणों का निकलना जिसका ऐसी, च=और, लब्धचेतना=सचेत हुई, सा = वह माता, प्रालपत् = विलाप करने लगी ॥४४॥

भावार्थः—जब हम लोगों ने कहा कि "हे माता आप रंज न कीजिये, वे जीवन्धर मारे नहीं गये हैं" तब वे कठिनाई से जीवित रह सकीं, तो भी सचेत होकर विलाप करने लगीं ॥४४॥

अम्भोदालीव दम्भोली—ममृतं च मुमोच सा।
देवी समं प्रलापेन, देवोदन्तमिदन्तया ॥४५॥

अन्वयार्थौ—दम्भोलीम् = बिजली को, च = और, अमृतम् = जल को, अम्भोदाली इव = मेघपंक्ति के समान, सा = वह, देवी = माता, प्रलापेन समम् = विलाप के साथ, इदन्तया = स्पष्टरीति से,

देवोदन्तम् = आपके वृत्तान्त को, च = और, अमृतम् = अस्रु जल को (अपि = भी) मुमोच = छोडती हुई ॥४५॥

भावार्थः—जिस प्रकार मेघमाला जलवृष्टि के साथ साथ कभी बिजली को भी गिराती है, उसी प्रकार उस पुण्य-मूर्ति देवी ने भी अश्रुजल की धारा छोड़ते हुए आपका चरित्र सुनाना प्रारम्भ किया ॥४५॥

तन्मुखात्खादिवोत्पन्नां, रत्नवृष्टिं तवोन्नतिम् ।
उपलभ्य वयं लब्धा—ममन्यामहि तन्महीम् ॥४६॥

अन्वयार्थो—खात् = आकाश से, उत्पन्नाम् = वरसती हुई, रत्नवृष्टिम् इव = रत्नों की वर्षा के समान, तन्मुखात् = उस माता के मुख से, तव = तुम्हारी, उन्नतिम् = उन्नति को, उपलभ्य = सुन कर, वयम् = हम सब, तन्महीम् = अपनी उस पृथ्वी को (पुनः = फिर से) लब्धाम् = प्राप्त की हुई, अमन्यामहि = मानते हुये ॥४६॥

भावार्थः—उस माता के श्रीमुख से उन्नति-सूचक आपके आद्योपान्त वृत्तान्त को सुनकर उसे आकाश से बरसती हुई रत्नवृष्टि के समान आदरणीय मानते हुये हम लोगों ने उसी समय निश्चय कर लिया कि अपना राज्य आपको निश्चय से ही वापिस मिल जावेगा ॥४६॥

देववैभवसंकीर्त्या, ततो देवीं पुनः पुनः ।
आश्वास्यापृच्छ्य तद्देशा—दिमं देशं गता इति ॥४७॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके वाद, वयम् = हम सब, देववैभव-संकीर्त्या = आपके वैभव के वर्णन से, ताम् = उस, देवीम् = माता को, पुनः पुनः = वार वार, आश्वास्य = धैर्य बंधाकर (च = और) आपृच्छ्य = पूछ कर, तद्देशात् = उस स्थान से, इमम् = इस, देशम् = स्थान को, गताः = प्राप्त हुये हैं ॥४७॥

भावार्थ—इसके बाद हम लोगों ने आपके वैभव का वर्णन कर उस माता को धैर्य बंधाया और फिर उससे पूछ कर वहां से प्रस्थान कर यहां आये हैं ॥४७॥

मातु र्जीवन्मृतिज्ञानात्, तत्त्वज्ञः सोऽप्यखिद्यत ।
जीवानां जननीस्नेहो, न ह्यन्यैः प्रतिहन्यते ॥४८॥

अन्वयार्थौ—तत्त्वज्ञ = तत्त्वज्ञानी, सः = वह जीवन्धर, अपि = भी, मातु = माता के, जीवन्मृतिज्ञानात् = जीते हुये भी मरने के ज्ञान से, अखिद्यत = खिन्न हुआ। नीतिः - हि = निश्चय से, जीवानाम् = प्राणियो का, जननीस्नेह. = मातृविषयिक स्नेह, अन्यै. = दूसरो से, न प्रतिहन्यते = नष्ट नही किया जा सकता ॥४८॥

भावार्थः—जीवन्धर को यही निश्चय था कि हमारी माता स्वर्गस्थ हो चुकी हैं। इसलिये वे, अपने मित्रों से उनके जीवित रहने का समाचार जान कर अपने अज्ञान पर दुखी हुये। क्योंकि प्राणियों का मातृविषयिक प्रेम किसी से भी नष्ट नहीं किया जा सकता। तदनुसार उस समय जीवन्धर का भी मातृप्रेम उमड़ उठा, इसलिये वे अपने ज्ञान पर खेद करने लगे, कि हाय मैंने जीवित रहते हुये भी अपनी माताको मृत क्यों समझा।

अत्वरिष्ट च तां द्रष्टुं, कौरवो गुरुगौरवः ।
अम्बामदृष्टपूर्वां च, द्रष्टुं को नाम नेच्छति ॥४९॥

अन्वयार्थौ—गुरुगौरवः = गुरुभक्त, कौरवः = कुरुवंशी जीवन्धर ने, ताम् = पूर्व में नही देखी हुई उस माता को, द्रष्टुम् = देखने के लिये, च = भी, अत्वरिष्ट = अतिशीघ्रता की। नीति.—हि = क्योंकि, अदृष्टपूर्वाम् = पूर्व में नहीं देखी हुई, च = भी, अम्बाम् = माता को, द्रष्टुम् = देखने के लिये, कः नाम = कौन विचारशील, न इच्छति = इच्छा नही किया करता ? अपि तु सर्वे इच्छन्ति ॥४९॥

भावार्थ—उस समय अपनी माता का समाचार मिलने पर जीवन्धरकुमार को केवल मातृस्नेह ही जागृत नहीं हुआ, किन्तु वे उसके दर्शन करने के लिये उत्सुक होकर अतिशीघ्रता भी करने लगे। ठीक है; क्योंकि विवेकी जन हमेशा ही अपनी पुण्य जननी के दर्शन के लिये उत्सुक रहा करते हैं; फिर यदि उसे पूर्व में कभी न देखा हो; तब तो उनकी उस उत्सुकता का कहना ही क्या है ? यही कारण था जो जीवन्धरकुमार अपनी उस पवित्र माता को देखने के लिये एकदम उत्कण्ठित होकर शीघ्रता करने लगे। क्योंकि वे जन्म के पश्चात् उसे देखने ही नहीं पाये थे कि उन्हें उससे अलग हो जाना पड़ा था ॥४६॥

व्यस्मारि मातरि स्नेहा--न्मान्येनान्यदशेषतः ।
रागद्वेषादि तेनैव, बलिष्ठेन हि बाध्यते ॥५०॥

अन्वयार्थौ—मान्यनेन = माननीय जीवन्धर ने, मातरि = माता के विषय में, स्नेहात् = स्नेह से, अन्यत् = अन्य सब कार्य, अशेषत. = बिलकुल, व्यस्मारि = भुला दिया। नीति --हि = क्योंकि, बलिष्ठेन = अतिशय बलवान् , तेन = उस स्नेह से (एव = ही) रागद्वेषादि = राग और द्वेष आदिक, बाध्यते = बाधे जाते हैं ॥५०॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार को माता के विषय मे इतना अधिक स्नेह हुआ कि जिससे वे और बाकी सब कुछ कार्य या बात भूल गये। ठीक ही है, क्योंकि किसी वस्तु मे अतिशय अनुराग से अन्य अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष और इष्ट वस्तुओं में प्रेम उतने समय को शिथिल हो जाता है, इसी कारण जीवन्धर भी अतिशय मातृ-प्रेम से अन्य परिचित और आवश्यक वस्तुओं, मनुष्यों तथा कार्यों को भूल गये। उस समय उनके एक मातृ-दर्शन की ही तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई ॥५०॥

अन्वजिज्ञपदात्मीयां, गतिं भार्यां परानपि ।
आवश्यकेऽपि वन्धूनां, प्रातिकूल्यं हि शल्यकृत् ॥५१॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धरकुमार) आत्मीयाम्=अपने, गतिम् = गमन करने के समाचार को, भार्याम्=अपनी स्त्री को (च = और) परान् = अन्यजनों को, अपि = भी, अन्वजिज्ञपत् = सूचित करते हुये । नीति —हि=क्योंकि, आवश्यके = आवश्यक कार्य में, अपि = भी, वन्धूनाम् = वन्धुजनो की, प्रातिकूल्यम् =प्रतिकूलता, शल्यकृत्=असह्य दुःखजनक (जायते=हो जाती है) ॥५१॥

भावार्थः—जीवन्धर कुमार ने अपने गमन करने का समाचार अपनी धर्मपत्नी कनकमाला तथा अन्य सब सम्बन्धियों से भी कह दिया, क्योंकि आवश्यक कार्य मे भी बन्धुजनों की प्रतिकूलता (नाराजी) कभी कभी असह्य दुःखजनक हो जाती है, इसलिये जीवन्धर ने अपने गमन के विषय में अपने प्रेमी जनों की भी सम्मति ले ली ॥५१॥

अनुनीयानुगान्वन्धून्, प्रसभं प्रययौ ततः ।
अनुनयो हि माहात्म्यं, महतामुपबृंहयेत् ॥५२॥

अन्वयार्थौ – (जीवन्धर) अनुगान् = साथ चलने वाले, वन्धून् = अपने साले आदि को, अनुनीय = विनयपूर्वक वापिस करके, ततः =उस हेमाभा नगरी से, प्रसभम्=शीघ्र, प्रययौ=रवाना हो गये । नीति.—हि=क्योंकि, अनुनय =विनीतभाव-विनयप्रदर्शन, महताम् = महापुरुषो के, माहात्म्यम्=महत्त्व को, एव=ही, उपबृंहयेत्=बढाता है ।

भावार्थः—उन जीवन्धरकुमार ने पहुँचाने के लिये अपने पीछे चलने वाले साले आदि सम्बन्धि—जनों को यथा-योग्य विनय के साथ वापिस कर उस हेमाभापुरी से शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया । ठीक ही है, क्योंकि विनीत-भाव से महा-

पुरुषों की महिमा और भी अधिक बढ़ जाती है। तदनुसार इस नम्रता से जीवन्धर की महिमा पहिले से भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हुई, लोग उनकी अधिक अधिक प्रशंसा करने लगे ॥५२॥

प्रसवित्रीं ततः प्रेक्ष्य, प्रेमान्धोऽभूदवन्ध्यधीः।
तत्त्वज्ञानतिरोभावे, रागादि हि निरङ्कुशम् ॥५३॥

अन्वयार्थों—तत = इसके बाद, अवन्ध्यधी.=प्रयोजनसिद्धि कारक (सफल) बुद्धि वाले जीवन्धर (तत्र=उस दण्डकवन में, गत्वा = पहुँच कर, स्वस्य=अपने) प्रसवित्रीम्=माता को, वीक्ष्य=देखकर, प्रेमान्ध =प्रेमान्ध, अभूत् = हो गये। नीति.—हि=क्योंकि, तत्त्वज्ञान-तिरोभावे = विवेक के छिप जाने पर, रागादि = रागद्वेष आदिक, निरकुशम् = रुकावट रहित (उत्पद्यते = उत्पन्न हो जाते हैं)॥५३॥

भावार्थः—उस दण्डकवन में पहुँच कर जीवन्धर स्वामी ने जब अपनी माता को देखा, तब वे मातृस्नेह से अत्यन्त विह्वल हो उठे। ठीक ही है, क्योंकि विवेकशक्ति के छिप जाने पर रागादिक भाव भी स्वतन्त्रता से उत्पन्न हो ही जाते हैं। इसीलिये अदृष्टपूर्व माता के दर्शन से उत्पन्न हुये प्रेमभाव से विवेक-बुद्धि के लुप्त हो जाने पर जीवन्धर के भी रागभाव की वृद्धि हो गई ॥५३॥

जातजातक्षणत्यागा—ज्जातं दुर्जातमक्षिणोत्।
सुतवीक्षणतो माता, सुतप्राणा हि मातरः ॥५४॥

अन्वयार्थों—माता = जीवन्धर की माता, जातजातक्षण-त्यागात् = पुत्र को जन्म समय में ही त्याग देने से, जातम् = उत्पन्न हुये, दुर्जातम् = दुःख को, सुतवीक्षणत. = अपने पुत्र के दर्शनमात्र से, अक्षिणोत् = भूल गई। नीति —हि = क्योंकि, मातर =मातायें, सुत-प्राणा =पुत्र ही हैं प्राण जिन्हो के ऐसी (भवन्ति=होती हैं) ॥५४॥

भावार्थ—पुत्र की रक्षा का अन्य उपाय न होने से पैदा होते ही उसे विजया रानी ने सुतान्वेषी गन्धोत्कट के लिये स्मशान में ही छोड़ दिया था। इसीलिये उसे जन्म से पुत्र-वियोग का जो रंज था उसे वह जीवन्धर के देखते ही एक-दम भूल गई। ठीक ही है, क्योंकि माताओं को अपने बच्चे प्राण सरीखे प्यारे होते हैं, इसीलिये जीवन्धर की माता को भी उनका दर्शन प्राणप्राप्ति के समान आनन्ददायक हुआ ॥५४॥

सूनो र्वीक्षणतस्तप्ता, क्षोणीशं तमियेष सा।
लाभं लाभमभीच्छा स्या–न्नहि तृप्तिः कदाचन ॥५५॥

अन्वयार्थौ—सूनो. = पुत्र के, वीक्षणात = देखने से, तप्ता सती = सताप को प्राप्त होती हुई, सा = वह माता, तम् = उस पुत्र को, क्षोणीशम् = राजा होना, इयेष = चाहने लगी। नीति.—हि = क्योंकि, लाभ लाभम् अभि = एक वस्तु के प्राप्त हो जाने पर दूसरी वस्तु की प्राप्ति के प्रति, इच्छा = चाह, स्यात् = होती है, तृप्ति. = सन्तोष, कदाचन = कभी भी, न स्यात् = नही होता ॥५५॥

भावार्थः—इस ससार मे मनुष्य को एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी की और दूसरी को भी प्राप्ति होने पर तीसरी की इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाओं की वृद्धि बराबर होती ही रहती है, सन्तोष तो कभी भी नहीं होता। तदनुसार जीवन्धर की माता के भी अपने चिरवियुक्त सुपुत्र के देखने की इच्छा बहुत समय से थी। सौभाग्य से जीवन्धर के मिलने पर जब उसकी इच्छा पूर्ण हुई तब उसे, जीवन्धर को देख और उसके राजपुत्रत्व एव वर्तमान अवस्था (इधर उधर भटकते फिरने) पर विचार कर सन्तोप की जगह भारी सन्ताप हुआ। इसीलिये वह अब इसे (जीवन्धर को) अपने पिता के पद (राजसिंहासन) पर प्रति-ष्ठित होने की भी इच्छा करने लगी ॥५५॥

कच्चित्पितुः पदं ते स्या—दङ्ग! पुत्रेत्यचोदयत् ।
सामग्रीविकलं कार्यं, न हि लोके विलोकितम् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—अङ्ग पुत्र = हे पुत्र, ते = तेरे, पितु. = पिता का, पदम् = स्थान, स्यात् = होगा, कच्चित् = क्या ? इति = इस प्रकार, (सा = वह माता, तम् = उन जीवन्धर से) अचोदयत् = पूछने लगी । नीति —हि = क्योकि, लोके = ससार में, सामग्रीविकलम् = उत्पादक सामग्री के विना, कार्यम् = कार्य, न विलोकितम् = नही देखा गया है ।

भावार्थः—माता विजया ने अपने प्रिय पुत्र जीवन्धर से पूछा कि हे वत्स ! तू कभी अपने पिता के राजपद को भी प्राप्त करेगा कि नहीं ? क्योंकि इस समय उसके प्राप्त करने की सामग्री, पर्याप्तधन और सैन्य वगैरह के न होने से मुझे उसकी प्राप्ति में संदेह हो रहा है। क्योंकि लोक में सर्वत्र आवश्यक सामग्री के होने पर ही कार्य सफल होते देखे जाते हैं, सामग्री के बिना नहीं।

अम्ब किं वत खेदेन, वाढं स्यादिति सोऽभ्यधात्।

मुग्धेष्वतिविदग्धानां, युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥५७॥

अन्वयार्थौ—अम्ब = हे माता, वत = व्यर्थ, खेदेन = खेद करने से, किम् = क्या लाभ (अस्ति = है) ? यत. = क्योकि (मे = मेरे लिये, पितु पदम् = पिता जी का पद) वाढम् = निश्चय से हाँ, स्यात् = होगा, इति = इस प्रकार, स. = वह जीवन्धर, अपि = भी, अभ्यधात् = उत्तर देता हुआ । नीति —हि = क्योकि, अतिविदग्धानाम् = चतुर जनों का, मुग्धेषु = मूर्खों में, वलकीर्तनम् = अपने बल की प्रशसा करना, युक्तम् = योग्य (एव ही, स्यात् = होता है) ॥५७॥

भावार्थः—जीवन्धर ने कहा कि माता जो आप चिन्ता नहीं कीजिये । मेरे पिता का पद (राज्य) मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा । यद्यपि जीवन्धर का इस प्रकार अभिमान-पूर्ण उत्तर

देना उनके स्वभाव से विरुद्ध था, परन्तु क्या किया जाय? इसके सिवाय विजया जननी को सान्त्वना देने के लिये उनके सामने और अन्य उपाय भी तो नहीं था। नीतिकारों का भी यही कहना है कि बुद्धिमानों को चाहिये कि वे भोले मनुष्यों को समझाने के लिये उनके सामने अपने बलादि गुणों की प्रशंसा अवश्य करें। इस तरह जीवन्धर का उपर्युक्त उत्तर सामयिक और नीति के भी अनुरूप हुआ ॥५७॥

पुत्रवाक्येन हस्तस्थां, मेने माता च मेदिनीम्।
मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया, न हि युक्तिवितर्किणः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—माता = माता विजया, च = भी, पुत्रवाक्येन = पुत्र के उपर्युक्त वचन से, मेदिनीम् = पृथिवी को (स्वस्याः = अपने) हस्तस्थाम् = हाथ में आई हुई (एव = ही) मेने = मानती हुई। नीति —हि = क्योंकि, मुग्धाः = भोले प्राणी, श्रुतविनिश्चेयाः = सुनने से ही बात का निश्चय करने वाले (भवन्ति = होते हैं) युक्तिवितर्किणः = युक्ति द्वारा विचार करने वाले, न = नहीं ॥५८॥

भावार्थः—पुत्र के उपर्युक्त वचन को सुनकर माता विजया को निश्चय हो गया, कि हमारा राज्य हमें अवश्य वापिस मिल जावेगा। क्योंकि भोले प्राणी किसी बात को सुन कर ही वैसा निश्चय कर बैठते हैं—उस पर विशेष ऊहापोह (विचार) नहीं करते। इसी कारण भोली विजयाने जीवन्धर के कथनमात्र से ही राज्य के वापिस मिलने का निश्चय कर लिया ॥५८॥

अपायस्थानमस्तोकं, दूरक्षं व्याहरद्विभोः।
अमित्रो हि कलत्रं च, क्षत्रियाणां किमन्यतः ॥५९॥

अन्वयार्थौ—(वह माता) विभोः = जीवन्धर स्वामी के, दूरक्षम् = दुःख से रक्षा होने योग्य, अस्तोकम् = बहुत, अपायस्थानं =

विनाश के कारणो को, व्याहरत् = कह बैठी । नीतिः—हि = क्योंकि, क्षत्रियाणाम् = क्षत्रियो की, कलत्रम् = स्त्री (अपि = भी) अमित्र = शत्रु के समान (भवति = हुआ करती है) अन्यत = औरों का (पुन = फिर) किम् = कहना ही क्या है ? ॥५९॥

भावार्थ—वास्तव में पिता के पद का स्मरण करा कर विजया देवी ने जीवन्धर स्वामी को एक बडे भारी सकट में डाल दिया था। परन्तु क्या करे ? यह तो क्षत्रिय जाति का स्वाभाविक ही कार्य (धर्म) है। औरों की तो कहें ही क्या, किन्तु क्षत्रियों की तो प्राणप्रिय स्त्रियां भी शत्रु के समान कठोर बन कर उन्हें न्यायसंगत युद्ध आदि के सम्मुख किया करती हैं। तदनुसार विजयादेवी ने राज्यपद की याद दिला कर जीवन्धर को युद्ध की ओर लगा कर क्षत्रियोचित कार्य ही किया था ॥५९॥

कर्तव्यं च ततो मात्रा, मन्त्रितं तेन मन्त्रिणा ।
विचार्यैवेतरैः कार्यं, कार्यं स्यात्कार्यवेदिभिः ॥६०॥

अन्वयार्थो—तत. = इसके बाद, मन्त्रिणा = विचारदक्ष, तेन = उस जीवन्धर ने, मात्रा सह = माता के साथ (स्वस्य = अपना) कर्तव्यम् = करने योग्य कार्य, मन्त्रितम् = विचारा। नीति—हि = क्योंकि, कार्यवेदिभि. = कार्यकुशल जनो के द्वारा, इतरै. सह = दूसरो के साथ, विचार्य = विचार कर, एव = ही, कार्यम् = कार्य, कार्यम् = किया जाना चाहिये ॥६०॥

भावार्थ—कार्यकुशल मनुष्य दूसरे अनुभवी मनुष्यों के साथ करणीय कार्य के विषय में लाभालाभ का विचार कर ही किसी कार्य में हाथ लगाया करते हैं। इसीलिये विवेकी जीवन्धर ने भी राज्यप्राप्ति के विषय में अपनी वृद्ध माता के साथ कर्तव्य कार्य का विचार किया ॥६०॥

प्राहिणोत्प्रसवित्रीं तां, मातुलोपान्तिके कृती ।
न हि मातुः सजीवेन, सोढव्या स्याद्दुरासिका ॥६१॥

अन्वयार्थौ—(पश्चात्) कृती = विवेकी (जीवन्धर) ताम् = उस, प्रसवित्रीम् = माता को, मातुलोपान्तिके = मामा के पास, प्राहिणोत् = पहुँचा आये । नीतिः—हि = क्योंकि, मातुः = अपनी माता की, दुरासिका = दुःखित हालत, सजीवेन = सचेतन प्राणी के द्वारा, सोढव्या = सह्य, न भवति = नही होती ? ॥६१॥

भावार्थ—कोई भी सचेतन प्राणी अपनी माता की दुःखित हालत सहन नहीं कर सकता, अतएव जीवन्धर ने भी अपनी माता रानी विजया का तपस्वियों के आश्रम में रहना दुःखमय समझ उसे अपने मामा के यहां भेज दिया ॥६१॥

ततः सपरितोषोऽयं, परिव्राजक—पार्श्वतः ।
निकषा स्वपुरं प्राप्य, तदारामे निषण्णवान् ॥६२॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, सपरितोषः = सन्तोषसहित, अयम् = यह जीवन्धर, परिव्राजकपार्श्वतः = सन्यासियो के पास से, स्वपुरं निकषा = अपने नगर के पास, प्राप्य = पहुँच कर, तदारामे = उसके बगीचे में, निषण्णवान् = ठहर गये ॥६२॥

भावार्थ—जीवन्धरकुमार अपनी माता को मामा के यहां पहुँचा कर दण्डकवन में स्थित उस तपस्वियों के आश्रम से शीघ्र रवाना होकर राजपुरी को गये और उसके निकटवर्ती किसी एक बगीचे में ठहर गये ॥६२॥

तत्र मित्राण्यवस्थाप्य, व्यहरत्परितः पुरीम् ।
विशृङ्खला न हि क्वापि, तिष्ठन्तीन्द्रियदन्तिनः ॥६३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर) मित्राणि = मित्रों को, तत्र = वहां पर (एव = ही) अवस्थाप्य = ठहरा कर, पुरीं परितः = नगरी में चारो तरफ

व्यहरत्=घूमने लगे। नीति.—हि=क्योंकि, विशृङ्खला:=बन्धनरहित, इन्द्रियदन्तिन.=इन्द्रियरूपी हाथी, क्व=किसी एक स्थान पर, अपि=हो, न तिष्ठन्ति=स्थिर नहीं रहते ॥६३॥

भावार्थ:—जीवन्धरकुमार अपने मित्रों को उस बगीचे में ही ठहरा कर आप स्वयं उस नगरी में इच्छानुसार इधर उधर घूमने लगे। ठीक ही है, क्योंकि–जैसे बन्धनरहित हाथी स्वतन्त्रता से इधर उधर घूमा करता है, उसी प्रकार इन्द्रियों का भी यदि दमन नहीं किया जाय तो वे भी प्राणी को विषयों की ओर प्रवृत्त किया करती हैं। इसीलिये जीवन्धर स्वामी भी इन्द्रियों के वश हो राजपुरी में इधर उधर घूमने लगे ॥६३॥

ततो राजपुरीं वीक्ष्य, सुतरामतृपत्सुधीः ।
ममत्वधीकृतो मोहः, सविशेषो हि देहिनाम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—तत=इसके बाद, सुधी=बुद्धिमान् जीवन्धर, राजपुरीम्=राजपुरी नगरी को, वीक्ष्य=देखकर, सुतराम्=अत्यन्त, अतृपत्=सन्तुष्ट हुये। नीति—हि=क्योंकि, देहिनाम्=प्राणियों के, ममत्वधीकृत.=ममताबुद्धि से उत्पन्न हुआ, मोह.=मोह, सविशेष:=अत्यधिक (भवति=होता है) ॥६४॥

भावार्थ:—"यह वस्तु मेरी है" ऐसी ममता-बुद्धि जिस वस्तु में होती है, उसमें प्राणियों का प्रेम अत्यधिक होता है इसीलिये जीवन्धरकुमार अपनी जन्मभूमि राजपुरी को देख कर, बहुत प्रसन्न हुये ॥६४॥

क्रीडन्ती कापि हर्म्याग्रात्, पातयामास कन्दुकम् ।
सम्पदामापदां चासि–र्व्याजेनैव हि केनचित् ॥६५॥

अन्वयार्थौ—तत्र=उस नगरी में, का=कोई (अपरिचित कन्या) क्रीडन्ती=खेलती हुई, हर्म्याग्रात्=महल के छज्जे से, कन्दुकम्=

गेंद को, पातयामास = गिराती हुई। नीतिः—हि = क्योंकि, सम्पदाम् = सम्पत्तियों की, च = और, आपदाम् = आपत्तियों की, आप्ति = प्राप्ति, केनचित् = किसी, व्याजेन = बहाने से, एव = ही (भवति = होती है) ॥६५॥

भावार्थः—उस नगरी में खेलती हुई एक अपरिचित युवती कन्या ने अपने महल की छत से नीचे जीवन्धर के सामने एक गेंद गिरा दी। ठीक ही है, क्योंकि सम्पत्ति या आपत्ति की प्राप्ति किसी न किसी बहाने से ही होती है, तदनुसार जीवन्धर स्वामी को भी कन्यारत्न की प्राप्ति में गेंद का नीचे गिरना निमित्तकारण बन गया ॥६५॥

उद्वक्त्रस्तद्वतीं सूत्यां, दृष्ट्वामुह्यदवाह्यधीः ।
वशिनां हि मनोवृत्तिः, स्थान एव हि जायते ॥६६॥

अन्वयार्थौ—अवाह्यधी = एकाग्रबुद्धि वाले जीवन्धर, उद्वक्त्रः सन् = ऊपर को मुख किये हुये, तद्वतीम् = उस गेंद की स्वामिनी, सूत्याम् = जवान (ताम् = उस कन्या को) वीक्ष्य = देख कर अमुह्यत् = मोहित हो गये। नीतिः—हि = क्योंकि, वशिनाम् = जितेन्द्रिय पुरुषों की, मनोवृत्तिः = मन की प्रवृत्ति, स्थाने = योग्य स्थान में, एव = ही, जायते = होती है ॥६६॥

भावार्थः—बुद्धिमान जीवन्धरकुमार ने एकाग्रता से ऊपर की ओर मुख करके उस युवती कन्या को देखा तो वे उस पर मोहित हो गये। ठीकही है, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों का मन योग्य वस्तु में ही झुकता है, इसीलिये जितेन्द्रिय जीवन्धर का भी मन उस कन्यारत्न पर मोहित होकर योग्य विषय में ही प्रवृत्त हुआ।

तन्मोहादयमध्यास्त, तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् ।
अञ्जसा कृतपुण्यानां, न हि वाञ्छापि वञ्चिता ॥६७॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर, तन्मोहात् = उस कन्या के मोह से, तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् = उस मकान के आगे के छज्जे पर,

अध्यारुरु = चढ़ गये। नीति —हि = क्योंकि, अञ्जसा = वास्तव में, कृतपुण्यानाम् = पुण्यवानों की, वाञ्छा = इच्छा, अपि = भी, वञ्चिता = निष्फल, न भवति = नहीं होती ॥६७॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार उस कन्या पर मोहित होकर उस मकान के छज्जे पर चढ़ गये। ठीक ही है, क्योंकि पुण्यवान् पुरुषों की इच्छा कभी विफल नहीं होती। इसीकारण पुण्यशाली जीवन्धर की भी इच्छा विफल न हो कर सफल ही हुई ॥६७॥

वैश्येशः कोऽपि तं पश्यन्, व्याजह्रे विकसन्मुखः।
चिरकाङ्क्षितसम्प्राप्त्या, प्रसीदन्ति हि देहिनः ॥६८॥

अन्वयार्थौ—कः = कोई, वैश्येशः = वैश्य श्रेष्ठ, तम् = उस जीवन्धर को, पश्यन् = देखता हुआ, विकसन्मुखः सन् = प्रसन्नमुख होता हुआ, व्याजह्रे = बोला। नीति —हि = क्योंकि, देहिनः = प्राणी, चिरकाङ्क्षित-सम्प्राप्त्या = बहुत समय से चाही हुई वस्तु के मिल जाने से, प्रसीदन्ति = प्रसन्न होते हैं ॥६८॥

भावार्थ —बहुत समय से इच्छित पदार्थ के प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक प्राणी को प्रसन्नता हुआ करती है। इसीलिये अपनी कन्या के लिये चिरकाल से प्रतीक्षित सुयोग्य वर को अनायास प्राप्ति हो जाने पर उस सेठ को भी अधिक प्रसन्नता हुई ॥६८॥

भद्र ! सागरदत्तोऽहं, भवत्येष ममालयः।
विमला कमलोद्भूता, सुता सूत्या च साभवत् ॥६९॥

अन्वयार्थौ—भद्र = हे सज्जन, अहम् = मैं (नाम्ना = नाम से) सागरदत्तः = सागरदत्त (अस्मि = हूँ) एषः = यह, मम = मेरा, आलयः = मकान, अस्ति = है (च = और, मम = मेरे,) कमलोद्भूता = कमला से पैदा हुई, विमला = विमला नामक, सुता = सुपुत्री, अस्ति = है, सा = वह, च = भी, सूत्या = जवान, अभवत् = हो गई है ॥६९॥

भावार्थ.—महोदय ! मेरा नाम सागरदत्त है, तथा यह मेरा महल है। मेरी स्त्री का नाम कमला है। उसके एक विमला नामक कन्या है। वह भी अब विवाह योग्य हो गई है ॥६६॥

रत्नजालमविक्रीतं, विक्रीयेत यदागमे ।
भाविज्ञास्तं पतिं तस्याः, समुत्पत्तावजीगणन् ॥७०॥

अन्वयार्थौ—(मम = मेरा) अवक्रीतम् = नहीं बिका हुआ, रत्नजालम् = रत्नसमूह, यदागमे = जिस मनुष्य के आने पर, विक्रीयेत = बिक जावेगा, तम् = उसी मनुष्य को, तस्या. = उस कन्या की, समुत्पत्तौ = उत्पत्ति के समय में, भाविज्ञाः = ज्योतिषी, तस्याः = उस कन्या का, पतिम् = स्वामी, अजीगणन् = बतलाते थे ॥७०॥

भावार्थः—इस की उत्पत्ति के समय इसके ग्रहों का मिलान कर ज्योतिषियों ने बतलाया था, कि बहुत समय से नहीं बिके हुये तुम्हारे बहुमूल्य रत्न जिस पुण्यात्मा के आने पर अनायास बिक जावेंगे वही इस कन्या का स्वामी होगा ॥७०॥

भवत्यत्र प्रविष्टे च, दृष्टमेतदलं परैः ।
भाग्याधिक ! भवानेव, योग्यः परिणयेदिति ॥७१॥

अन्वयार्थौ—च = और, भाग्याधिक = हे महाभाग्य, अत्र = यहां पर, भवति = आपके, प्रविष्टे सति = आने पर, एतत् = यह (रत्न-विक्रय) दृष्टम् = देखा जा चुका है, अतएव, भवान् = आप एव = ही (एनाम् = इस सुपुत्री को) परिणयेत् = वरण कीजिये ॥७१॥

भावार्थः—हे महाभाग्य ! बहुत समय से योग्य खरीददार और पूरी कीमत के न मिलने से नहीं बिका हमारा बहुमूल्य रत्नसमूह यहां आपके पधारने पर बिक गया है, इसलिये अब मैं अन्य वर को न खोज कर ज्योतिषियों के कथन के अनुसार अपनी सुपुत्री आपको ही प्रदान करता हूँ, आप इसे वरण कीजिये।

तन्निर्बन्धादयं चाभू—दनुमन्ता तथाविधौ ।
वाञ्छितार्थेऽपि कातर्यं, वशिनां न हि दृश्यते ॥७२॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर, तन्निर्बन्धात् = उस सेठ के आग्रह से, तथाविधौ = उस कार्य में, अनुमन्ता = अनुमतिदाता, अभूत् = हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, वाञ्छितार्थे = इच्छित पदार्थ में, अपि = भी, वशिनाम् = जितेन्द्रियों की, कातर्यम् = अधीरता, न दृश्यते = नही देखी जाती ॥७२॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय मनुष्य इच्छित पदार्थ को पाने में भी विशेष उतावली नहीं करते; इसीलिये जीवन्धर यद्यपि उस कन्या को स्वयं चाहते थे, तौ भी वे उसके पाने में अधीर नहीं हुये। किन्तु सागरदत्त ने जब उनसे इसके लिये विशेष आग्रह किया तब उन्होंने भी उस कन्या को वरण करना स्वीकृत किया।

अथ सागरदत्तेन, दत्तां सत्यन्धरात्मजः ।
व्यवहद्विमलां कन्यां, हव्यवाहसमक्षकम् ॥७३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सत्यन्धरात्मजः = सत्यन्धर के सुपुत्र जीवन्धर, सागरदत्तेन = सागरदत्त के द्वारा, दत्ताम् = दी हुई, विमलाम् = विमला नामक, कन्याम् = कन्या को हव्यवाहसमक्षकम् = अग्नि की साक्षिपूर्वक, व्यवहत् = वरण करते हुये ॥७३॥

भावार्थः—स्वीकृति देने के बाद जीवन्धर स्वामी ने सागरदत्त वैश्य के द्वारा दी गई उस विमला नामक कन्या को विधिपूर्वक अग्नित्रय के समक्ष वरण किया ॥७३॥

॥ इति अष्टमो लम्बः समाप्तः ॥



282 अथ नवमो लम्बः

अथ व्यूढामतिस्निग्धां, गाढस्नेहोऽन्वभूदिमाम् ।
वाञ्छिता यदि वाञ्छेयुः, ससारैव हि संसृतिः ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गाढस्नेह. = अतिशय प्रेमी जीवन्धर, व्यूढाम् = व्याही हुई, अतिस्निग्धाम् = बहुत स्नेह से युक्त, इमाम् = इस विमला को, अन्वभूत् = अनुभव करने लगे। नीति –हि = क्योंकि, यदि = अगर, वाञ्छिताः = इच्छित वस्तुए, वाञ्छेयु = चाहने लगें (तर्हि = तो) ससृति. = ससार, ससारा = सारभूत, एव = ही, (स्यात् = हो जाता है) ॥१॥

भावार्थ.—यदि अपने द्वारा इच्छित वस्तु स्वयं अपने को चाहने लगे, तो वांछक का अहोभाग्य समझना चाहिये; तदनुसार जिस प्रकार जीवन्धर विमला को अधिक चाहते थे उसी प्रकार विमला भी उन्हें अधिक चाहती थी, अतएव दोनों का समय बडे आनन्द से वीतने लगा ॥१॥

ततोऽनुनीय तां हित्वा, स मित्रैः समगच्छत ।
अन्यरोधि न हि क्वापि, वर्तते वशिनां मनः ॥२॥

अन्वयार्थौ—तत = फिर, स. = वे जीवन्धर, ताम् = उस विमला को, अनुनीय = समझा कर (च = और तत्र = वहा ही) हित्वा = छोड़कर, मित्रै. = मित्रो से, समगच्छत = आमिले । नीति —हि = क्योंकि, वशिनाम् = जितेन्द्रिय पुरुषों का, मन. = मन, क्व = कही पर, अपि = भी, अन्यरोधि = दूसरो से रुकने वाला, न वर्तते = नहीं होता है ॥२॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय पुरुषों के मन को कोई आकृष्ट या वशीभूत नहीं कर सकता, तदनुसार विमला भी जीवन्धर

को अपने मोह में नहीं फँसा सकी। वे उसे समझा बुझा कर और वहीं पर छोड़ कर अपने मित्रों से वापस आ मिले ॥२॥

वरचिह्नं तमालोक्य, बह्वमन्यन्त बान्धवाः ।
ऐहिकातिशयप्रीति—रतिमात्रा हि देहिनाम् ॥३॥

अन्वयार्थों—बान्धवा = जीवन्धरस्वामी के मित्र, तम् = उन जीवन्धर को, वरचिह्नम् = वर के चिन्हों सहित, आलोक्य = देखकर, बहु = बहुत, अमन्यन्त = आदर करने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, ऐहिकातिशयप्रीति = इस लोक सम्बन्धी उत्कर्षों में प्रेम, अतिमात्रा = अत्यन्त (भवति = होता है) ॥३॥

भावार्थ.—जीवन्धर स्वामी को वर के चिन्हों से विभूषित देख कर उनके मित्रों ने उनका बहुत आदर सत्कार किया। ठीक ही है, क्योंकि इस लोक सम्बन्धी उत्कर्ष के होने पर प्राणियों का प्रेम बढ़ना उचित ही था ॥३॥

अब्रवीदस्य सोत्प्रासं, बुद्धिषेणो विदूषकः ।
बहुद्वारा हि जीवानां, पराराधन—दीनता ॥४॥

अन्वयार्थों—(तत = पीछे, अस्य = इन जीवन्धर का) बुद्धिषेण. = बुद्धिषेण नामक, विदूषक. = विदूषक, सोत्प्रासम् = हँसी पूर्वक, अब्रवीत् = बोला। नीति.—हि = क्योंकि, जीवानाम् = प्राणियों के, पराराधनदीनता = औरों की सेवा से प्रगट होने वाली दीनता, बहुद्वारा = बहुत प्रकार, भवति = होती है ॥४॥

भावार्थः—पश्चात् जीवन्धर स्वामी के बुद्धिषेण नामक विदूषक ने उनसे मजाक करते हुये निम्नप्रकार कहा। ठीक ही है; क्योंकि संसारी प्राणी आजीविका के निमित्त तरह तरह के साधनों (उपायों) से काम लिया करते हैं। तदनुसार बुद्धिषेण

भी जीवन्धर के पास विदूषक के रूप में रह कर अपनी जीविका सम्पन्न किया करता था ॥४॥

सुलभाः खलु दौर्भाग्या—दन्योपेक्षितकन्यकाः ।
व्यूढायां सुरमञ्जर्यां, पौरोभाग्यं भवेदिति ॥५॥

अन्वयार्थौ—दौर्भाग्यात् = भाग्यहीनता के कारण, अन्योपेक्षितकन्यकाः = दूसरों के द्वारा विवाह करने से उपेक्षा की गई कन्याएँ, खलु = निश्चय से, सुलभा. = आसानी से प्राप्त करने योग्य (भवन्ति = होती हैं)। किन्तु, सुरमञ्जर्याम् = सुरमजरी के, व्यूढायाम् = व्याहने पर, पौरोभाग्यम् = महाभाग्य, भवेत् = होगा ॥५॥

भावार्थः—विदूषक ने कहा कि जिन कन्याओं के साथ उनकी भाग्यहीनता के कारण दूसरे महापुरुष विवाह नहीं करना चाहते, उनके साथ जो चाहे जो विवाह कर सकता है। किन्तु पुरुषमात्र का दर्शन तक नहीं करने वाली सुरमंजरी के साथ विवाह करने पर आप विशेष भाग्यवान् कहला सकेंगे ॥५॥

तद्वाक्यादयमुद्वोढु—मवाञ्छीत्तां च मानिनीम् ।
हेतुच्छलोपलम्भेन, जृम्भते हि दुराग्रहः ॥६॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर (अपि = भी) तद्वाक्यात् = उस विदूषक के वचन से, ताम् = उस, मानिनीम् = मान करने वाली सुरमंजरी को, उद्वोढुम् = व्याहने के लिये, अवाञ्छीत् = इच्छा करने लगा। नीति—हि = क्योंकि, हेतुच्छलोपलम्भेन = बहाने के मिल जाने से, दुराग्रहः = हठ, जृम्भते = बढता है ॥६॥

भावार्थः—उस विदूषक के वचन को सुन कर जीवन्धर ने भी उस मानिनी सुरमंजरी से विवाह करने का निश्चय किया क्योंकि किसी बहाने के मिल जाने से मनुष्य का दुराग्रह अधिक बढ़ जाता है। तदनुसार विदूषक के वचन से जीवन्धर का दुराग्रह बढ़ना उचित ही था ॥६॥

तत्राप्यौपयिकं भूयो, यक्षमन्त्रं व्यचीचरत् ।
अनापायादुपायाद्धि, वाञ्छितार्प्तिं मनीषिणाम् ॥७॥

अन्वयार्थौ—भूयः = फिर, अयम् = यह जीवन्धरकुमार, तत्र = इस विषय में, अपि = भी, औपयिकम् = योग्य उपायात्मक, यक्षमन्त्रम् = यक्ष के द्वारा प्रदत्त मत्र को, व्यचीचरत् = स्मरण करता हुआ। नीतिः—हि = निश्चय से, मनीषिणाम् = बुद्धिमानों के, वाञ्छिताप्तिः = इच्छित वस्तु की प्राप्ति, अनपायात् = प्रतिबन्धरहित, उपायात् = उपाय से (भवति = होती है) ॥७॥

भावार्थः—जीवन्धर ने सुरमंजरी के साथ विवाह करने के लिये निमित्तभूत यक्षेन्द्र द्वारा प्रदत्त 'कामरूप' मंत्र का स्मरण किया। ठीक ही है, क्योंकि अमोघ उपायों से ही इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है। इसीलिये जीवन्धर ने अपनी इष्टसिद्धि के हेतु मन्त्ररूप अमोघ उपाय का आश्रय लिया ॥७॥

वार्धकं तत्र चोपाय—मुपायज्ञोऽयमौहत ।
करुणामात्रपात्रं हि, बाला वृद्धाश्च देहिनाम् ॥८॥

अन्वयार्थौ—च = और, उपायज्ञः = उपाय का जानकार, अयम् = यह जीवन्धर, तत्र = उस विषय में, वार्धकम् = बूढे के भेष को, उपायम् = उपायस्वरूप, औहत = सोचता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, बाला = बालक, च = और, वृद्धा = वृद्धजन, देहिनाम् = प्राणियों के, करुणामात्रपात्रम् = दया के पात्र (भवन्ति = होते हैं) ॥८॥

भावार्थः—बालक और वृद्ध पर प्रायः सभी जन दया करते हैं। अतएव जीवन्धर ने सुरमजरी को व्याहने के लिये वृद्धभेष को ही अमोघ उपाय निश्चित किया ॥८॥

वार्धकं तत्क्षणे चास्य, मनुमाहात्म्यतोऽभवत् ।
अनवद्या सती विद्या, फलमूकापि किम्भवेत् ॥९॥

अन्वयार्थौ—मनुमाहात्म्यत.=मंत्र के प्रभाव से, तत्क्षणे = उसी समय, अस्य = इस जीवन्धर के, वार्धकम् = बुड्ढे का रूप, च=भी, अभवत्=होगया। नीति —हि = क्योंकि, अनवद्या=निर्दोष, सती= समीचीन, विद्या=विद्या, अपि= भी, किम् = क्या, फलमूका = फलरहित, भवेत् = होती है ? अपि तु न भवेत = किन्तु नही होती ॥९॥

भावार्थ—'कामरूप' मंत्र के प्रभाव से तत्काल ही जीवन्धर का वृद्ध के समान रूप बन गया। ठीक ही है, क्योंकि समीचीन विद्या कभी निष्फल नहीं होती। तदनुसार मंत्रविद्या के बल से जीवन्धर ने भी वृद्ध का भेष तत्काल बना लिया ॥९॥

विजहार पुनश्चायं, वर्षीयान्परितः पुरीम् ।
अन्यैरशङ्कनीया हि, वृत्ति र्नीतिज्ञगोचरा ॥१०॥

अन्वयार्थौ—पुनः = पश्चात्, अयम् = यह, वर्षीयान् = अधिक बूढा, पुरीम् परित. = नगरी के चारो ओर, विजहार = घूमने लगा। नीति—हि= क्योकि, नीतिज्ञगोचरा=नीतिज्ञो द्वारा कृत, वृत्ति =प्रवृत्ति, अन्यै =दूसरोंसे, अशङ्कनीया=शंका करने के अयोग्य, भवति = होती है।

भावार्थ—वह बनावटी वृद्ध उस नगरी के चारों तरफ इच्छानुसार घूमने लगा, पर उसके वास्तविक रहस्य का किसी को भी पता नहीं चल सका। ठीक ही है, क्योंकि नीति के जानकारो के व्यवहार में अन्य जन किसी प्रकार की आशङ्का नहीं कर सकते हैं, तदनुसार जीवन्धर के बनावटी भेष (वृद्धत्व) को कोई भी नहीं पहिचान सका ॥१०॥

प्रवयोविप्रवेशं तं, वीक्षमाणा विवेकिनः ।
विषयेषु व्यरज्यन्त, वार्धकं हि विरक्तये ॥११॥

अन्वयार्थौ—प्रवयोविप्रवेषम् = अतिवृद्ध ब्राह्मण के वेष के धारक, तम् = उस मनुष्य को, वीक्षमाणा = देखने वाले, विवेकिन =

विवेकी जन, विषयेषु=इन्द्रियों के विषयों में, व्यरज्यन्त=विरक्त हुये। नीति.—हि=क्योंकि, वार्धकम्=बुढापा, विरक्तये=वैराग्य पैदा करने के लिये (भवति=होता है) ॥११॥

भावार्थ.—उस ब्राह्मण के वृद्ध पने को देख कर विवेकी दर्शकगण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने लगे। ठीक ही है, क्योंकि बुढ़ापे की हालत देखकर वैराग्य होता ही है, इसलिये दर्शकगणको उसके वृद्धपने से वैराग्य होना स्वाभाविक था ॥११।

माक्षिकापक्षतोऽप्यच्छे, मांसाच्छादनचर्मणि।
लावण्यं भ्रान्तिरित्येत–न्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम्॥१२॥

अन्वयार्थौ—मक्षिकापक्षत=मक्खियों के पखे से, अपि=भी, अच्छे=स्वच्छ और पतले, मासाच्छादनचर्मणि=मास को ढकने वाले चमडे में लावण्यम्=सुन्दरता मानना, भ्रान्ति=भ्रम या मूर्खता, (अस्ति=है) एतत्=इस बात को, वार्धकम्=बुढापा, मूढेभ्य.=मूर्ख जनों के लिये, वक्ति=सूचित करता है ॥१२॥

भावार्थः–शरीर पर मांस, मज्जा और हड्डी आदि को ढकने वाला, मक्खी के पंखे से भी पतला स्वच्छ चमड़ा लगा हुआ है, जिससे यह शरीर सुन्दर मालूम होता है, किन्तु वृद्धावस्था के आने पर जब वह चमड़ा सिकुड़ जाता है, तब सारी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, मानो वृद्धावस्था विवेकियों को यही सूचित करती है कि शरीर को सुन्दर मानना भ्रम ही है ॥१२॥

प्रतिक्षणविनाशीद—मायुः कायमहो जडा।
नैव बुध्यामहे किं तु, कायमेव क्षयात्मकम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अहो=आश्चर्य है, यत्=कि, जडा.=अविवेकी, (वयम्=हम लोग) इदम्=इस, आयु=आयु को, च=और, कायम्=शरीर को, प्रतिक्षणविनाशि=क्षण क्षण में नष्ट होने वाला, नैव=नहीं

वुध्यामहे = जानते हैं, परन्तु, कालम् = काल को, एव = ही, क्षयात्मकम् = विनश्वर, वुध्यामहे = मानते हैं ॥१३॥

भावार्थः—प्रत्येक संसारी जीव की आयु और शरीर क्षण क्षण में नष्ट और परिवर्तित होता जाता है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि हम इस बात को न समझ कर केवल समय को ही क्षणनश्वर मानते हैं। लेकिन वास्तव मे समय (काल) नहीं बीतता है, वह तो अनन्त है। किन्तु इस समय की सहायता से हमारी आयु और शरीर ही क्षण क्षण में नष्ट हो रहे हैं ॥१३॥

हन्त लोको वयस्यन्ते, किमन्यैरपि मातरम् ।
मन्यते न तृणायापि,मृतिः श्लाघ्या हि वार्धकात् ॥

अन्वयार्थौ—हन्त = खेद की बात है (यत् = कि) लोकः = मनुष्य, अन्ते = अंतिम वृद्ध, वयसि = अवस्था में, अन्यैः = और से, किम् = क्या ? मातरम् = माता को, अपि = भी, तृणाय = तृण के समान, अपि = भी, न मन्यते = नही मानता । नीति—हि = क्योंकि, वार्धकात् = वुढापे से, मृतिः = मर जाना, एव = ही, श्लाघ्या = प्रशंसनीय (अस्ति = है) ॥१४॥

भावार्थः—वुढ़ापा बड़ी बला है, इस बुढ़ापे मे और की तो बात ही क्या ? मनुष्य अपने को जीवन देने और पालने पोषण करने वाली अपनी माता का भी आदर नहीं करते। इसलिये वुढ़ापे से तो मर जाना ही अच्छा है ॥१४॥

इत्याद्यूहं च हास्यं च, जनयन्प्राज्ञवालयोः ।
अगारं सुरमञ्जर्याः, वर्षीयान्पुनरासदत् ॥१५॥

अन्वयार्थौ—(सः = वह) वर्षीयान् = वूढा, प्राज्ञवालयोः = वुद्धिमानो और वालको के, इत्यादि = पूर्वोक्त, ऊहम् = विचार को, च = और, हास्यम् = हँसी को, जनयन् = पैदा करता हुआ, सुरमञ्जर्याः = सुरमंजरी के, अगारम् = घर को, आसदत् = प्राप्त हुआ ॥१५॥

भावार्थः—वह वृद्धा ब्राह्मण बुद्धिमानों के पूर्वोक्त विचार और बालकों के हँसी उत्पन्न करता हुआ सुरमञ्जरी के घर पहुँचा।

पृष्टो दौवारिकस्त्रीभि—राचष्ट फलमागतेः।
कुमारीतीर्थमात्मार्थं, न ह्यसत्यं सतां वचः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—दौवारिकस्त्रीभि:=द्वार पर नियुक्त की गई स्त्रियों के द्वारा, पृष्ट =पूछा गया, सः=वह वूढा, आगते'=अपने आगमन के, फलम्=कार्य को, आत्मार्थम्=अपने लिये, कुमारीतीर्थम्=कन्यारूप तीर्थ, आचष्ट=वतलाता हुआ। नीति:—हि=क्योकि, सताम्=सज्जनों का, वच.=वचन, असत्यम्=झूठ, न भवति=नही होवा।

भावार्थः—सुरमंजरी के यहा द्वार पर पहरा देने वाली स्त्रियों ने उस वूढ़े से पूछा कि आप यहा पर क्यों आये हैं, तव वृद्धे ने उत्तर दिया कि मैं यहा कुमारीतीर्थ (सुरमंजरी रूप पुण्यक्षेत्र) को प्राप्त करने के लिये आया हूँ। यह उत्तर वाक्य 'कुमारीतीर्थ' शब्द का वास्तविक रहस्य न जानने से उन स्त्रियों को असम्बद्धसा प्रतीत हुआ तथापि सर्वथा सत्य था ॥१६॥

अहसन्नथ तद्वाक्या—दङ्गना अप्यसङ्गतात्।
अविवेकिजनानां हि, सतां वाक्यमसङ्गतम् ॥१७॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके वाद, अङ्गना = द्वारपालिनी स्त्रिया, अपि = भी, असगतात् = असवद्द, तद्वाक्यात् =, उस वृद्धे की बात से, अहसन् = हंसने लगी। नीति—हि=क्योकि, सताम = सज्जनों का, वाक्यम = वचन, अविवेकिजनानाम् = अविवेकी जनों के, असङ्गतम् = असवद्द, प्रतिभाषते = मालूम होता है ॥१७॥

भावार्थः—सुरमञ्जरी के द्वार पर नियुक्त सभी स्त्रिया वृद्धे का उत्तर सुनते ही हँसने लगी, क्योंकि उन स्त्रियों ने 'कुमारीतीर्थ' शब्द से किसी तीर्थविशेष का ही नाम समझा था,

परन्तु इस नाम से प्रसिद्ध कोई भी तीर्थस्थान वहां निकटवर्ती नहीं था। अतएव उपर्युक्त वाक्य को असम्बद्ध या अप्रकृत समझ कर उन स्त्रियों का हँसना स्वाभाविक ही था। ठीक है कि महापुरुषों के वाक्यों को भली प्रकार न समझने के कारण मूर्खजन प्रायः असम्बद्ध समझा करते हैं ॥१७॥

अरुद्धः कृपया ताभि—रगाहिष्ट स तद्गृहम् ।
सर्वथा दग्धबीजाभाः, कुतो जीवन्ति निर्घृणाः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—ताभिः = उन स्त्रियों के द्वारा, कृपया = दया से अरुद्ध = नहीं रोका गया, स = वह वृद्ध, तद्गृहम् = उस सुरमंजरी के घर में, अगाहिष्ट = घुस गया। नीति.—हि = क्योंकि, सर्वथा = बिलकुल निर्घृणाः = दयारहित, अतएव, दग्धबीजाभाः = जले हुये बीज के समान जीवाः = प्राणी, कुतः = कैसे ? जीवन्ति = जी सकते हैं ॥१८॥

भावार्थः—जब उन स्त्रियों ने उस वृद्ध को भीतर जाने से नहीं रोका, तब वह सुरमंजरी के घर के भीतर चला गया। ठीक ही है, क्योंकि जैसे जले हुये बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार दयारहित मनुष्य भी कुछ उत्तम कार्य नहीं कर सकते और जीते हुये भी मृततुल्य समझे जाते हैं, अतएव उन स्त्रियों ने उस वृद्ध पर दया कर अपने कर्तव्य का पालन ही किया ॥१८॥

अभ्यधुः सुरमञ्जर्याः, सुन्दर्यः सभया इदम् ।
सभयस्नेहसामर्थ्याः, स्वाम्यधीना हि किङ्कराः ॥१९॥

अन्वयार्थौ—सुन्दर्यः = द्वारपालिनी स्त्रियां, सभया सत्य = भयभीत होती हुई, इदम् = इस वृत्तान्त को, सुरमञ्जर्याः = सुरमंजरी के (समक्षम् = सामने) अभ्यधुः = प्रगट करती हुई। नीति —हि = क्योंकि स्वाम्यधीना = मालिक के आधीन प्रवृत्ति करने वाले, किङ्कराः = नौकर, सभयस्नेहसामर्थ्याः = भय और स्नेह सहित सामर्थ्य रखने वाले (भवन्ति = होते हैं) ॥१९॥

भावार्थ.—सुरमंजरी की द्वारपालिनी स्त्रियों ने पास जाकर कुछ डरते हुये उस बुड्ढे के इस वृत्तान्त को कहा। ठीक ही है, क्योंकि सर्वदा मालिक की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने वाले नौकर लोगों का सामर्थ्य कभी भय से अथवा कभी स्नेह से परिपूर्ण ही प्राय देखने मे आता है। तदनुसार उपर्युक्त स्त्रियों को जब यह प्रतीत हुआ कि, सभवतः यह कार्य सुरमंजरी की इच्छा के अनुरूप न होकर प्रतिकूल ही हुआ है, तब उन पराधीन स्त्रियों की कार्य-शक्ति मे भय का संचार हुआ ॥१६॥

पुरुषद्वेषिणी सापि, वर्षीयांसं न्यशामयत् ।
भवितव्यानुकूलं हि, सकलं कर्म देहिनाम् ॥२०॥

अन्वयार्थौ—पुरुषद्वेषिणी = पुरुष के दर्शनमात्र से द्वेष रखने वाली, सा = वह सुरमंजरी, अपि = भी, वर्षीयासम् = उस बूढे को न्यशामयत् = ठहराती हुई। नीति—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, सकलम् = समस्त, कर्म = कार्य, भवितव्यानुकूलम् = होनहार के अनुसार (भवति = होते हैं) ॥२०॥

भावार्थ—वह सुरमंजरी यद्यपि पुरुषमात्र को देखती भी नहीं थी तो भी उसने अपने मकान मे उस बुड्ढे के आने पर जरा भी क्रोध नहीं किया और उसका आदर किया। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों के समस्त कार्य भवितव्य के अनुसार ही होते हैं, इसलिये इन दोनों के भविष्य मे होने वाले प्रेम-बन्ध में भी किसी प्रकार की प्रतिकूलता नहीं हुई ॥२०॥

बुभुक्षितं तमालक्ष्य, भोजयामास सा सती ।
अन्तस्तत्त्वस्य याथात्म्ये, न हि वेशो नियामकः ॥२१॥

अन्वयार्थौ—सा = वह, सती = उत्तम कन्या, तम् = उस वृद्ध को, बुभुक्षितम् = भूखा, आलक्ष्य = समझ कर, भोजयामास = भोजन कराती हुई। नीति—हि = निश्चय से, वेश = बाहिरी भेष,

अन्तस्तत्त्वस्य = भीतरी स्वरूप को, याथात्म्ये = यथार्थता के विषय में, नियामकः = निश्चायक, न भवति = नहीं होता ॥२१॥

भावार्थः—कन्या सुरमंजरी ने उस बूढ़े को भूखा जान कर भोजन कराया। ठीक ही है, क्योंकि बाहिरी भेष से भीतरी स्वरूप का परिज्ञान नहीं हो सकता। तदनुसार सुरमंजरी भी उस समय जीवन्धर के कृत्रिम वृद्ध ब्राह्मण के भेष को देख कर यह पता नहीं चला सकी थी, कि "यह वृद्ध वास्तव में ब्राह्मण नहीं है, किन्तु जीवन्धर है" इसीलिये उसने निःसंकोच भाव से उन्हें भोजन भी कराया ॥२१॥

भुक्त्वाथ वार्धकेनेव, सुष्वाप तलिमे कृती।
योग्यकालप्रतीक्षा हि, प्रेक्षापूर्वविधायिनः ॥२२॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके बाद, कृती = कार्यकुशल वह बूढा, भुक्त्वा = भोजन करके, वार्धकेन = बुढापे के कारण, इव = ही, तलिमे = शय्या पर, सुष्वाप = सो गया। नीति.—हि = क्योंकि, प्रेक्षापूर्वविधायिनः = विचारपूर्वक कार्य करने वाले मनुष्य, योग्यकालप्रतीक्षाः = कार्य के अनुकूल समय की बाट जोहने वाले, भवन्ति = होते हैं ॥२२॥

भावार्थ.—भोजन करके वह वृद्ध अपनी थकावट को प्रगट करने के लिये शय्या पर सो गया। ठीक ही है, क्योंकि विचारशील मनुष्य मौके को देख कर ही कार्यारम्भ करते हैं, तदनुसार उस वृद्ध ने अभी अपने मन्तव्य का प्रकाशन करना समयोचित नहीं समझ कर उसे गुप्त ही रखा ॥२२॥

भुवनमोहनं गान—मगासीदथ गानवित्।
परस्परातिशायी हि, मोहः पञ्चेन्द्रियोद्भवः ॥२३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गानवित् = गान विद्या का जानकार (वह बूढा) भुवनमोहनम् = जगत को मोहित करने वाले,

गानम् = गान को, अगासाद् = गाने लगा । नीतिः—हि = क्योंकि, पंचेन्द्रियोद्भव = पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ, मोह = मोह, परस्परातिशायी = एक दूसरे में अधिकाधिक (भवति = होता है) ॥२३॥

भावार्थः—शयन के पश्चात् वृद्ध वेषधारी जीवन्धर ने श्रोताओं को मोहित करने वाला गान गाया। क्योंकि प्राणियों को प्रायः पांचों इन्द्रियों के विषयों मे एक दूसरे की अपेक्षा अधिकता लिये हुये मोह हुआ करता है। तदनुसार उक्त वृद्ध को भी गान-विद्या में औरों की अपेक्षा अधिक मोह था ॥२३॥

गानकौशलतः सैनं, शक्ति-मन्तममन्यत ।
विशेषज्ञा हि बुध्यन्ते, सदसन्तौ कुतश्चन ॥२४॥

अन्वयार्थौ—सा = वह सुरमजरी, गानकौशलत = गाने की चतुराई से, एनम् = इस बुड्ढे का, शक्तिमन्तम् = सब कार्यों में निपुण, अमन्यत = समझती हुई। नीति—हि = क्योंकि, विशेषज्ञ = बुद्धिमान् मनुष्य, कुतश्चन = किसी न किसी कारण से, सदसन्तौ = निपुण और मूर्ख को, बुध्यन्ते = निश्चित कर लेते हैं ॥२४॥

भावार्थ—बुद्धिमान मनुष्य विशेष परिचय के बिना ही अन्य मनुष्य की विद्वत्ता या मूर्खता का परिज्ञान कर लेते हैं। तदनुसार विदुषी सुरमंजरी ने भी गान की चतुराई से उस वृद्ध की कार्यान्तर में भी निपुणता निश्चित कर ली ॥२४॥

ततः स्वकार्यमप्यस्मात्, सादराभूत्परीक्षितुम् ।
स्वकार्येषु हि तात्पर्यं स्वभावादेव देहिनाम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसलिये, सा = वह सुरमजरी, अस्मात् = इस बूढे से, स्वकार्यम् = अपने कार्य को, अपि = भी, परीक्षितुम् = परीक्षा करने के लिये, सादरा = आदर युक्त, अभूत् = हुई। नीति—हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, स्वकार्येषु = अपने कार्यों में, तात्पर्यम् = तत्परता, स्वभावात् = स्वभाव से, एव = ही (भवति = होती है) ॥२५॥

भावार्थ—उस अश्रुतपूर्व गान क सुनने से जब सुरमजरी को यह निश्चय हो गया, कि अवश्य ही यह कोई विशेष शक्तिशाली पुरुष है, तब उसने मन ही मन सोचा कि इस महापुरुष से अपनी अभीष्ट-सिद्धि के विषय मे कोई प्रश्न किया जाय, तो सम्भव है कि मेरा भी अभीष्ट-कार्य सिद्ध हो जाय। ठीक ही है, क्योंकि प्राणियों के अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि मे तत्परता प्रायः स्वभाव से ही हुआ करती है ॥२५॥

गानवच्छक्तिरन्यत्र, किमस्तीत्यन्वयुङ्क्त सा।
याञ्चायां फलमूकायां, न हि जीवन्ति मानिनः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—सा = उस सुरमजरी ने, किम् = क्या, गानवत् = गाने के समान, अन्यत्र = और दूसरे कार्यो में, अपि = भी, ते = तुम्हारी शक्ति = शक्ति, अस्ति = है, इति = इस प्रकार, अन्वयुङ्क्त = पूछा। नीति—हि = क्योंकि, याञ्चायाम् = याचना के, फलमूकायाम् = निष्फल होने पर, मानिन = मानी जन, न जीवन्ति = नहीं जीते हैं ॥२६॥

भावार्थ—अपनी याचना के निष्फल होने पर प्राणियों को गहरी हार्दिक चोट पहुँचती है, अतएव प्रार्थनीय मनुष्य से याचना करने के पूर्व अपनी याचना की पूर्ति हो सकने का निश्चय कर लेना सर्वथा आवश्यक है, यही विचार कर सुरमजरी ने उस बूढे से पूछा कि "आप गान की निपुणता के समान कार्यान्तरों मे भी निपुणता रखते हैं क्या?" ॥२६॥

बाढमस्ति समस्तेऽपी—त्यब्रवीत्प्रौढनैपुणः।
उक्तिचातुर्यतो दार्ढ्य—मुक्तार्थे हि विशेषतः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—बाढम् = हाँ, समस्ते = समस्त विषयो में (मे = मेरे) शक्ति = निपुणता, अस्ति = है, इति = इस प्रकार, प्रौढनैपुण = अतिशय निपुण, स = वह वृद्ध, अब्रवीत् = बोला। नीति—हि = क्योंकि, उक्तिचातुर्यत = कहने की चतुराई से, उक्तार्थे = कहे हुये

पदार्थ के विषय में, विशेषत. = विशेषरूप से, दार्ढ्यम् = दृढता, (भवति = होती है) ॥२७॥

भावार्थ.—सुरमंजरी के प्रश्न के उत्तर मे उस वृद्ध ने उत्तर दिया, कि हां, मैं सभी विषयों मे यथोचित योग्यता रखता हूँ। ठीक ही है, क्योंकि कहने की चतुरता से पूर्व निश्चित कार्य में विशेष दृढ़ता हो जाती है, तदनुसार वृद्ध महाशय के चतुरता-पूर्ण उस उत्तर से सुरमञ्जरी को भी उसकी शक्ति का दृढ निश्चय हो गया ॥२७॥

अभीप्सितवरप्राप्ता —वुपायं साप्य—याचत ।
रागान्धे हि न जागर्ति,याञ्चादैन्यवितर्कणम् ॥२८॥

अन्वयार्थों—सा = वह सुरमंजरी, अपि = भी, अभीप्सित-वरप्राप्तौ = इच्छित वर की प्राप्ति के विषय में, उपायम् = उपाय को, अयाचत = याचना करने लगी। नीति.—हि = क्योंकि, रागान्धे = प्रेम से अन्ध प्राणी में, याञ्चादैन्यवितर्कणम् = याचना सम्बन्धी दीनता का विचार, न जागर्ति = नही होता ॥२८॥

भावार्थः—पश्चात् उस सुरमंजरी ने उस वृद्ध से मेरे इच्छित वर की प्राप्ति कब, कहां और किस प्रकार होगी इत्यादि पूछा। क्योंकि प्रेमान्ध जन याचना आदि से प्रगट होने वाली दीनता आदि की भी प्रायः परवाह नहीं करते। तदनुसार सुरमंजरी ने भी उस बूढ़े से ऐसा पूछते हुये लज्जा और अवि-वेक को ताक में रखते हुये जरा भी संकोच नहीं किया ॥२८॥

कामं कामप्रदं सो ऽ यं, कामदेवमुपादिशत् ।
मनीषितानुकूलं हि,प्रीणयेत्प्राणिनां मनः ॥२९॥

अन्वयार्थों—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, वृद्धः = बुड्ढा, कामदेवम् = कामदेव को, कामम् = अतिशय रूप, कामप्रदम् = इच्छाओं का पूर्ण करने वाला, उपादिशत् = बतलाता हुआ। नीति—हि = क्योंकि

मनीषितानुकूलम् = मनोरथ के अनुकूल उपाय का दिखाना, एव = हाँ, प्राणिनाम् = जीवों के, मनः = मन को, प्रीणयेत् = प्रसन्न करता है।

भावार्थः—उस वृद्ध ने उत्तर दिया कि 'कामदेव' की उपासना करने से तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। नीतिकार कहते हैं, कि इच्छानुकूल उपाय के प्रदर्शन से ही मनुष्यों का चित्त प्रसन्न होता है, तदनुसार उस वृद्ध ने सुरमंजरी को उसकी इच्छानुसार उपाय प्रदर्शित कर प्रसन्न किया ॥२६॥

मनीषितं च हस्तस्थं, मेने सा सुरमञ्जरी ।
मनोरथेन तृप्तानां, मूललब्धौ तु किम्पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—सा = वह सुरमञ्जरी, मनीषितम् = मनोरथ को, हस्तस्थम् = हाथ में आया हुआ, मेने = मानती हुई। नीतिः - हि = निश्चय से, मनोरथेन = विचारमात्र से, तृप्तानाम् = सन्तुष्ट होने वाले प्राणियों के, मूललब्धौ = मूल वस्तु के मिल जाने पर, पुन = तो फिर, किम् = कहना ही क्या है ? ॥३०॥

भावार्थः—वह सुरमंजरी वृद्ध के द्वारा दिये गये आश्वासन से ही अपने मनोरथ को हस्तगत मानने लगी। नीतिकार का कहना है, कि जो प्राणी नाना प्रकार की मानसिक उमङ्गों से ही खुश होते हैं, उन्हें कदाचित् इच्छित वस्तु ही मिल जावे तब तो उनकी खुशी का पारावार नहीं रहता ॥३०॥

अनैषीत्तामसौ पश्चात्, कामकोष्ठं यथेप्सितम् ।
विचाररूढकृत्यानां, व्यभिचारः कुतो भवेत् ॥३१॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, असौ = यह बूढ़ा, ताम् = उस सुरमजरी को, यथेप्सितम् = पूर्व निश्चित, कामकोष्ठम् = *कामदेव के मन्दिर को, अनैषीत् = ले गया। नीतिः—हि = क्योंकि, विचाररूढ-

---

* जैनसिद्धान्ते तु = कामस्य काममन्दिरस्य वा सत्ताया अपि स्वीकरणं नास्ति। तत्र काम = विषयाभिलाषः, नातस्तन्मन्दिरमर्हति।

कृत्यानाम् = विचारपूर्वककार्य करने वालों के (कार्यसिद्धौ = कार्य की सिद्धि में) व्यभिचार: = प्रतिबन्ध, कुत: = कैसे, भवेत् = हो सकता है ? ॥३१॥

भावार्थ —उपाय निश्चित होने के बाद वह वृद्धा उस सुरमंजरी को किसी काम-मन्दिर में ले गया। ठीक ही है, क्योंकि विचार पूर्वक कार्य करने वालों की इच्छापूर्ति होने में कोई रुकावट नहीं होती। तदनुसार उस वृद्ध ने भी बड़े विचार के साथ उस सुरमंजरी को ऐसा उपाय बतलाया जिससे उसके कार्य की सिद्धि में जरा भी संदेह नहीं रहा ॥३१॥

कामं सा प्रार्थयामास, जीवकस्वामिकाम्यया।
जन्मान्तरानुबन्धौ हि, रागद्वेषौ न नश्यत: ॥३२॥

अन्वयार्थौ—तत्र = उस काममन्दिर में, सा = वह सुरमजरी जीवकस्वामिकाम्यया = जीवन्धर स्वामी की चाह से, कामम् = कामदेव से, प्रार्थयामास = प्रार्थना करने लगी। नीति —हि = निश्चय से जन्मान्तरानुबन्धौ = जन्म जन्मान्तर से सम्बद्ध, रागद्वेषौ = राग और द्वेष, न नश्यत: = नष्ट नही होते ॥३२॥

भावार्थ.—उस काम-मन्दिर में पहुँच कर सुरमजरी ने प्रार्थना की, कि हे देव ! आपके प्रसाद से मुझे जीवन्धर पति की प्राप्ति हो। ठीक ही है, क्योंकि जो राग और द्वेष जन्मान्तर से प्राणी के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं, वे प्राय: सहसा नष्ट नहीं किये जा सकते। तदनुसार सुरमंजरी को भी जीवन्धर के साथ जो अतिशय अनुराग था, वह उसके पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखता था अत: वह सुरमंजरी के अन्त:करण से दूर नहीं हुआ था ॥३२॥

लब्धो वर इति प्रोक्तं, बुद्धिषेणेन सा सती।
मनोभुवो वचो मेने, स्त्रीणां मौढ्यं हि भूषणम् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—तदा = तब, सा = वह, सती = उत्तम कन्या सुरमंजरी, त्वया = तूने, वरः = वर, लब्ध = पा लिया, इति = इस प्रकार, बुद्धिषेणेन = बुद्धिषेणनामक विदूषक के द्वारा, प्रोक्तम् = कहे हुये वचन को, मनोभुवः = कामदेव का, वच. = वचन, मेने = समझी। नीति.–हि = क्योंकि, मौढ्यम् = मूर्खता, स्त्रीणाम् = स्त्रियो का, भूषणम् = भूषण, एव = ही (अस्ति = है) ॥३३॥

भावार्थः—उस समय जीवन्धर स्वामी का इष्टमित्र बुद्धिषेण नामक विदूषक पहिले से ही काम-मन्दिर में जाकर छिप गया था। जब सुरमंजरी ने वर की प्रार्थना की तब छिपे हुये विदूषक ने कहा कि तुझे वर प्राप्त हो चुका है–अर्थात् तुम्हारा वर यही है जो तुम्हारे साथ है। तब उस भोली सुरमंजरी ने भी उस विदूषक के वचन को कामदेव का ही कहा हुआ मान कर 'मूर्खता स्त्रियों का भूषण है' इस नीति को चरितार्थ किया ॥३३॥

कुमारं दर्शिताकारं, दृष्ट्वा जिह्राय तत्क्षणे।
मृतकल्पा हि कल्पन्ते, निर्लज्जा निष्कृपा इव ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, सा = वह सुरमंजरी, तत्क्षणे = उसी समय, कुमारम् = जीवन्धरकुमार को, दर्शिताकारम् = असली आकार सहित, दृष्ट्वा = देखकर, जिह्राय = लज्जित हो गई। नीति —हि = क्योंकि, निर्लज्जा = लज्जा रहित प्राणी, निष्कृपाः इव = निर्दय प्राणी की तरह, मृतकल्पा. = मरे हुये के समान, कल्पन्ते = माने जाते हैं ॥३४॥

भावार्थः—उस वचन के सुनते ही जीवन्धर ने अपना भेष बदल लिया। तब उसे जीवन्धर स्वामी जान कर वह सुरमंजरी बहुत लज्जित हुई। ठीक ही है, क्योंकि निर्लज्ज मनुष्य दयाहीन जन की तरह मृतक के समान माने जाते हैं। अतएव कुल की मर्यादा को रखने वाली उस सुरमंजरी का लज्जित होना उचित ही था ॥३४॥

पतिकृत्येन पत्नीं तां, सुतरां सो ऽप्यतोपयत् ।
संसारोऽपि हि सारः स्याद्, दम्पत्योरेककण्ठयोः ॥३५॥

अन्वयार्थो—सः = वह जीवन्धर, अपि = भी, पतिकृत्येन = पति के कर्त्तव्य द्वारा, ताम् = उस,पत्नीम् = स्त्री को, सुतराम् = अत्यन्त, अतोपयत् = सतुष्ट करता हुआ । नीति.–हि = निश्चय से, दम्पत्यो = स्त्री पुरुष के, एककण्ठयो = एक मन होने पर, ससार = ससार, अपि = भी, सार = सारभूत, स्यात् = हो जाता है ॥३५॥

भावार्थ—जीवन्धर ने भी अपना अनुकूल प्रेम प्रगट कर उस सुरमंजरी को प्रसन्न किया, अर्थात् सम्बन्धार्थ अपनी अनुकूलता प्रगट की । ठीक ही है, क्योंकि यदि पति पत्नी का एक मन हो तो संसार भी सारभूत मालूम होने लगता है । अतएव सम्बन्ध होने के पूर्व प्रकृत वर वधू ने अपने मन का मिलान किया ॥३५॥

ततः कुवेरदत्तेन, दत्तां, तां सुरमञ्जरीम् ।
सुमतेरात्मजां सोऽय—मुपयेमे यथाविधि ॥३६॥

अन्वयार्थो—तत = इसके बाद, स = प्रसिद्ध, अयम् = यह जीवन्धर, कुवेरदत्तेन = कुवेरदत्त के द्वारा, दत्ताम् = दी गई, सुमते = सुमति की, आत्मजाम् = सुपुत्री ताम् = उस, सुरमजरीम् = सुरमजरी को, यथाविधि = विधिपूर्वक, उपयेमे = व्याहता हुआ ॥३६॥

भावार्थ—दोनों का मन मिल जाने पर कुवेरदत्त के द्वारा प्रदत्त सुमति की सुपुत्री सुरमजरी को जीवन्धरकुमार ने विधि-पूर्वक वरण किया ॥३६॥

॥ इति नवमो लम्बः समाप्तः ॥



अथ दशमो लम्बः

अथ पाणिगृहीतां तां, बहु मेने बहुप्रियः।
बहुयत्नोपलब्धे हि, प्रेमबन्धो विशिष्यते ॥१॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके बाद बहुप्रियः = अनेक स्त्रियों के स्वामी (जीवन्धर) पाणिगृहीताम् = व्याही हुई, ताम् = उस सुरमञ्जरी को, बहु = अधिक, मेने = मानने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, बहुयत्नोपलब्धे = बहुत प्रयत्न से प्राप्त की हुई (वस्तुनि = वस्तु में) प्रेमबन्धः = प्रेम का सम्बन्ध, विशिष्यते = विशेषरूप से होता है ॥१॥

भावार्थ—जो वस्तु अधिक कठिनाई से प्राप्त की जाती है; उस पर मनुष्य का प्रायः स्वभाव से ही अधिक प्रेम हो जाता है, यही कारण है कि—जीवन्धर ने सुरमञ्जरी को बहुत परिश्रम से पाया था, इसीलिये उनकी प्रीति भी उस पर अधिक हुई ॥१॥

कृच्छ्रेणाराध्य तां भूयो, मित्राणां पार्श्वमाश्रितः।
स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं, कुलजानां कुतो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थो—भूयः = फिर (जीवन्धर) ताम् = उस सुरमञ्जरी को, कृच्छ्रेण = बहुत कठिनाई से, आराध्य = समझा कर, मित्राणाम् = मित्रों के, पार्श्वम् = पास, आश्रितः = आये। नीतिः—हि = क्योंकि, कुलजानाम् = कुलीन स्त्रियों के, स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वम् = अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्ति, कुतः = कैसे, भवेत् = हो सकती है ॥२॥

भावार्थः—कुलीन स्त्रियां अपने स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल प्रवृत्ति कभी नहीं करतीं, इसीलिये जीवन्धर स्वामी जब सुरमञ्जरी के पास से जाने के लिये तैयार हुये, तब यद्यपि

उसे बहुत रंज हुआ तौ भी वह जीवन्धर स्वामी के समझाने से शान्त हो गई। इसके बाद जीवन्धर वहां से वापिस होकर अपने मित्रों के पास आ गये ॥२॥

सचित्रीयैस्तदा मित्रैः, पित्रोरन्तिकमभ्ययौ ।
आत्मदुर्लभमन्येन, सुलभं हि विलोचनम् ॥३॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर) तदा = उस सुरमंजरी से विवाह करने के बाद, सचित्रीयै = आश्चर्य सहित, मित्रैः सह = मित्रो के साथ, पित्रो = माता पिता के, अन्तिकम् = पास, आययौ = आये। नीति —हि = क्योंकि आत्मदुर्लभम् = अपने लिये कठिन, किन्तु = परन्तु, अन्येन = दूसरे से, सुलभम् = सुलभ (वस्तु = पदार्थ) विलोचनम् = आश्चर्य जनक, भवति = होता है।

भावार्थ.—जिस वस्तु का पाना अपने लिये कठिन होता है, वही वस्तु यदि दूसरे को आसानी से मिल जाय; तो मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। इसी कारण अपने लिये अप्राप्य सुरमञ्जरी का जीवन्धर के द्वारा वरण कर लेने से जीवन्धर के मित्रों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पश्चात जीवन्धरकुमार उन मित्रोंके साथ अपने माता पिताके पास आये।

पित्रोरप्यतिमात्रोऽभूत, पुत्रस्नेहोऽस्य वीक्षणात् ।
कस्यानन्दकरो न स्यात्, कृतान्तास्यादपागतः ॥ ॥

अन्वयार्थौ—अस्य = इस जीवन्धरकुमार के, वीक्षणात् = देखने से, पित्रो = माता पिता के, अपि = भी, अतिमात्र = अधिक, पुत्रस्नेहः = पुत्रप्रेम, अभूत = उत्पन्न हुआ। नीति —हि = क्योंकि, कृतान्तास्यात् = काल के मुख से, अपागत = बचा हुआ, पुत्र = पुत्र, कस्य = किस के, आनन्दकर = प्यारा, न भवेत् = नहीं होता ॥४॥

भावार्थ—इस लोक में मनुष्य को जब पुत्रमात्र ही आनन्ददायक होता है, तो फिर काल के मुह से बचे हुये पुत्र

के देखने से होने वाले आनन्द का तो कहना ही क्या है? इसी कारण दुष्ट काष्ठाङ्गार के चंगुल से बचे हुये सुपुत्र जीवन्धर के देखने से सुनन्दा और गन्धोत्कट के भी अपार आनन्द हुआ ॥४॥

ततो गन्धर्वदत्ता च, गुणमाला च वल्लभे ।
उल्लाघतां क्रमान्नीते, नीतिरेषा हि संसृतौ ॥५॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद (तेन = उस जीवन्धर के द्वारा) गन्धर्वदत्ता = गन्धर्वदत्ता, च = और, गुणमाला = गुणमाला) इमे= ये) वल्लभे = दोनो स्त्रियां, च = भी, क्रमात् = क्रम से, उल्लाघताम्= प्रसन्नता को, नीते = प्राप्त की गई । हि = क्योंकि, संसृतौ = संसार में, एषा = यह, नीतिः = नीति, एव = ही (अस्ति = है) ॥५॥

भावार्थ.—माता-पिता से मिलने के बाद उन जीवन्धर ने क्रम से अपनी प्राण-वल्लभा गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से मिल कर उन्हें भी सन्तुष्ट किया । क्योंकि यथायोग्य गुणों के अनुसार क्रम रखना संसार की नीति ही है । तदनुसार नीतिज्ञ जीवन्धर ने भी सर्व प्रथम अपने महान् उपकारक गन्धर्वदत्ता और गुणमाला को भी दर्शन देकर उन्हें भी यथोचित प्रेमालाप से आनन्दित किया ॥५॥

अथ गन्धोत्कटेनायं, स मन्त्रयित्वा ततो ययौ ।
विधित्सिते ह्यनुत्पन्ने, विरमन्ति न पण्डिताः ॥६॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अयम् = यह जीवन्धर, गन्धोत्कटेन सह = गन्धोत्कट के साथ, मन्त्रयित्वा = सलाह कर, ततः = उस राजपुरी से, ययौ = चला गया । नीतिः—हि=क्योंकि, पण्डिताः= बुद्धिमान मनुष्य विधित्सिते = करने के लिये इच्छित (कार्ये=कार्य के) अनुत्पन्ने = अपूर्ण रहने पर, न विरमन्ति = विश्राम नहीं लेते ॥६॥

भावार्थः—कुछ समय बाद जीवन्धरकुमार राज्य को वापिस लेने के विषय मे गन्धोत्कट के साथ सलाह कर उस राजपुरी नगरी से चल दिये। ठीक ही है, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य अपने इच्छित कार्य के पूर्ण न होने तक कभी विश्राम नहीं लेते, इसीलिये बुद्धिमान जीवन्धर भी अपने उद्दिष्ट कार्य की सिद्धि के निमित्त शीघ्र ही उस राजपुरी नगरी से प्रस्थान कर अन्यत्र चल दिये ॥६॥

विदेहाख्ये ततो देशे, धरण्यास्तिलकोपमाम् ।
तिलकान्तधरण्याख्यां, राजधानीमशिश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—तत =इसके बाद (जीवन्धर) विदेहाख्ये= विदेहनामक, देशे=देश में, धरण्या=पृथिवी के, तिलोकोपमाम् = तिलक के समान उत्तम, तिलकान्तधरण्याख्याम् = धरणीतिलकानामक, राजधानीम्=राजधानी को, अशिश्रयत्=प्राप्त हुये ॥७॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरीसे रवाना होकर विदेह देश की धरणीतिलका नामक राजधानी मे जा पहुँचे ॥७॥

महितो मातुलेनात्र, विदेहाधिपभूभुजा ।
भागिनेयो महाभागो, मह्यां केन न मह्यते ॥८॥

अन्वयार्थौ—अत्र=इस राजधानी में (स=वह जीवन्धर, स्वस्य=अपने) मातुलेन = मामा, विदेहाधिपभूभुजा=विदेह देश के राजा गोविन्दराज के द्वारा, महित =सत्कृत किया गया। नीति-हि=क्योंकि, महाभाग्य:=भाग्यशाली, भागिनेय =भानजा, मह्याम्= भूतल पर, केन=किसके द्वारा, न मह्यते=नही पूजा जाता? (किन्तु सर्वै=सब के द्वारा, एव=ही, मह्यते=पूजा जाता है) ॥८॥

भावार्थः—लोक मे अपने भानजे (बहिन के पुत्र) का सभी विशेष आदर करते हैं, तदनुसार जीवन्धर के मामा

विदेहदेश के राजा गोविन्दराज ने भी अपने भानजे जीवन्धर का विशेष आदर किया ॥८॥

आसीद्गोविन्दराजो ऽपि, तद्राज्यस्थापनोद्यतः ।
स्वयं परिणतो दन्ती, प्रेरितो ऽन्येन किम्पुनः ॥९॥

अन्वयार्थौ—गोविन्दराजः = गोविन्दराज, अपि = भी, तद्राज्यस्थापनोद्यतः = जीवन्धर के राज्य के वापिस कराने में प्रयत्नशील, आसीत् = थे। नीति—हि = क्योंकि, दन्ती = हाथी, स्वयम् = खुद, (एव = ही) परिणतः = उन्मत्त होकर तिरछे दांतों से प्रहार करने वाला (भवति = हुआ करता है), पुनः = फिर, अन्येन = दूसरे से, प्रेरितः = चिढाया हुआ (स्यात् = हो, तर्हि = तो) किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥९॥

भावार्थः—जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी स्वभाव से ही सूंड और तिरछे दांतों से प्रहार करता हुआ वृक्ष आदि के उखाड़ने में तत्पर रहा करता है और फिर यदि किसी से वह चिढ़ा दिया जाय तो उसका क्रोध और भी बढ जाता है, इसीलिये वह कभी कभी सघन जंगल के जंगल उखाड़ कर फेंक देता है। उसीप्रकार जो महाराज गोविन्दराज राज्य को पुनः स्थापित कराने के लिये स्वयं प्रयत्नशील थे, वे अब जीवन्धर से इस ओर प्रेरित किये जाने पर तो कमर कसकर ही तैयार होगये।

मन्त्रिभिः मन्त्रशालायां, मन्त्रयामास मन्त्रवित् ।
न ह्यमन्त्रं विनिश्चेयं, निश्चिते च न मन्त्रणम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—मन्त्रवित् = विचारशील (गोविन्दराज) मन्त्रशालायाम् = मंत्रशाला में, मन्त्रिभिः सह = मन्त्रियों के साथ, मन्त्रयामास = विचार करने लगा। नीति—हि = क्योंकि, अमन्त्रम् = विचार किये बिना (किम् = कोई, अपि = भी, कार्यम् = कार्य) न विनिश्चेयम् = निश्चय

नही करना चाहिये, तथा निश्चिते = निश्चित हो जाने पर, मन्त्रणम् = सलाह (अपि = भी) न कार्यम् = नही करना चाहिये ॥१०॥

भावार्थः—जब तक किसी कार्य से पर्याप्त विमर्श (विचार) न कर लिया जाय तब तक उस कार्य के करने का निश्चय नहीं करना चाहिये। साथ ही जिस कार्य के करने का समुचित तर्क-वितर्क पूर्वक निश्चय कर लिया गया हो, उस पर बार बार विचार भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से करणीय कार्य के विषय में उत्तरोत्तर सन्देह बढता जाता है और इस प्रकार अन्त में वह कार्य प्राय. नष्ट भी हो जाता है। तदनुसार चतुर राजनीतिज्ञ शासक महाराज गोविन्दराज ने 'दुष्ट काष्ठाङ्गार से किस प्रकार अपना राज्य वापिस कर लिया जाय ?' इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह के साथ एकान्त मे विचार किया ॥१०॥

काष्ठाङ्गारस्य सन्देशं, सचिवैः शुश्रुवानयम् ।
ज्ञात्वा हि हृदयं शत्रोः, प्रारब्धव्या प्रतिक्रिया ॥११॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह गोविन्दराज (तत्र = उस मन्त्रशाला में) सचिवैः = मन्त्रियो के द्वारा, काष्ठाङ्गारस्य = काष्ठाङ्गार के, सदेशम् = वक्ष्यमाण सदेश को, शुश्रुवान् = सुनता हुआ। नीति — हि = क्योकि, शत्रो = शत्रु के, हृदयम् = विचार को, ज्ञात्वा = जानकर (एव = ही) प्रतिक्रिया = प्रतीकार, प्रारब्धव्या = प्रारम्भ करना चाहिये ॥११॥

भावार्थः—अपने शत्रु के हृदय के विचार को जान कर ही बुद्धिमान मनुष्य को उसके प्रतीकार का उपाय प्रारम्भ करना चाहिये, इसीलिये राजा गोविन्दराज ने अपने मन्त्रियों से काष्ठाङ्गार के द्वारा भेजे गये निम्न सन्देश को भी सुना ॥११॥

अग्रेनाहमपख्याति, राजये मदहस्तिनि ।
लब्धवानवबुध्येत, मिथ्येयं तत्त्ववेदिना ॥१२॥

अन्वयार्थौ—राजघे = राजा के घातक, मदहस्तिनि सति = एक मदोन्मत्त हाथी के होने पर (अपि=भी) अघेन = अशुभ कर्म के उदय से, अहम् = मैं अपख्यातिम् = अपयश को, लब्धवान् = प्राप्त हुआ, (अस्मि=हूं) (अतएव = इसलिये) तत्त्ववेदिना = यथार्थ बात के जानकार आप के द्वारा, इयम् = यह बात, मिथ्या = झूठ, अवबुध्येत = समझना चाहिये ॥१२॥

भावार्थः—काष्ठाङ्गार के द्वारा प्रेषित पत्र में लिखा था, कि 'वास्तव में महाराज सत्यन्धर को बगीचे में क्रीडा करते हुये एक मदोन्मत्त हाथी ने मारा है, किन्तु पापकर्म के उदय से राजा के मारने के कलंक का टीका मेरे माथे लगा है। महाराज! आप वस्तुस्थिति के जानकार हैं, अत. निवेदन है कि आप जैसे तत्त्वज्ञ पुरुष इस (राजद्रोह-विषयिक) समाचार को अवश्य ही गलत समझें' इत्यादि ॥१२॥

निःशल्योऽहं भवाम्येष—भवत्यत्र समागते ।
दुर्जनेऽपि हि सौजन्यं, सुजनैर्यदि सङ्गमः ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अत्र=यहाँ, भवति = आपके, समागते = आने पर, एष = यह अपकीर्ति प्राप्त, अहम् = मैं, निःशल्यः = निश्चिन्त, भवामि = हो जाऊंगा। नीति —हि = क्योंकि, यदि = अगर, सुजनैःसह = सज्जनों के साथ, समागमः = समागम (स्यात् = हो, तर्हि = तो) दुर्जने = दुर्जन मनुष्य में, अपि = भी, सौजन्यम् = सज्जनता (समायाति = आ जाती है) ॥१३॥

भावार्थः—महापुरुषों की संगति से महान् पाप या अपयश भी शीघ्र नष्ट हो जाता है, इसलिये आप हमारे यहां पधारने की कृपा करें, जिससे मेरा राजघातक पने का [illegible] यश शीघ्र दूर हो जाय ॥१३॥

इत्युक्त्या निश्चितोऽराति—रतिसन्धित्सुरञ्जसा ।
असतां हि विनम्रत्वं, धनुषामिव भीषणम् ॥१४॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, उक्त्या = सदेश से, तैः = उन गोविन्दराज आदि के द्वारा, अराति. = शत्रु काष्ठाङ्गार, अञ्जसा = निश्चय से, अतिसन्धित्सु. = धोखा देने का इच्छुक, निश्चित. = निश्चित किया गया । नीतिः—हि = क्योंकि, असताम् = दुर्जनो का, विनम्रत्वम् = नम्र होना, धनुषाम् = धनुषो की, विनम्रत्वम् इव = नम्रता के समान, भीषणम् = भयङ्कर (भवति = होता है) ॥१४॥

भावार्थ—जिस प्रकार लक्ष्यवेध करने में तत्पर होने से, धनुष की नम्रता खतरनाक होती है, उसी प्रकार दुर्जनों की नम्रता भी परिणाम मे भयङ्कर होने से खतरनाक होती है। इसीलिये विचारवृद्ध गोविन्दराज आदि ने काष्ठाङ्गार की नम्रता-प्रदर्शन से उसे शीघ्र धोखा देने का इच्छुक ही निश्चित किया ॥१४॥

विप्रलम्भोत्सुके शत्रौ, कार्यान्धो ऽयमतप्यत ।
दुर्जनाग्रे हि सौजन्यं, कर्दमे पतितं पयः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—कार्यान्धः = अपने कार्य में लीन, अयम् = यह (गोविन्दराज) विप्रलम्भोत्सुके = धोखा देने में उत्सुक, शत्रौ = शत्रु काष्ठाङ्गार पर, अतप्यत = बहुत क्रोधित हुआ । नीति—हि = क्योंकि, दुर्जनाग्रे = दुष्ट के सामने, सौजन्यम् = सज्जनता, कर्दमे = कीचड में, पतितम् = गिरे हुये, पयः इव = दूधके समान (जायते = होती है) ।

भावार्थ—दुष्ट के सामने सज्जनता प्रगट करना कीचड़मे दूध डालने के समान व्यर्थ है। ऐसा निश्चय कर गोविन्दराज ने दुष्ट काष्ठाङ्गार के साथ सन्धि न कर युद्ध करना ही उचित समझा ॥१५॥

आहूतास्तेन साकूतं, गच्छामस्तच्छलाद्वयम् ।
इत्युच्चै निश्चिकायासौ, बकायन्ते हि जिष्णवः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—तेन=उस काष्ठाङ्गार के द्वारा, साकूतम्=किसी दुष्ट अभिप्राय पूर्वक, आहूता=बुलाये गये वयम्=हम लोग, तच्छलाद्=इसी निमित्त से (तत्र=वहां) गच्छाम=चलें, इति=इस प्रकार, असौ=यह गोविन्दराज, उच्चै =अटल, निश्चिकाय=निश्चय करता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, जिष्णव =विजय पाने के इच्छुक जन, बकायन्ते=बगुले के समान आचरण करते हैं ॥१६॥

भावार्थ—दुष्ट काष्ठाङ्गार के द्वारा साभिप्राय बुलाये जाने पर महाराज गोविन्दराज ने भी इसी छल से राजपुरी जाने का निश्चय किया। ठीक ही है, क्योंकि जयलक्ष्मी के इच्छुक राजाओं की प्रवृत्ति ठीक उस बगुले जैसी हुआ करती है, जो बाह्य मे ध्यानस्थ एवं शान्त मुद्रा का धारण करता हुआ भी अन्तरङ्ग अभिप्राय केवल अच्छी मछली की ओर ही रखा करता है। प्रकृत में महाराज गोविन्दराज ने भी इसी प्रकार अन्तरग मे काष्टांगार को मार कर जीवन्धर को राज्य-तिलक करने का अभिप्राय रख कर भी बाह्य मे काष्ठाङ्गार के बुलाने पर केवल मित्रतावश ही राजपुरी जाने का प्रयोजन प्रसिद्ध किया ॥१६॥

काष्ठाङ्गारेण सञ्जातं, सख्यं प्रख्यापयन्नसौ ।
डिण्डिमं ताडयामास, गते वार्ता हि पूर्वगा ॥१७॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गारेण सह=काष्ठाङ्गार के साथ, संजातम्=हुई, सख्यम्=मित्रता को, प्रख्यापयन्=घोषित करता हुआ, असौ=यह गोविन्दराज, डिण्डिमम्=ढिंढोरे को, ताडयामास=पिटवाता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, वार्ता=बात, गते=गमन के, पूर्वगा=पहिले पहुंचने वाली (भवति=होती है) ॥१७॥

भावार्थः—राजा गोविन्दराज ने ढिंढोरा पिटवा कर यह घोषणा भी करा दी, कि काष्ठाङ्गार के साथ हमारी मित्रता होगई है। क्योंकि समाचार की गति बडी तेज है,वह मनुष्य के पहुँचने से पहिले ही दूर दूर तक पहुँच जाया करता है। इसीलिये गोविन्दराज ने अपने पहुँचने के पूर्व ही अपनी मित्रता के समाचार को काष्ठाङ्गार के पास पहुँचाने का यह उपाय किया ॥१७॥

चातुरङ्गबलं पश्चा—च्चतुरोऽयं न्यशामयत् ।
आलोच्यात्मारिकृत्यानां, प्राबल्यं हि मतो विधिः ॥१८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=इसके बाद, चतुरः=चतुर, अयम्=यह गोविन्दराज, चातुरङ्गबलम्=चार प्रकार की सेना को, न्यशामयत्=तैयार करता हुआ। नीति–हि=क्योंकि, आत्मारिकृत्यानाम्=अपने शत्रु के कार्यों की, प्राबल्यम्=प्रबलता को, आलोच्य=विचार कर (एव=ही) विधिः=कार्य करना, मतः=उचित माना गया है ॥१८॥

भावार्थः—अपना शत्रु सेना और धन आदिक की अपेक्षा अपने से हीन ही क्यों न हो, फिर भी उसे अपनी अपेक्षा बड़ा और सबल मानने पर ही लाभ हो सकता है। इसीलिये गोविन्द राज ने काष्ठाङ्गार को अपने से बड़ा और बली मान कर उससे विजय पाने के लिये चतुरङ्ग सेना तैयार की ॥१८॥

प्रतस्थे चाथ सल्लग्ने, पात्रदानादिपूर्वकम् ।
दानपूजातपः शील–शालिनां किं न सिध्यति ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद (गोविन्दराज) सल्लग्ने=शुभ लग्न में, पात्रदानादिपूर्वकम्=पात्रदान और पूजा आदि माङ्गलिक कार्यपूर्वक (धरणीतिलका नगरी से) प्रतस्थे=रवाना हुये। नीति—हि=क्योंकि, दानपूजातपःशीलशालिनाम्=दान, पूजा, तप और शील से विभूषित मनुष्यों का, किम्=क्या, न सिध्यति=सिद्ध नहीं होता ॥१९॥

भावार्थः—निश्चित शुभ मुहूर्त में राजा गोविन्दराज पात्रदान आदि माङ्गलिक कार्य कर काष्ठाङ्गार के पास राजपुरी की ओर रवाना हो गये। ठीक ही है, क्योंकि, दान, पूजा तप और शील से विभूषित जनों के सभी काम नियम से सिद्ध हो जाते हैं, इसीलिये गोविन्दराज ने अपने प्रस्थान के पूर्व उक्त माङ्गलिक कार्य किये ॥१६॥

अथ राजपुरीं प्राप्य, राजा कैश्चित्प्रयाणकैः ।
निकषा तत्पुरीं क्वापि, निषसाद महाबलः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, महाबलः = विशाल सेना वाला, राजा = राजा गोविन्दराज, कैश्चित् = कुछ, प्रयाणकैः = पडाओ से, राजपुरीम् = राजपुरी नगरी को, प्राप्य = पहुँचकर, तत्पुरी निकषा = उस नगरी के पास, क्व = कही पर, निषसाद = ठहर गये ॥२०॥

भावार्थः—राजा गोविन्दराज रास्ते में अनेक पड़ाओं से मार्ग तय कर राजपुरी नगरी को पहुँचे और उसके समीप किसी सुरम्य स्थान मे ठहर गये ॥२०॥

प्राभृतं प्राहिणोत्तस्य, काष्ठाङ्गारो मुधा मुहुः ।
हन्त कापटिका लोके, बुधायन्ते हि मायया ॥२१॥

अन्वयार्थौ—काष्ठाङ्गारः = काष्ठाङ्गार, तस्य = उस गोविन्दराज के (समीपे = पास) मुधा = व्यर्थ (एव = ही) मुहुः = वार वार, प्राभृतम् = भेंट को, प्राहिणोत् = भेजता हुआ। नीतिः—हि = निश्चय से, हन्त = खेद की बात है (यत् = कि) लोके = ससार में, कापटिकाः = कपटी मनुष्य, मायया = छलकपट से, बुधायन्ते = विद्वानो के समान व्यवहार करते हैं ॥२१॥

भावार्थ.—कपटी जन माया के वशीभूत होकर बड़ा सरल व्यवहार करते हैं, इसीलिये वे भोले मनुष्यों के विश्वास-पात्र भी वन जाते हैं। तदनुसार गोविन्दराज का विश्वास-

पात्र बनने के विचार से काष्ठाङ्गार ने भी उनके पास बार बार भेंट (डालियां) भेज कर अपनी मिथ्या सफलता प्रगट की ॥२१॥

प्रतिप्राभृतमेतस्मै, प्राहैषीत्स्वामिमातुलः ।
आ समीहितनिष्पत्ते-राराध्याः खलु वैरिणः ॥२२॥

अन्वयार्थौ—स्वामिमातुल = जीवन्धर स्वामी के मामा, अपि = भी, एतस्मै = इस काष्ठाङ्गार के लिये, प्रतिप्राभृतम् = भेंट के बदले भेंट, प्राहैषीत् = भेजता हुआ । नीति.—खलु = क्योंकि, वैरिणः = शत्रु, आसमीहितनिष्पत्ते. = अपने मनोरथ की सिद्धि पर्यन्त, आराध्या. = प्रसन्न करने योग्य (वरीवर्तन्ते = होते हैं) ॥२२॥

भावार्थः—जब तक अपना मतलब पूर्ण न हो तब तक अपने शत्रु को भी प्रसन्न रखना आवश्यक होता है, अतएव राजा गोविन्दराज ने भी अपना मतलब हल करने के लिये शत्रु काष्ठाङ्गार को भी प्रसन्न करना उचित समझा। इसीलिये उसने भी काष्ठाङ्गार के पास बदले में अनेक बार भेटें (डालियां) भेजीं ॥२२॥

कन्याशुल्कतया लोके, यन्त्रभेदमघोषयत् ।
उपायप्रष्ठरूढा हि, कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः ॥२३॥

अन्वयार्थौ—(गोविन्दराज) लोके = ससार में, कन्याशुल्कतया = कन्या के मूल्यरूप से, यन्त्रभेदम् = चन्द्रक यन्त्र के भेदन को, अघोषयत् = घोषणा करता हुआ, नीति —हि = क्योंकि, उपायप्रष्ठरूढा = उत्तम उपायो से प्रसिद्ध मनुष्य, कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः = कार्य को पूर्ण करने में रुकावट रहित (भवन्ति = होते हैं) ॥२३॥

भावार्थः—राजपुरी पहुँच कर गोविन्दराज ने देश देशान्तरों में यह घोषणा करा दी; कि जो व्यक्ति चन्द्रक यन्त्र का भेदन करेगा, उसे मैं अपनी कन्या ब्याह दूंगा। ठीक ही

है, क्योंकि उत्तम उपायों के जानकार मनुष्यों के कार्य पूर्ण होने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, तदनुसार उपाय के जानकार गोविन्दराज को भी अपने कार्य की सिद्धि के लिये यह सुगम उपाय सूझा, जो परिणाम में सफल ही हुआ ॥२३॥

धनुर्धराश्च सम्भूता—स्त्रैवर्णिककुलोद्भवाः ।
आमोहो देहिनामास्था—मस्थानेऽपि हि पातयेत् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—(तत = इसके बाद) त्रैवर्णिककुलोद्भवा = तीनों वर्णों के कुल में उत्पन्न, धनुर्धरा = धनुर्धारी (तत्र = वहाँ पर) संभूताः = इकट्ठे हो गये । नीतिः—हि = क्योंकि, आमोह = थोड़ा भी मोह, देहिनाम् = प्राणियों की, आस्थाम् = प्रवृत्ति या बुद्धि को, अस्थाने = अयोग्य स्थान या कार्य में, अपि = भी, पातयेत् = गिरा देती है ॥२४॥

भावार्थ.—थोड़े से भी मोह के होने से मनुष्य अपने हिताहित का विचार नहीं कर पाता, यह बात आगम प्रसिद्ध और अनेक दृष्टान्तों से अनुभव की हुई है । परन्तु खेद है कि ऐसा होने पर भी प्राणी अवसर पाकर उस मोह के वशीभूत हो ही जाता है । तदनुसार कन्या की प्राप्ति के मोह से अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने भावी अनादर की चिन्ता न कर उसको वरने की चाह से स्वयंवर मण्डप में आ डटे ॥२४॥

ततश्चन्द्रकयन्त्रस्थ — वराहत्रय — भेदने ।
न शेकुश्चापिनः सर्वे, क्व विद्या पारगामिनी ॥२५॥

अन्वयार्थौ—तत = इसके बाद, सर्वे = समस्त, चापिन. = धनुर्धारी, चन्द्रकयन्त्रस्थवराहत्रयभेदने = चन्द्रकयन्त्र पर बने हुये तीन सूकरों को वेधने के विषय में, न शेकु. = समर्थ नहीं हुये । नीति — हि = क्योंकि, पारगामिनी = परिपूर्ण, विद्या = शिक्षा, क्व = कहाँ, (वरीवर्तते = होती है ?) ॥२५॥

भावार्थः—परिपूर्ण विद्या सभी मे नहीं होती–विरले मे ही हुआ करती है। इसीलिये वहां पर आये हुये स्वल्प–शस्त्र–शिक्षा–सम्पन्न बहुत से धनुर्धारियों में एक भी व्यक्ति उस चन्द्रक यंत्र पर बने हुये शूकरत्रय को भेदन करने में समर्थ नहीं हुआ।

अलातचक्रतः शीघ्रं, चक्रमारुह्य हेलया।
विव्याध विजयासूनु–र्भानुः किन्न तमोहरः ॥२६॥

अन्वयार्थौ—(किन्तु) विजयासूनु=विजया रानी के सुपुत्र जीवन्धर, हेलया=खिलवाड से (एव=ही), अलातचक्रत=अग्निसहित अङ्गारयन्त्र से, शीघ्रम्=शीघ्र, चक्रम्=उस चन्द्रकयंत्र पर, आरुह्य=चढ कर, वराहत्रयम्=तीनो सूकरो को, विव्याध=भेदता हुआ। नीति—हि=क्योकि, भानुः=सूर्य, तमोहरः=अन्धकार का नाशक, न भवति किम्=नहीं होता है क्या? (किन्तु भवत्येव) ॥२६॥

भावार्थः—जैसे, जिस अन्धकार को अन्य तारे आदि नष्ट नहीं कर सकते, उसे सूर्य तो नष्ट कर ही देता है, उसी प्रकार जिस वराहत्रय को अन्य धनुर्धारी न भेद सके थे, उसे जीवन्धर ने बिना किसी परिश्रम के खिलवाड़ से ही उस चन्द्रक यंत्र पर चढ़ कर शीघ्रता से एक बाण द्वारा भेद डाला ॥२६॥

अथ गोविन्दराजोऽपि, राज्ञामित्थमचीकथत्।
सात्यन्धरिरियं हीति, स्थाने हि कृतिनां गिरः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, गोविन्दराजः=गोविन्दराज, अपि=भी, अयम्=यह, सत्यन्धर महाराज का पुत्र, अस्ति=है, इति=इस प्रकार, राज्ञाम्=अन्य राजाओं से, अचीकथत्=कहता हुआ। नीतिः—हि=क्योकि, कृतिनाम्=बुद्धिमानो के, गिरः=वचन, स्थाने=योग्य स्थान या समय में, एव=ही (निःसरन्ति=निकलते हैं) ॥२७॥

भावार्थः—बुद्धिमान मनुष्य सर्वथा उचित स्थान और समय को देख कर ही विशेष बातों को प्रगट किया करते हैं, इसीलिये राजा गोविन्दराज ने भी जीवन्धर के विजयलाभ के सर्वथा योग्य समय को देख कर उपस्थित सभी राजाओं के समक्ष यह प्रगट कर दिया, कि चन्द्रक यंत्र मे स्थित वराहत्रय का भेदन करने वाला महापुरुष स्वर्गीय महाराज सत्यन्धर का सुपुत्र जीवन्धर है ॥२७॥

राजानोऽप्येवमस्माभि—रस्मारीत्यभ्यनन्दिषुः ।
आचष्टे हि नरेन्द्रत्व–मालीढादिषु पाटवम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—(तदा=तब) एवम् = इसी प्रकार, अस्माभिः = हम लोगों के द्वारा, अपि = भी, अस्मारि = सम्भावना की गई थी, इति = इस प्रकार, राजान. = अन्य राजा लोग (अपि = भी) अभ्यनन्दिषु. = तारीफ करने लगे । नीति.—हि=क्योंकि, आलीढादिषु = आलीढ, प्रत्यालीढ, समपाद, वैशाख और मण्डल धनुर्धारियो के इन अवस्थान भेदों (पैतरों) में, पाटवम् = चातुर्य (अस्य = इस जीवन्धर के) नरेन्द्रत्वम् = क्षत्रियपुत्रत्व को,आचष्टे = सूचित करता है ॥२८॥

भावार्थः—महाराज गोविन्दराज द्वारा जीवन्धर का उपर्युक्त परिचय दिये जाने पर सभामण्डप में स्थित अन्य राजा लोग भी इसकी विशेष प्रशंसा करते हुये बोले, कि हे राजन् ! इसकी पैंतरे बदलने आदि की चतुरता को देख कर हम लोगों ने भी इसके क्षत्रिय-पुत्रत्व का अनुमान कर लिया था । क्योंकि अतिशीघ्रता के कारण साधारण पुरुषों की दृष्टि में भी न आने योग्य धनुष की डोरी का चढ़ाना; उस पर बाण का रखना और शीघ्रता से छोड़ना-इत्यादि बातें क्षत्रिय-पुत्र के बिना अन्य मे प्रायः असम्भव ही होती हैं ॥२८॥

काष्ठाङ्गारः कुमारस्य, वीक्षणात्क्षीणमानसः ।
तच्छ्रुते मृतकल्पोऽय—मनल्पाधिरचिन्तयत् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—कुमारस्य = जीवन्धरकुमार के, वीक्षणात् = देखने से, क्षीणमानस = मन में खेद को प्राप्त हुआ, अयम् = यह, काष्ठाङ्गार = काष्ठाङ्गार, तच्छ्रुतेः = गोविन्दराज की बात सुनने से, मृतकल्पः = मरे हुये के समान, अनल्पाधिः = अत्यन्त मानसिक दुःख से दुखी, (सन् = होता हुआ, एवम् = निम्नप्रकार) अचिन्तयत् = विचार करने लगा ॥२९॥

भावार्थः—जीवन्धरकुमार के दर्शनमात्र से ही जिस काष्ठाङ्गार का मन शङ्कित हो गया था, वह अब गोविन्दराज के द्वारा जीवन्धर के राजपुत्रत्व का परिचय पाकर तो मरे हुये के समान असह्य हार्दिक-पीड़ा का अनुभव करता हुआ निम्न-प्रकार विचार करने लगा ॥२९॥

सात्यन्धरौ च सत्यस्मिन्, सद्यो हन्त वयं हताः ।
वीरेण हि मही भोग्या, योग्यतायां च किम्पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हन्त = हाय, अस्मिन् = चन्द्रकयन्त्रभेदक इस कुमार के, सात्यन्धरौ = सत्यन्धर महाराज के सुपुत्र, सति = होने पर, (तु = तो) वयम् = हम लोग, सद्यः = शीघ्र, हता = मारे गये । नीतिः— हि = क्योंकि, मही = पृथिवी, वीरेण = वीर मनुष्य से, भोग्या = भोगने योग्य (भवति = होती है) पुन = फिर, योग्यतायाम् = विशेष योग्यता के होने पर (तु = तो) किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥३०॥

भावार्थ.—काष्ठाङ्गार विचार करने लगा, कि यदि सच-मुच ही यह सत्यन्धर महाराज का पुत्र है, तब तो हमें अपने का मरा ही समझना चाहिये । क्योंकि पृथिवी स्वभाव से ही वीर पुरुष के भोगने योग्य होती है और फिर उसमें राज्यशासन

करने की विशेष योग्यता के होने पर तो इसमें संदेह भी नहीं रहता। प्रकृत में हम देख रहे हैं—कि दुर्भेद्य चन्द्रक यंत्र का अनायास ही भेदन करने वाला यह कुमार जैसा शूर वीर है, उससे भी कहीं अधिक राज्यसूत्र संचालन करने की योग्यता भी रखता है। अतएव इसके होते हुये हमारा राज्य करना तो असंभव है ही, साथ ही अपने जीवित रहने में भी सन्देह है।

कथमेनं वणिक्पाशं, मथनोऽप्यवधीत्तदा ।
आत्मनीनं विनात्मान-मञ्जसा न हि कश्चन ॥३१॥

अन्वयार्थो—तदा = उस समय, मथन. = मथन ने, अपि = भी, एनम् = इस, वणिक्पाशम् = नीच बनिये को, कथम् = कैसे, अवधीत् = मारा था। नीति.—हि = क्योंकि, आत्मनीनं = अपने हितकर कार्य में, आत्मानं विना = अपने विना, कश्चन = कोई दूसरा, अञ्जसा = सच्चा, हित. = हितकारी, न स्यात् = नहीं होता ॥३१॥

भावार्थः—मृत्युदण्ड की आज्ञा देने पर मेरे साले मथन ने भी इसे जीवित ही छोड़ दिया। मालूम होता है कि वास्तव में अपने बिना दूसरा कोई भी अपना हितकर नहीं है। यदि ऐसा न होता तो मेरा साला भी मथन मुझे धोखे में रख इसे यों ही जीता छोड़ कर मुझे इस घोर संकट में न डालता ॥३१॥

दुराकूतः किमाहूतो, मातुलोऽस्य मया मुधा ।
स्ववधाय हि मूढात्मा, कृत्योत्थापनमिच्छति ॥३२॥

अन्वयार्थो—मया = मेरे द्वारा, अस्य = इस जीवन्धर का, दुराकूतः = दुष्ट अभिप्राय रखने वाला, मातुल. = मामा, किम् = क्यों, आहूत. = बुलाया गया। नीतिः—हि = निश्चय से, मूढात्मा = मूर्ख मनुष्य, स्ववधाय = अपने नाश के लिये (स्वयम्) कृत्योत्थापनम् = वेताल (व्यन्तरविशेष) के जगाने को, इच्छति = इच्छा करता है ॥३२॥

भावार्थ—मैंने (काष्ठाङ्गार ने) इस जीवन्धर के मामा दुष्ट गोविन्दराज को भी अपने यहां व्यर्थ बुलाया। ठीक ही है, क्योंकि मनुष्य मूर्खतावश ऐसी अनिष्ट सामग्री को इकट्ठा किया करता है, जो परिणाम में अपने लिये ही हानिकारक सिद्ध होती है। तदनुसार मैंने इस कपटी, दुर्दान्त गोविन्दराज को यहां बुला कर अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी पटकी है (या व्यन्तर बुलाया है) मैं नहीं जानता था ? कि यह गोविन्दराज राजद्रोह-जनित अपयश को दूर करने के बदले मेरे प्राणों का ही घातक बन कर यहां आवेगा ॥३२॥

गोविन्दराजयुक्तोऽयं, दुर्दान्तः किं विधित्सति।
मरुत्सखे मरुद्धूते, मह्यां किं वा न दह्यते ॥३३॥

अन्वयार्थौ—गोविन्दराजयुक्तः=गोविन्दराज सहित, अयम्=यह, दुर्दान्तः=कठिनाई से दबाया जा सकने वाला जीवन्धर, किम्=क्या, विधित्सति=करेगा ? नीति—हि=क्योंकि, मरुत्सखे=अग्नि के, मरुद्धूते सति=हवा से प्रज्वलित होने पर, मह्याम्=पृथ्वी पर, किं वा=कौन कौन वस्तु, न दह्यते=नहीं जलती है (किन्तु, सर्वं दह्यते) ॥३३॥

भावार्थः—जिस प्रकार अग्नि वस्तुओं को स्वयं ही जलाती है और फिर यदि उसे ज़ोरदार हवा भी सहायक मिल जाय तो कहना ही क्या है, उसी प्रकार प्रथम तो यह जीवन्धर अकेले ही मुझे राजपद से च्युत करने को समर्थ है, तो फिर गोविन्दराज के सहायक हो जाने पर कहना ही क्या है ? ॥३३॥

इति चिन्ताकुलं शत्रुं, स्वामिमित्राणि चिक्षिपुः।
विपदो वीतपुण्यानां, तिष्ठन्त्येव हि पृष्ठतः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—स्वामिमित्राणि=जीवन्धर स्वामी के मित्र, इति=पूर्वोक्त प्रकार, चिन्ताकुलम्=चिंतातुर, शत्रुम्=शत्रु काष्ठाङ्गार

को, चिक्षिपु=भडकाते हुये। नीति.—हि=क्योंकि, विपद=आपत्तियां, वीतपुण्यानाम्=पुण्यहीन जनों के, पृष्ठत:=पीछे, तिष्ठन्ति एव= लगी ही रहती हैं ॥३४॥

भावार्थः—बेचारा काष्ठाङ्गार इधर तो उपर्युक्त चिन्ता से व्याकुल था और उधर जीवन्धर के मित्रों ने उसे बार बार चिढ़ा कर जले पर नमक छिटकने का काम किया। ठीक ही है, क्योंकि पुण्य क्षीण होने पर मनुष्य के पीछे विपत्तियां रहा ही करती हैं। प्रकृत मे काष्ठाङ्गार का पुण्य अब क्षीण हो चुका था, अतएव उसके भी चारों तरफ से विपत्तियां आने लगीं ॥३४॥

मत्सरी कौरवेणायं, भर्त्सनाद्युयुत्सत ।
मत्सराणां हि नोदेति, वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम् ॥३५॥

अन्वयार्थौ—मत्सरी=क्रोधी अथवा दूसरे के उत्कर्ष में द्वेष करने वाला, अयम्=यह काष्ठाङ्गार, भर्त्सनात्=चिढाने के कारण, कौरवेण सह=कुरुवंशी जीवन्धर के साथ, अयुयुत्सत=युद्ध करने की इच्छा करने लगा। नीति—हि=क्योंकि, मत्सराणाम्=क्रोधी पुरुषों के, वस्तुयाथात्म्यचिन्तनम्=वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार, न उदेति= नहीं होता है ॥३५॥

भावार्थः– क्रोधी अथवा दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकने वाले जनों के अपने हिताहित का विवेक भी नहीं होता, तदनुसार जीवन्धर के मित्रों द्वारा चिढ़ाये जाने पर काष्ठाङ्गार की क्रोधाग्नि भभक उठी थी, अतएव उसने भविष्य मे होने वाले अपने अहित का भी विचार न कर जीवन्धर के साथ युद्ध करने का निश्चय किया ॥३५॥

केचित्कौरवतः केचिद्, वैरितोऽप्यभवन्नृपाः ।
सुजनेतरलोकोऽय—मधुना न हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—(युद्धे = युद्ध में) केचित् = कोई, नृपा = राजा, कौरवत = जीवन्धरकुमार के पक्ष में (च = और) केचित् = कोई, वैरित: = शत्रु के पक्ष में, अभवन् = हो गये । नीतिः— हि = क्योंकि, अयम् = यह, सुजनेतरलोक. = सज्जनों और दुर्जनो का पक्षपाती जन-समुदाय, अधुना = अभी, न जायते = नही हुआ है (किन्तु, पूर्वतः एवागतः = पेश्तर से ही चला आया है) ॥३६॥

भावार्थः-- इस संसार मे कुछ मनुष्य सज्जनों के और कुछ दुर्जनों के पक्षपाती सदा से होते आये हैं, तदनुसार प्रकृत युद्ध के समय कुछ विशिष्ट राजा तो जीवन्धर के पक्ष में और कुछ निकृष्ट दुर्जन राजा, काष्ठाङ्गार के पक्ष में हो गये ॥३६॥

कौरवो ऽप्याहवे ऽरातिं, लोकान्तरमजीगमत् ।
दुर्बला हि बलिष्ठेन, बाध्यन्ते हन्त संसृतौ ॥३७॥

अन्वयार्थौ— कौरव. = कुरुवंशी जीवन्धर, आहवे = युद्ध में अरातिम् = शत्रु काष्ठाङ्गार को, लोकान्तरम् = परलोक को, अजीगमत् = पहुँचाता हुआ । नीति.—हि = क्योंकि, हन्त = खेद की बात है (यत् = कि) संसृतौ = संसार में, दुर्बला = दुर्बल प्राणी, बलिष्ठेन = बलवान् प्राणी के द्वारा, बाध्यन्ते = सताये जाते हैं ॥३७॥

भावार्थः—इस लोक में दुर्बल प्राणी बलवानों के द्वारा सताये ही जाते हैं, तदनुसार युद्ध में बलवान जीवन्धर ने भी निर्बल काष्ठाङ्गार को उसकी दुष्टता के कारण यमलोक पहुँचा दिया।

अथ संग्रामसंरम्भं, कौरवो ऽयमवारयत् ।
मुधावधादभीत्या हि, क्षत्रिया व्रतिनो मताः ॥३८॥

अन्वयार्थौ—अथ = काष्ठाङ्गार के मर जाने के बाद, अयम् = यह, कौरव = कुरुवंशी जीवन्धर, संग्रामसंरम्भम् = युद्ध के इरादे को, अवारयत् = बंद करता हुआ । नीति - हि = क्योंकि, क्षत्रिया = क्षत्रिय

लोग, मुधावधादिभीत्या = निष्प्रयोजन हिंसादिक पाचों पापों के डर से, व्रतिनः = व्रती, मताः = माने गये हैं ॥३८॥

भावार्थः—क्षत्रिय लोग निष्प्रयोजन हिंसादिक पाप नहीं करते, इसीलिये काष्ठाङ्गार के वध-स्वरूप अपना प्रयोजन हल हो जाने पर विवेकी जीवन्धर ने भी युद्ध बिलकुल रोक दिया ॥३८॥

वीरसूः विजया जाता, वीरपत्नी च मे सुता ।
इत्युक्त्वा मातुलोऽप्येन-मानन्दादभ्यनन्दयत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—(मे = मेरी, भगिनी = बहिन) विजया = विजया, वीरसूः = वीर पुत्र को पैदा करने वाली, च = और, सुता = पुत्री, वीर पत्नी = वीर पति वाली, जाता = हुई, इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कह कर, मातुल. = मामा गोविन्दराज, अपि = भी, आनन्दात् = खुशी से, एनम् = इस जीवन्धर को, अभ्यनन्दयत् = प्रशंसित करता हुआ ॥३९॥

भावार्थः—"हे भगिनीसुत ! आज आपकी विजय से मेरी बहिन विजया तो वीरमाता और पुत्री वीरभार्या हुई" इस प्रकार कहते हुये मामा गोविन्दराज ने भी खुशी से जीवन्धर का अभिनन्दन किया ॥३९॥

समन्ततः समायाताः, सामान्तास्तं सिषेविरे ।
समौ हि नाट्यसभ्यानां, सम्पदां च लयोदयौ ॥४०॥

अन्वयार्थौ—समन्ततः = चारों ओर से, समायाताः = आये हुये, सामन्ता = अपने राज्य से लगे हुये देशों के राजा, तम् = उस जीवन्धर को, सिषेविरे = सेवने लगे । नीतिः— हि = क्योंकि, नाट्यसभ्यानाम् = नाटक के दर्शकों के, सम्पदाम् = सम्पत्तियों का, लयोदयौ = हानि और वृद्धि, समौ = समान (भवतः = होती हैं) ॥४०॥

भावार्थः—जिस प्रकार नाट्यसभा के सभ्यों (दर्शकों) के हृदय में, नाटक में दिखलाये जाने वाले किसी एक के अभ्युदय

और दूसरे की हानि को देखते हुये कोई विशेष हर्ष-विषाद नहीं होता; उसी प्रकार उस समय स्वयंवर सभा में आये हुये अन्य सामन्तिक राजा भी जो पहिले काष्ठाङ्गार की सेवा करते थे, अब युद्ध में उसके मारे जाने पर जीवन्धर की सेवा करने लगे। उन्हें उस समय युद्ध में एक दूसरे की हानि-वृद्धि को देख कर विशेष हर्ष विषाद नहीं हुआ ॥४०॥

राजपुर्यामगाच्चाय—मभिषेक्तुं जिनालयम् ।
भगवद्दिव्यसान्निध्ये, निष्प्रत्यूहा हि सिद्धयः ॥४१॥

अन्वयार्थौ—(तत = इसके बाद) अयम् = यह जीवन्धर स्वामी, राजपुर्याम् = राजपुरी नगरी में, अभिषेक्तुम् = राज्याभिषिक्त होने के लिये, जिनालयम् = जिनमंदिर को, अगात् = गये। नीतिः-हि = क्योंकि, भगवद्दिव्यसान्निध्ये = देवाधिदेव की पवित्र समीपता होने पर, सिद्धय = कार्यसिद्धियां, निष्प्रत्यूहाः = निर्विघ्न (जायन्ते = हो जाती हैं) ॥४१॥

भावार्थ—अब जीवन्धरकुमार राज्याभिषिक्त होने के हेतु जिनमन्दिर गये। ठीक ही है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव की समीपता से कार्य-सिद्धि भी निर्विघ्न हो जाती है, इसीलिये जीवन्धर ने राज्याभिषेक को सफलता के लिये जिनालय का शरण लिया ॥४१॥

तावता सन्यधात्तत्र, यक्षो यक्षचरो मुदा ।
फलमेव हि यच्छन्ति, पनसा इव सज्जनाः ॥४२॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, यक्षचर. = पूर्वपर्याय का कुत्ता, यक्ष = सुदर्शन यक्ष, मुदा = हर्ष से, तत्र = वहां, सन्यधात् = आया। नीतिः—हि = क्योंकि, सज्जना. = सज्जन मनुष्य, पनसाः इव = कटहर के वृक्षों के समान, फलम् = फल को, एव = ही, यच्छन्ति = देते हैं ॥४२॥

भावार्थः—जिस प्रकार कटहर के वृक्ष अनेक वार विशाल फल देकर औरों का उपकार किया करते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी हमेशा औरों का उपकार किया करते हैं। प्रकृत में भूतपूर्व कुत्ते के जीव उस यक्षेन्द्र ने वार वार जीवन्धर के पास आकर उनका प्रत्युपकार करते हुये अपनी सज्जनता (कृतज्ञता) को प्रमाणित किया ॥४२॥

अथ गोविन्दराजेन, यक्षराजो यथाविधि ।
अभ्यषिञ्चन्महाराजं, कौरवं गुरुगौरवात् ॥४३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके वाद, गोविन्दराजेन सह = गोविन्दराज के साथ, यक्षराज = यक्षेन्द्र, कौरवम् = कुरुवंशी, महाराजम् = महाराज जीवन्धर को, गुरुगौरवात् = वडे टाट वाट से, यथाविधि = विधिपूर्वक, अभ्यषिञ्चत् = राज्याभिषिक्त करता हुआ ॥४३॥

भावार्थः—इसके वाद अभिषेक मण्डप में रत्नमय सिंहासन पर विराजमान जीवन्धर महाराज का यक्षेन्द्र और गोविन्दराज आदिक महानुभावों ने क्षीरसमुद्र के जल से विधिपूर्वक सहर्ष राज्याभिषेक किया ॥४३॥

अयादापृच्छ्य राजेन्द्रं, यक्षेन्द्रोऽपि स्वमन्दिरम् ।
न ह्यसक्त्या तु सापेक्षो, भानुः पद्मविकासने ॥४४॥

अन्वयार्थौ—यक्षेन्द्र = यक्षेन्द्र, राजेन्द्रम् = महाराज जीवन्धर से, आपृच्छ्य = पूछ कर, स्वमन्दिरम् = अपने स्थान को, अयात् = गया। नीतिः—हि = क्योंकि, भानुः = सूर्य, पद्मविकासने = कमलों को प्रफुल्लित कर देने पर (तत्र = उनमें) असक्त्या = आसक्ति से सापेक्ष = अपेक्षासहित, न भवति = नहीं होता ॥४४॥

भावार्थः—जैसे सूर्य कमलों को खिलाने के वाद उनसे सम्बन्ध न रख कर अस्ताचल की ओर चला जाता है, उसी

प्रकार वह यक्षेन्द्र भी जीवन्धरकुमार का राज्याभिषेक कर और उनसे पूछ कर अपने निवास-स्थान को चला गया ॥४४॥

तर्पिताखिललोकोऽस्मात्, सौधाभ्यन्तरमाश्रितः ।
सिंहासनमलञ्चक्रे, राजसिंहः क्रमागतम् ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तर्पिताखिललोक. = समस्त प्रजा को प्रसन्न करने वाला, राजसिंह = सिंह के समान तेजस्वी और प्रधान राजा जीवन्धर, अस्मात् = इस जिनालय से (निर्गत्य = निकलकर) सौधाभ्यन्तरम् = राजमहल को, आश्रित = प्राप्त (सन् = होता हुआ) क्रमागतम् = कुल परम्परा से आये हुये, सिंहासनम् = राजसिंहासन को, अलञ्चक्रे = सुशोभित करने लगा ॥४५॥

भावार्थः—सिंह के समान पराक्रमी महाराज जीवन्धर ने उस जिनालय से निकल कर उस समय सब लोगों को यथायोग्य दानमानादि से सन्तुष्ट करते हुये राजमहल में जाकर वहां पर कुलपरम्परा से आये हुये राज्यसिंहासन को सुशोभित किया ॥४५॥

तद्वृत्तान्तवितर्कोऽभू—ल्लोके विस्मयबृंहितः ।
अतर्क्यसम्पदापद्भ्यां, विस्मयो हि विशेषतः ॥४६॥

अन्वयार्थौ—लोके = संसार में, तद्वृत्तान्तवितर्क. = जीवन्धर के जीवन में घटित घटनाओं का विचार, विस्मयबृंहित = अधिक आश्चर्यजनक, अभूत् = हुआ । नीति—हि = क्योंकि, अतर्क्यसम्पदापद्भ्याम् = अकस्मात् आने वाली सम्पत्ति और विपत्ति से, विशेषत: = विशेषरूप से, विस्मय. = आश्चर्य (जायते = होता है) ॥४६॥

भावार्थ—जीवन्धर के इस वृत्तान्त से ही लोगों को महान् आश्चर्य हुआ। ठीक ही है, क्योंकि सम्पत्ति या विपत्ति के सहसा आ जाने से, विशेष आश्चर्य होता ही है,

इसीलिये जीवन्धर के चकायक राज्यलक्ष्मी के प्राप्त होने से जनता के आश्चर्य होना उचित ही था ॥४६॥

क्व पूज्यं राजपुत्रत्वं, प्रेतावासे क्व वा जनिः ।
क्व वा राज्यपुनःप्राप्ति—रहो कर्मविचित्रता ॥४७॥

अन्वयार्थौ—क्व = कहा तो, पूज्यम् = आदरणीय, राजपुत्रत्वम् = राजकुमार पना, वा = और, क्व = कहा, प्रेतावासे = श्मशान में, जनिः = जन्म लेना, वा = तथा, क्व = कहां, राज्यपुन प्राप्ति. = फिर से राज्य का मिल जाना, अहो = आश्चर्य है (यत् = कि, इयम् = यह, एव = ही) कर्मविचित्रता = कर्मों की विचित्रता (विद्यते = है) ॥४७॥

भावार्थः—राजपुत्र होते हुये भी जीवन्धर का श्मशान भूमि में जन्म लेना, फिर एक साधारण व्यक्ति के यहा पालन-पोषण होना, काष्टाङ्गार के द्वारा मृत्यु के सन्मुख कराये जाने पर भी उससे बच कर देश-देशान्तरों मे घूमते हुये आदर के साथ कई कन्यारत्नों का प्राप्त होना और अन्त में राजपुरी आकर अपनी राजलक्ष्मी का भी फिर से प्राप्त करना इत्यादि सभी बातों से लोगों को महान आश्चर्य हुआ। आचार्य कहते हैं कि वास्तव मे यदि कर्मों की विचित्रता पर ध्यान दिया जाय तो इसमें कुछभी आश्चर्य नहीं है। कर्म से राजा भी रक होजाता है ॥४७॥

पुण्यपापादृते नान्यत्, सुखे दुःखे च कारणम् ।
तन्तवो न हि लूतायाः, कूपपातनिरोधिनः ॥४८

अन्वयार्थौ—(निश्चय से) पुण्यपापात् ऋते = पुण्य और पाप के विना, सुखे = सुख में, च = और, दुःखे = दुःख में, अन्यत् = और कोई वस्तु, कारणम् = कारण (नास्ति = नहीं होता)। दृष्टान्तः—हि = क्योंकि, लूतायाः = मकड़ी के, तन्तवः = जाल के तन्तु, कूपपातनिरोधिन = कुये में गिरने से बचाने वाले (न सन्ति = नहीं होते) ॥४८॥

भावार्थः—प्राणियों के सुख की प्राप्ति पुण्य से और दुःख की प्राप्ति पाप से होती है, अन्य बाह्य कारणों से नहीं। ठीक ही है, क्योंकि जिसप्रकार कुये मे गिरते हुये प्राणी को तुच्छ मकडी के जाल के तन्तु बचाने के लिये समर्थ नहीं होते; किन्तु उसे मजबूत रस्सा या साकल आदि ही बचा सकते है, उसीप्रकार पाप का उदय होने पर कोई भी बाह्य पदार्थ प्राणी को सुखी नहीं कर सकता, तथा पुण्य का उदय होने पर दुखी भी नहीं कर सकते। मतलब यह है कि सुख और दुख का अन्तरङ्ग कारण पुण्य और पाप ही हैं; बाह्य सब सामग्री तो निमित्त-मात्र ही हैं ॥४८॥

हत्वा जिघांसुमात्मानं, लेभे राज्यं जिघांसितः।
भाव्यवश्यं भवेदेव, न हि केनापि रुध्यते ॥४९॥

अन्वयार्थौ—जिघांसित. = मारने को इच्छित व्यक्ति, आत्मानम् = अपने को, जिघासुम् = मारने वाले को (एव = ही) हत्वा = मार कर, राज्यम् = राज्य को, लेभे = प्राप्त करता हुआ। नीतिः—हि= क्योंकि, भावि = होनहार, अवश्यम् = जरूर, एव = ही, भवेत् = होती है, केन = किसी के द्वारा, अपि = भी, न रुध्यते = नहीं रोकी जा सकती।

भावार्थः—काष्ठाङ्गार ने जीवन्धर को मारने की इच्छा की थी, किन्तु इसके विपरीत जीवन्धर ने उसे ही मार डाला और अपना राज्य छीन लिया। ठीक ही है, क्योंकि भविष्य मे जो कुछ भी होने वाला है, वह होकर ही रहता है; किसी से भी टाला नहीं जा सकता, तदनुसार जीवन्धर और काष्ठाङ्गार का शुभाशुभ भवितव्य होकर ही रहा ॥४९॥

जिजीविषामपञ्चेन, जातोऽपियं राजवञ्चकः।
काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्, स्वयं नाशी हि नाशकः ॥

अन्वयार्थौ—जिजीविषाप्रपञ्चेन = अपने जीने की इच्छा की प्रबलता से, राजवञ्चकः = राजा को धोखा देने वाला, जातः = होता हुआ, अयम् = यह, काष्ठाङ्गारः = काष्ठाङ्गार, अपि = भी, नष्टः अभूत् = मारा गया। नीतिः—हि = क्योंकि (अन्यस्य = और का) नाशकः = नाश करने वाला व्यक्ति, स्वयम् = अपना, नाशी = नाशक भवेत् = होता है।

भावार्थः—जिस काष्ठाङ्गार ने राज्यलिप्सा से प्रेरित होकर अपने स्वामी सत्यन्धर महाराज के साथ षड्यंत्र रच कर उन्हें प्राणों से भी रहित किया था, वह काष्ठाङ्गार स्वयं ही मारा गया। ठीक ही है, क्योंकि जो दूसरे का नाश करना चाहता है; उसका नाश स्वयं हो जाता है, अतएव सत्यन्धर के नाशक काष्ठाङ्गार का भी नाश हो गया ॥५०॥

यक्षः क्षणोपकारेण, प्राणदायी बभूव सः।
काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्, स्वाभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थौ—सः = वह, यक्षः = यक्ष, क्षणोपकारेण = क्षणमात्र के उपकार से (जीवन्धरस्य = जीवन्धर का) प्राणदायी = प्राणों का रक्षक, बभूव = हुआ, च = और, काष्ठाङ्गारः = काष्ठाङ्गार (महोपकारे = बहुत उपकार किये जाने पर (अपि = भी) कृतघ्नः = कृतघ्न, अभूत् = हुआ, नीति—हि = क्योंकि (वस्तुनः = वस्तु का) स्वभावः = स्वभाव, न वार्यते = नहीं रोका जा सकता ॥५१॥

भावार्थः—जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है; वह किसी भी प्रकार बदला नहीं जा सकता। तदनुसार सज्जन-स्वभाव वाले यक्ष ने तो मंत्र श्रावणरूप क्षणमात्र के उपकार से जीवन्धर के प्राणों की रक्षा की और इसके प्रतिकूल दुष्ट स्वभाव वाले काष्ठाङ्गार ने विशाल राज्य को भी देकर महान् उपकार करने वाले सत्यन्धर महाराज के प्राणों का घात ही किया ॥५१॥

अपकारोपकाराभ्यां, सदसन्तौ न भेदिनौ ।
दग्धं च भाति कल्याणं, केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

अन्वयार्थौ— सदसन्तौ = सज्जन और दुर्जन, अपकारोपकाराभ्याम् = अपकार और उपकार से, भेदिनौ = विपरीत-स्वभाव वाले, न भवत. = नही होते, यथा = जैसे, दग्धम् = जला हुआ, च = भी, कल्याणम् = सोना, भाति = शोभायमान होता है (किन्तु) अङ्गार-विशुद्धता = कोयले को सफेदी, केन = किस वस्तु से (भवति = होती है ? किन्तु, केनापि न = किसी से नहीं) ॥५२॥

भावार्थ —जैसे स्वर्ण तपाये जाने पर भी अपनी कान्ति और बहुमूल्यता को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार अपना अनिष्ट किये जाने पर भी सज्जन मनुष्य अपनी सज्जनता नहीं छोड़ता। और जैसे कोयला किसी भी प्रकार से और कभी भी अपनी कालिमा नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार दुर्जन मनुष्य महान् उपकार पाकर भी अपनी दुर्जनता नहीं छोड़ सकता ॥५२॥

रिक्तारिक्तदशायां च, सदसन्तौ न भेदिनौ ।
खाताऽपि हि नदी दत्ते, पानीयं न पयोनिधिः ॥५३॥

अन्वयार्थौ—रिक्तारिक्तदशायाम् = धनाढ्य और निर्धन अवस्था में, च = भी, सदसन्तौ = सज्जन और दुर्जन, भेदिनौ = विपरीत स्वभाव वाले (न वरीवर्तेते = नही होते) (यथा = जैसे) खाता = खोदी गई, अपि = भी, नदी = नदी, पानीयम् = जल को, दत्ते = देती है (किन्तु) पयोनिधि. = समुद्र, न = नही ॥५३॥

भावार्थ.—जैसे नदी सूख जाने पर खोदने से प्यासे पथिकों को मीठा जल देती है, उसी प्रकार सज्जन निर्धन हो जाने पर भी औरों का यथाशक्ति उपकार ही करते हैं। और जैसे अपरिमित जल को प्राप्त भी समुद्र खारा होने से पथिकों को

प्यासा ही रखता है, उसी प्रकार दुर्जन धनवान होने पर भी दूसरों का अपकार ही करता है ॥५३॥

इतीयं किम्वदन्ती च, तद्देशे शम्वदाप्यभूत् ।
राजन्वती सती भूमिः, कुतो वा न सुखायते ॥५४॥

अन्वयार्थौ—राजन्वती = उत्तम राजा से युक्त, सती = श्रेष्ठ, भूमि. = पृथिवी, कुतः = कैसे, न सुखायते = सुख नही देती अर्थात् सब तरह से सुख देती ही है, इति = इस प्रकार, इयम् = यह, किम्नदन्ती = जनश्रुति, च अपि = भी, तद्देशे = उस देश में, शम्वदा= प्यारी, अभूत् = हुई ॥५४॥

भावार्थः—महाराज जीवन्धर के राज्य प्राप्त करने पर वहां की सारी ही प्रजा रामराज्य जैसे सुख का अनुभव करने लगी । इसीलिये वहां पर 'राजवन्ती सती भूमिः कुतो वा न सुखायते' यह जनश्रुति भी सभी लोगों के मुख से बड़े आनन्द के साथ सुनी जाने लगी ॥५४॥

काष्ठाङ्गारकुटुम्बस्या— प्यनुमेने सुखासिकाम् ।
स्वस्थानेऽपि महाराजो, न ह्यस्थानेऽपि रुट् सताम् ॥५५॥

अन्वयार्थौ—महाराज. = जीवन्धर महाराज ने, काष्ठाङ्गार-कुटुम्बस्य = काष्ठाङ्गार के कुटुम्ब के, अपि=भी, स्वस्थाने = अपने स्थान में (एव = ही) सुखासिकाम् = सुखपूर्वक निवास को, अनुमेने = अनुमति देदी । नीतिः—हि = क्योकि, सताम् = महापुरुषों का, रुट् = क्रोध, अस्थाने = अयोग्य स्थान या जन पर, न भवति = नही होता ॥५५॥

भावार्थः—महापुरुष निरपराध प्राणियों पर कभी भी क्रोध नहीं करते, इसीलिये जीवन्धर ने काष्ठाङ्गार के दीन कुटुम्बियों पर क्रोध नहीं किया, किन्तु उन्हे अपने स्थान पर ही रहने दिया ॥५५॥

यौवराज्ये च नन्दाढ्य, वृद्धं क्षत्रोचिते पदे।
गन्धोत्कटं च चक्रेऽसौ, लोकवन्द्ये च मातरौ ॥५६॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह जीवन्धर, यौवराज्ये = युवराज पद पर, नन्दाढ्यम् = नन्दाढ्य को, वृद्धक्षत्रोचिते = बूढे क्षत्रियो के योग्य, पदे = पद पर, गन्धोत्कटम् = गन्धोत्कट को, च = और, लोकवन्द्ये लोकपूज्य, पदे = राजमातृ पद पर, मातरौ = दोनो माताओ को, चक्रे = स्थापित करता हुआ ॥५६॥

भावार्थः—राज्य पाने पर जीवन्धर महाराज ने अपने छोटे भाई नन्दाढ्य को युवराज पद से; गन्धोत्कट को राजपितृ पद से और विजया तथा सुनन्दा माता को राजमातृ-पद से विभूषित किया ॥५६॥

अकरामकरोद्धात्रीं, वर्षाणि द्वादशाऽप्ययम्।
महिषैः क्षुभितं, तोयं, न हि सद्यः प्रसीदति ॥५७॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर, धात्रीम् = पृथिवी को, द्वादश = बारह, वर्षाणि = वर्ष पर्यन्त, अकराम् = कररहित, अकरोत् = करता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, महिषै = भैसाओ से, क्षुभितम् = गँदला किया गया, तोयम् = जल, सद्य = शीघ्र, न प्रसीदति = स्वच्छ नही होता ॥५७॥

भावार्थ—जैसे सरोवर के जिस जल को भैसे गँदला कर देते हैं, वह जल शीघ्र स्वच्छ नहीं होता, उसीप्रकार दुष्ट काष्ठाङ्गार के द्वारा अनुचित कर (टैक्स) ग्रहण आदि से सताये जाने पर प्रजा बहुत दुखी हो गई थी, इसलिये प्रजा में सुख और शान्ति की स्थापना के हेतु दयालु राजा जीवन्धर ने अपने समस्त राज्य मे बारह वर्ष तक टैक्स (कर) लेना माफ कर दिया ॥५७॥

पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यो, यथायोग्यमदात्पदम् ।
अविशेषपरिज्ञाने, न हि लोको ऽनुरज्यते ॥५८॥

अन्वयार्थौ—(जीवन्धर–महाराज) पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यः = पद्मास्य आदिक मित्रों के लिये (अपि = भी) यथायोग्यम् = उचित, पदम् = पद को, अदात् = देता हुआ। नीति हि = क्योंकि, अविशेष–परिज्ञाने = छोटे बड़े सभी को समान मानने पर, लोकः = जन समुदाय, न अनुरज्यते = सन्तुष्ट नही रह सकता ॥५८॥

भावार्थः—छोटे बड़े सभी के साथ समान बर्ताव करने वाले को जन–समुदाय अविवेकी समझ उससे असन्तुष्ट हो जाता है; इसीलिये व्यवहार-कुशल जीवन्धर महाराज ने अपने पद्मास्य आदिक मित्रों तथा राजाओं आदि को उनके योग्य महामात्र (राजा का मुख्य सहायक) आदि पदों से विभूषित किया ॥५८॥

पद्मादयो ऽपि तद्देव्यः, समागत्य तदाज्ञया ।
तं समीक्ष्य क्षणे आसन्, क्षीणाखिलमनोव्यथाः ॥५९॥

अन्वयार्थौ—पद्मादयः = पद्मा आदिक, तद्देव्य. = उन जीवन्धर की रानियां, तदाज्ञया = उनकी आज्ञा से, समागत्य = आकर (च = और) तम् = उन जीवन्धर,को,समीक्ष्य = देख कर क्षणे = आनन्द के होने पर या उस समय, क्षीणाखिलमनोव्यथा: = हार्दिक समस्त दुःख रहित, आसन् = हो गई ॥५९॥

भावार्थः—राज्यासीन होने पर जीवन्धर महाराज ने अपनी पद्मा अधिक स्त्रियों को भी उनके पीहर (पितृगृह) से बुला लिया। तब पद्मा आदिक भी उस विशाल उत्सव के अवसर को पाकर अपने स्वामी का शुभदर्शन कर सारा दुःख भूल कर बहुत प्रसन्न हुई ॥५९॥

चिरस्थाय्यपि नष्टं स्याद्, विरुद्धार्थे हि वीक्षिते।
सन्निधावपि दीपस्य, किं तमिस्रं गुहामुखम् ॥६०॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, चिरस्थायि = चिरकाल से स्थित वस्तु, अपि = भी, विरुद्धार्थे = विरुद्ध पदार्थ के, वीक्षिते = देखने पर, नष्टम् = नष्ट, स्यात् = हो जाती है। यथा = जैसे, दीपस्य = दीपक की, सन्निधौ = समीपता होने पर, गुहामुखम् = गुफा का मुख, तमिस्रम् = अन्धकार युक्त, भवेत् किम् = होता है क्या? अपि तु न = किन्तु नहीं।

भावार्थः—जैसे गुफा के समीप दीपक लाने पर उसमें कभी भी अन्धकार नहीं रह पाता. उसीप्रकार चिरकाल से स्थित भी पदार्थ, अपने विरुद्ध पदार्थ के समीप आने पर नष्ट हो जाता है। अतएव अपने स्वामी के राज्यलाभ से पद्मा आदिक रानियों का पूर्वानुभूत वियोगजन्य सारा दुःख नष्ट होगया ॥६०॥

अथायं नवुतेः पुत्रीं, दत्तां गोविन्दभूभुजा।
पर्यणैषीन्महाराजः, पार्थिवै र्विहितोत्सवः ॥६१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पार्थिवैः = अन्य राजाओं के द्वारा, विहितोत्सवः = जिसकी राज्य प्राप्ति के विषय में उत्सव मनाया गया है ऐसा, अयम् = यह, महाराज = जीवन्धर महाराज, गोविन्द-भुभूजा = मामा गोविन्दराज के द्वारा, दत्ताम् = दी गई, नवुतेः = नवुति की, पुत्रीम् = पुत्री लक्ष्मणा को, यथाविधि = विधिपूर्वक, पर्यणैषीत् = ब्याहता हुआ ॥६१॥

भावार्थः—जीवन्धर के राज्य पाने पर अन्य राजाओं ने बहुत उत्सव मनाये। कुछ समय बाद जीवन्धर ने अपनी मामी नवुति और मामा गोविन्दराज की सुपुत्री लक्ष्मणा को आर्षोक्त-विधि से वरण किया ॥६१॥

॥ इति दशमो लम्बः समाप्तः ॥

अथ एकादशो लम्बः

अथ राजश्रिया लब्ध्वा, लक्ष्मणां मुमुदे कृती ।
चिरकांक्षितलाभे हि, तृप्तिः स्यादतिशायिनी ॥१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, कृती = विद्वान् जीवन्धर, राजश्रिया सह = राज्यलक्ष्मी के साथ, लक्ष्मणाम् = लक्ष्मणा को, लब्ध्वा = पाकर, मुमुदे = प्रसन्न हुआ । नीति – हि = क्योंकि, चिरकांक्षितलाभे = बहुत समय से चाही हुई वस्तु की प्राप्ति होने पर, अतिशायिनी = बड़ी भारी, तृप्ति. = प्रसन्नता, स्यात् = होती है ॥१॥

भावार्थ.—सुयोग्य जीवन्धर के पूर्व परम्परागत राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मणा की बहुत समय से चाह थी, अतएव उनके प्राप्त होने पर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई । ठीक ही है, क्योंकि बहुत समय से चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर प्रसन्नता होती ही है, तदनुसार उनकी प्राप्ति से जीवन्धर को प्रसन्नता होना उचित ही था ॥१॥

लब्ध्वा राज्यमयं राजा, रेजे सर्वगुणैरपि ।
काचो हि याति वैगुण्यं, गुण्यतां हारगो मणिः ॥२॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, राजा = राजा, राज्यम् = राज्य को, लब्ध्वा = पाकर, सर्वगुणैः = सब गुणों से अपि = भी, रेजे = सुशोभित होने लगा । नीति.—हि = क्योंकि, हारग. = हार में पिरोया गया, काच. = काच, वैगुण्यम् = निंदा पने को, याति = प्राप्त होता है । किन्तु, मणि = मणि, गुण्यताम् = प्रशस्त पने को, एव = ही, याति = प्राप्त होता है ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार हार मे पिरोने पर कांच तो सुशोभित नहीं होता, किन्तु मणि सुशोभित होता ही है, उसी प्रकार जिस राज्य को पाकर काष्ठाङ्गार ने केवल निन्दा ही पाई थी, उसी राज्य को पाकर जीवन्धर महराज सर्वगुणसम्पन्न होकर सब लोगों के प्रशसापात्र बन गये ॥२॥

कृतिनामेकरूपा हि, वृत्तिः सम्पदसम्पदोः ।
न हि नादेयतोयेन, तोयधेरस्ति विक्रिया ॥३॥

अन्वयार्थौ - हि = निश्चय से, कृतिनाम् = बुद्धिमानो की, वृत्ति = प्रवृत्ति, सम्पदसम्पदो = सम्पत्ति और विपत्ति में एकरूपा = सदृश, भवेत् = होती है। नीति.—हि = क्योकि, नादेयतोयेन = नदी के जल से, तोयधे = समुद्र के, विक्रिया = मर्यादा के उल्लघन करने रूप विकार, न अस्ति = नही होता ॥३॥

भावार्थ.—जिस प्रकार हजारों नदियों के जल को प्राप्त करके भी समुद्र कभी अपना मर्यादा का उल्लघन नहीं करता, उसी प्रकार महान सम्पत्ति या विपत्ति को प्राप्त कर बुद्धिमान् पुरुष भी प्रसन्न या खिन्न नहीं होते, तदनुसार जीवन्धर महाराज राज्यविभूति को पाकर भी गर्वित नहीं हुये ॥३।

सुखदुःखे प्रजाधीने, तदाभूतां प्रजापतेः ।
प्रजानां जन्मवर्जं हि, सर्वत्र पितरौ नृपाः ॥४॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, प्रजापते = राजा के, सुख-दुःखे = सुख और दुःख, प्रजाधीने = प्रजा के अधीन, अभूताम् = हो गये। नीति—हि = क्योंकि, नृपाः = राजा, जन्मवर्जम् = जन्म को छोड़ कर, सर्वत्र = सब बातो में, पितरौ = माता पिता (सन्ति = हैं)॥४॥

भावार्थ.—जब जीवन्धर महाराज राजसिंहासनासीन हुये; तब प्रजा के सुख से अपने सुख और प्रजा के दुःख से

अपने दुःख का अनुभव करने लगे, ठीक ही है, क्योंकि जिस प्रकार सुयोग्य माता-पिता अपनी संतान के सुख दुःख का ध्यान रख कर उसे सुयोग्य बनाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रजापालक राजा भी संतान-स्थानीय अपनी प्रजा के सुख दुख का विशेष ध्यान रख कर उसे सुखी एवं सम्पन्न बनाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। तदनुसार सुयोग्य प्रजावत्सल महाराज जीवन्धर प्रजा के सुख मे सुखी और उसके दुःख में दुखी हुये ॥४॥

आसीत्प्रीतिकरं तस्याः करदानं च दानवत् ।
वृषलाः किन्न तुष्यन्ति, शालेये बीजवापिनः ॥५॥

अन्वयार्थौ—तस्या. = उस प्रजा के, करदानम् = टैक्स देना, च = भी, दानवत् = दान के समान, प्रीतिकरम् = आनन्दजनक, आसीत् = हुआ। नीति—हि = क्योंकि, शालेये = धान के खेत में, बीजवापिनः = बीज बोने वाले, वृषलाः = किसान, किम् = क्या, न तुष्यन्ति = खुश नही होते ? किन्तु (तुष्यन्ति एव = खुश होते ही हैं)।

भावार्थः—जिस प्रकार उपजाऊ भूमि में बीज को बोने वाले किसान लोग भविष्य में होने वाली उससे कई गुणी फल-प्राप्ति के निश्चय से प्रसन्न ही होते हैं—बीज की हानि से दुखित नहीं होते, उसीप्रकार महाराज जीवन्धर की प्रजा उन्हें जमीन वगैरह का टैक्स देकर किंचित् भी दुख का अनुभव नहीं करती थी। इसका कारण यही था कि-उस समय प्रजा को महाराज जीवन्धर के उत्तम शासन को देख कर यह निश्चय हो चुका था कि टैक्स के रूप में दिया जाने वाला द्रव्य इससे भी अधिक मात्रा में, हमारी ही भलाई में खर्च किया जावेगा ॥५॥

मित्रोदासीनशत्रूणां, विषयेष्वपसर्पतः ।
तदज्ञानेऽपि तज्ज्ञाना–त्तदैवासीत्प्रतिक्रिया ॥६॥

अन्वयार्थौ—मित्रोदासीनशत्रूणाम् = मित्र, मध्यस्थ और शत्रु स्वरूप (राज्ञाम् = राजाओं के) विषयेषु = देशो में, तदज्ञाने = उनको स्वय पता न चलने पर, अपि = भी, अपसर्पत. = गुप्तचरो से, तज्ज्ञानात् = उनके वृत्तान्त के ज्ञान से, तदा = उसी समय, एव = ही, प्रतिक्रिया = प्रतिकार, आसीत् = होता था ॥६॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज सुयोग्य गुप्तचरों के द्वारा अपने मित्र, मध्यस्थ और शत्रु स्वरूप राजाओं का सारा वृत्तान्त जानते रहते थे; किन्तु उन राजाओं को इस बात का पता ही नहीं चलता था। इस प्रकार जब कभी किसी राजा को अपने प्रतिकूल समझते थे, तभी उसका उचित प्रतीकार किया करते थे। ६॥

रात्रिन्दिवविभागेषु, नियतो नियतं व्यधात् ।
कालातिपातमात्रेण, कर्त्तव्यं हि विनश्यति ॥७॥

अन्वयार्थौ—नियत = नियमपूर्वक कार्य करने वाले (जीवन्धर महाराज) रात्रिदिवविभागेषु = दिन और रात्रि के विभागो में नियतम् = निश्चित कार्य को, व्यधात् = करते थे। नीति –हि = क्योकि, कालातिपातमात्रेण = कार्योचित समय के निकल जाने से, कर्त्तव्यम् = करने योग्य कार्य, विनश्यति = विगड़ जाता है ॥७॥

भावार्थः—कार्य के योग्य समय के निकल जाने पर प्राय: या तो कार्य सिद्ध ही नहीं होता या विगड़ जाता है। अतएव विद्वान् जीवन्धर महाराज अपने प्रत्येक कार्य को राजनीति में वतलाये गये समय-विभाग के अनुसार ही किया करते थे।७॥

तपसा हि समं राज्यं, योगक्षेमप्रपञ्चतः ।
प्रमादे सत्यधःपाता—दन्यथा च महोदयात् ॥८॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, राज्यम् = राज्य, योगक्षेमप्रपञ्चत = योग और क्षेम के विस्तार से, तपसा समम् = तप के समान (अस्ति = है यत. = क्योकि, तत्सम्बद्धे = उन तप और राज्य से सम्बन्ध रखने वाले, तत्र = उन योग और क्षेम के विषय में) प्रमादे सति = प्रमाद के होने पर, अध पातात् = अध.पतन होने से, च = और, अन्यथा = प्रमाद के न होने से, महोदयात् = भारी उत्कर्ष होने से ॥८॥

भावार्थः—जिस प्रकार योग-क्षेम (मन वचन कार्य की दुष्ट प्रवृत्ति की रक्षा में सावधान रहने) से साधुजनों का तप वृद्धिगत होकर स्वर्गादिक अभ्युदय की प्राप्ति का कारण होता है, किन्तु इसके विपरीत इन्हीं तीनों योगों की रक्षा में प्रमादयुक्त होने के कारण तप से भ्रष्ट हो जाने से अधोगति भी प्राप्त होती है, इसी प्रकार योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की हुई वस्तु की रक्षा) में सतत सावधान रहने से राजाओं का राज्य भी समुन्नत और इन्हीं दोनों बातों में प्रमादयुक्त रहने से वही राज्य अवनत भी हो जाता है. अतएव राज्य और तप दोनों में कथंचित् समानता है ॥८॥

प्रबुद्धेऽस्मिन्भुवं कृत्स्नां, रक्षत्येकपुरीमिव ।
राजवन्ती च भूरासी—दन्वर्थं रत्नसूरपि ॥९॥

अन्वयार्थौ—प्रबुद्धे = सावधान, अस्मिन् = इस राजा के, कृत्स्न म् = समस्त, भुवम् = पृथिवी को, एकपुरीम् इव = एक नगरी के, समान, रक्षति सति = रक्षा करने पर, राजवन्ती = श्रेष्ठ राजा वाली, अपि = भी, भू = पृथिवी, अन्वर्थम् यथा स्यात्तथा = सार्थक, रत्नसू = रत्नो को पैदा करने वाली, आसीत् = हो गई ॥९॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज सावधान होकर अखिल भूमण्डल पर आसानी से एक नगरी के समान शासन करते थे, अतएव उत्तम राजा से शासित वह पृथिवी भी सार्थक रत्नसू (जीवन्धर जैसे रत्नों की जननी) हो गई थी ॥९॥

एवं विराजमानेऽस्मिन्, राजराजे महोदये ।
विजया जननी तस्य, विरक्ता संसृतावभूत ॥१०॥

अन्वयार्थौ—महोदये=महान् उदय वाले, अस्मिन्=इन, राजराजे=महाराज के, एवम्=पूर्वप्रकार, विराजमाने=सुशोभित होने पर, तस्य=उनकी, जननी=माता, विजया=विजया, संसृतौ=संसार के विषय में, विरक्ता=विरक्त, अभूत्=हुई ॥१०॥

भावार्थ.—जब जीवन्धर महाराज अपने राज्य को भली प्रकार सम्हाल करने लगे, तब उनकी माता विजया के संसार से निम्नप्रकार वैराग्य को बढ़ाने वाला विचार उत्पन्न हुआ ॥१०॥

पैतृक — पदमद्राक्ष — मत्राऽहं पुत्रपुङ्गवे ।
कृताः पुरोपकर्त्तारः, कृतकृत्या यथोचितम् ॥११॥

अन्वयार्थौ—अहम्=मैं, अत्र=इस, पुत्रपुङ्गवे=उत्तमपुत्र में, पैतृकम्=पिता सम्बन्धी, पदम्=पद को, अद्राक्षम्=देख चुकी हूँ, च=और, पुरा=पूर्वकाल में, उपकर्त्तार.=उपकार करने वाले जन (अपि=भी) यथोचितम्=योग्यता के अनुसार, कृतकृत्या.=सफल, कृताः=कर दिये गये हैं ॥११॥

भावार्थः—मैंने जीते जी अपने सुपुत्र जीवन्धर को राज्याधिकारी (जिसके देखने की इच्छा चिरकाल से थी) देख लिया है और मेरी उस दुखित हालत में जिन पद्मास्य आदि ने मेरा उपकार किया था उनको भी यथायोग्य पद प्रदान

कराकर मैं उऋण हो चुकी हूं। इस प्रकार अब मैं सर्वथा निश्चिन्त हूं ॥११॥

फलं च पुण्यपापानां, मया मय्येव वीक्षितम्।
शास्त्रादृते किमन्यत्र, कर्मपाकोऽयमीक्ष्यते ॥१२॥

अन्वयार्थौ—(इसके अतिरिक्त) मया = मैंने, पुण्यपापानाम् = पुण्य और पाप का, फलम् = फल (च = भी) मयि = अपने में, एव = ही, शास्त्रात् ऋते = शास्त्रों के श्रवण या पठन के बिना, एव = ही, वीक्षितम् = देख लिया है। (पुनः = फिर) अयम् = यह, कर्मपाकः = कर्मों का फल, अन्यत्र = अन्य प्राणी में, किम् ईक्ष्यते = क्यों देखा जाता है? ॥१२॥

भावार्थ—जब मैंने शास्त्रों के अध्ययन और श्रवण के बिना ही कर्मों का शुभाशुभ फल अपने में ही प्रत्यक्ष देख लिया है, तब मैं उस कर्मफल को दूसरे प्राणी में क्यों देखूँ और क्यों सुनूं? बस अब तो इससे सम्बन्ध छोड़ने की ही चेष्टा करना चाहिये ॥१२॥

अतोऽपास्य सुतस्नेहं, तपस्यामि यथोचितम्।
ज्ञात्वाऽपि कुण्डपातोऽयं, कुत्सितानां हि चेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—अतः = इसलिये, सुतस्नेहम् = पुत्र सम्बन्धी प्रेम का, अपास्य = छोड़ कर, यथोचितम् = यथायोग्य, तपस्यामि = तप तपूंगी। नीति—हि = क्योंकि, ज्ञात्वा = जान कर, अपि = भी, कुण्डपातः = जलाशय या अग्निकुण्ड में गिरना, कुत्सितानाम् = नीचों का, चेष्टितम् = काम (अस्ति = है) ॥१३॥

भावार्थः—इसलिये अब मैं पुत्रप्रेम का परित्याग कर आर्षोक्त विधि से तपश्चर्या करूंगी, क्योंकि जैसे जान बूझ कर जलाशय या अग्निकुण्ड में गिरना बुद्धिमत्ता नहीं, उसी प्रकार

शुभाशुभ कर्मफल के चक्रस्वरूप गड्ढे में मुझे भी पड़ा रहना उचित नहीं। विजया ने इसप्रकार वैराग्यमय भावना भाई ॥१३॥

इति वैराग्यतस्तस्याः, सुनन्दापि व्यरज्यत ।
पाके हि पुण्यपापानां, भवेद्व बाह्यं च कारणम् ॥१४॥

अन्वयार्थों—इति=इस प्रकार, तस्याः=उस विजया रानी के, वैराग्यतः=वैराग्य होने पर (सप्तम्यर्थेऽत्र तसिल्) सुनन्दा = सुनन्दा, अपि=भी, व्यरज्यत=विरक्त हो गई। नीतिः—हि=क्योंकि,पुण्यपापानाम्=पुण्य और पाप के, पाके=उदय आने में, बाह्यम्=बाह्य वस्तु, च = भी, कारणम् = निमित्त, भवेत् = होती है ॥१४॥

भावार्थः—विजया रानी के विरक्त होजाने पर गन्धोत्कट सेठ की स्त्री सुनन्दा भी संसार से विरक्त हो गई। ठीक ही है, क्योंकि पुण्य और पाप के उदय आने में कोई न कोई बाह्य कारण भी प्रायः अवश्य हुआ करता है, तदनुसार सुनन्दा के वैराग्यरूप पुण्य (पवित्र) कार्य में भी विजया का वैराग्य कारण हुआ ॥१४॥

ततः कृच्छ्रायमाणं तं, महीनाथं च कृच्छ्रतः ।
अनुज्ञाप्य ततो गत्वाऽदीक्षिषातां यथाविधि ॥१५॥

अन्वयार्थों—ततः=इसके बाद (ते=वे दोनों) कृच्छ्रायमाणम्=शोक करते हुये, महीनाथम्=राजा को, कृच्छ्रतः=कठिनाई से, अनुज्ञाप्य = समझाकर (ततः=वहा से) गत्वा = जाकर, यथाविधि = विधिपूर्वक, अदीक्षिषाताम्=दीक्षाग्रहण करती हुई ॥१५॥

भावार्थः—विजया और सुनन्दा ने विरक्त हो कर अपने भावी वियोग से शोकातुर जीवन्धर महाराज को बहुत कठिनाई से समझा कर गृह छोड़ वन में जाकर आर्षोक्त विधि से दीक्षा ले ली ॥१५॥

पद्माख्या श्रमणीमुख्या, विश्राण्य श्रमणीपदम् ।
तन्मातृभ्यां ततस्तं च, महीनाथमबोधयत् ॥१६॥

अन्वयार्थौ—श्रमणीमुख्या=समस्त आर्यिकाओं में प्रधान, पद्माख्या=पद्मानामक आर्यिका, तन्मातृभ्याम्=उन दोनों माताओं के लिये, श्रमणीपदम्=आर्यिका के पद को, विश्राण्य=देकर, तत=फिर, तम्=उस, महीनाथम्=राजा जीवन्धर को, अबोधयत्=समझाने लगी ॥१६॥

भावार्थ—पद्मा नामक एक प्रधान आर्यिका ने उन दोनों को आर्यिका के व्रत ग्रहण करा कर उनके वियोग से दुखी उनके सुपुत्र जीवन्धर महाराज को निम्नप्रकार समझाया ॥१६॥

प्रव्रज्या जातुचित्प्राज्ञैः, प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।
न हि खादापतन्ती केद्ध—रत्नवृष्टि र्निवार्यते ॥१७॥

अन्वयार्थौ—प्राज्ञै=बुद्धिमानों के द्वारा, प्रव्रज्या=दीक्षा, प्रतिषेद्धुम्=रोकने को, जातुचित्=कभी भी, न युज्यते=योग्य नहीं है । हि=क्योंकि, खात्=आकाश से, आपतन्ती=गिरती हुई, रत्नवृष्टि.=रत्नों की वर्षा, कैश्चित्=किन्हीं मनुष्यों के द्वारा, न निवार्यते=नहीं रोकी जाती ॥१७॥

भावार्थः—जिस प्रकार अपने आप आकाश से बरसती हुई रत्नों की राशि को गिरने से कोई भी नहीं रोकता, उसका रोकना नितान्त मूर्खता ही समझता है, उसी प्रकार बुद्धिमान जन दीक्षा ग्रहण करने में भी किसी प्रकार का प्रतिबध नहीं करते, क्योंकि उसमें प्रतिबंध करना अक्षम्य अविवेक है ॥१७॥

पर्यस्यन्तेऽपि वा दीक्षा, प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।
भस्मने रत्नहारोऽयं, पण्डितै र्न हि दह्यते ॥१८॥

अन्वयार्थो—अपि वा = और, प्रेक्षावद्भि. = विवेकियो के द्वारा, अन्ते = अन्तिम, वयसि = अवस्था में, दीक्षा = मुनिदीक्षा, अपेक्ष्यताम् = धारण की जाना चाहिये। नीति–हि = क्योंकि, पण्डितै = विवेकियो के द्वारा, अयम् = प्रसिद्ध, रत्नहार = रत्ननिर्मित हार, भस्मने = राख के लिये, न दह्यते = नहीं जलाया जाता ॥१८॥

भावार्थः—जवानी में विषय भोगों में लीन रहने पर भी विवेकी जनों को वृद्धावस्था मे दीक्षा अवश्य धारण करना चाहिये। क्योंकि जैसे भस्म (राख) के लिये बहुमूल्य रत्नहार का जलाना बड़ा अविवेक है, उसी प्रकार जवानी मे विषया-सक्त रह कर भी वृद्धावस्था में भी दीक्षा न लेकर दुर्लभ मनुष्य-पर्याय को वृथा ही खो देना बड़ी ही मूर्खता है ॥१८॥

इति प्रबोधितो नत्वा, प्रसवित्रीं सकाशतः।
प्रश्रयेण गतो राजा, प्राविक्षन्नृपमन्दिरे ॥१९॥

अन्वयार्थो—इति = इस प्रकार, प्रबोधित: = समझाया गया (च = और) प्रसवित्रीम् = माता को, नत्वा = नमस्कार कर (तस्या = उसके) सकाशत = पास से, प्रश्रयेण = विनय से, गत = वापिस हुआ, राजा = महाराज जीवन्धर, नृपमन्दिरम् = राजमहल में (सप्तम्यर्थेऽत्र द्वितीया) प्राविक्षत् = प्रवेश करता हुआ ॥१९॥

भावार्थः—इस प्रकार पद्मानामक आर्यिका के द्वारा समझाये जाने पर जीवन्धर महाराज अपनी माताओं को नम-स्कार कर विनयपूर्वक वापिस हो राजमन्दिर में आये ॥१९॥

न चिराद्धि पदं दत्ते, कृतिनां हृदि विक्रिया।
यदि रत्नेऽपि मालिन्यं, न हि तत्कृच्छ्रशोधनम् ॥२०॥

अन्वयार्थो—हि = क्योंकि, विक्रिया = विकार भाव, कृतिनाम् = बुद्धिमानों के, हृदि = हृदय में, चिरात् = बहुत समय तक, पदम् =

स्थान को, न दत्ते = नही करता । नीति –हि = क्योंकि, यदि = अगर, रत्ने = रत्न पर, मालिन्यम् = मैलापन, अपि = भी, स्यात् = हो जावे, (तर्हि = तो) तत् = वह मलिनता, कृच्छ्रशोधनम् = कठिनाई से दूर करने योग्य, न भवति = नही होती । किन्तु, (अनायासशोधनमेव = सरलता से दूर करने योग्य ही, भवति = होती है) अत्र श्लोके हृदय-शब्दस्य हृदादेश. ॥२०॥

भावार्थः—जैसे रत्न पर प्राप्त हुई मलीनता सरलता से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बुद्धिमानों के प्राप्त हुआ वियोगादिजन्य विकारभाव भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। तदनुसार विवेकी जीवन्धर महाराज के हृदय में भी मातृवियोग्यजन्य विकारभाव बहुत समय तक स्थान नहीं पा सका ॥२०।

अथास्य क्षात्रविद्यस्य, क्षणवद्भुञ्जतो महीम् ।
त्रिदशोपमसौख्येन, त्रिंशद्वर्षाण्ययासिषुः ॥२१॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, त्रिदशोपमसौख्येन = देवों के समान सुख से, महीम् = पृथिवी को, भुञ्जतः = भोगते हुये, क्षात्रविद्यस्य = राजनीति के जानकार, अस्य = इनके, त्रिंशत् = तीस, वर्षाणि = वर्ष, क्षणवत् = क्षणभर के समान, अयासिषुः = बीत गये ॥२१॥

भावार्थः—राजनीतिविशारद उन जीवन्धर महाराज ने नीतिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुये देवों के समान निश्चिन्तता से पृथ्वी का भोग किया जिससे उनके राज्यशासन के तीस वर्ष क्षणमात्र के समान व्यतीत हो गये ॥२१॥

ततः कदाचिदस्यासी—ज्जलक्रीडामहोत्सवः ।
वसन्ते सह कान्ताभि—रष्टाभिरतिकौतुकात् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, वसन्ते = वसंत ऋतु में, कदाचित् = किसी समय, अस्य = इन जीवन्धर के, अष्टाभिः = आठो,

स्त्रीभि. सह = स्त्रियों के साथ (सहार्थेऽत्र तृतीया) अतिकौतुकात् = अतिशय उत्कंठा से, जलक्रीडामहोत्सव. = जलक्रीडा का महान उत्सव आसीत् = हुआ ॥२२॥

भावार्थ-—कुछ समय बाद जीवन्धर महाराज ने बसन्त ऋतु में एक दिन अपनी आठों रानियों के साथ बड़े उत्साह और सजधज से जलक्रीडा का महान् उत्सव मनाया ॥२२॥

जलक्रीडाश्रमात्सोऽय—माक्रीडे च सनीडके ।
क्रीडन्कापटिकैः श्लाघ्यं, कापेयं निरवर्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह जीवन्धरकुमार, जलक्रीडाश्रमात् = जलक्रीडा के परिश्रम से, सनीडके = लतामंडप सहित, आक्रीडे = बगीचे में, कापटिकै सह = बन्दरों के साथ, क्रीडन् = क्रीडा करता हुआ, श्लाघ्यम् = प्रशसनीय, कापेयम् = बन्दरों की चेष्टा को, निरवर्तयत् = देखने लगा। विनापि सहयोगे तृतीया, इतिसूत्रेणात्र तृतीया ।

भावार्थः—महाराज जीवन्धर इन्छकुमार जलक्रीडा कर जब थक गये, तब समीपवर्ती किसी एक लताभवन-युक्त बगीचे मे जाकर बन्दरों की सुन्दर सुन्दर चेष्टाओं का अवलोकन करने लगे ॥२३॥

अन्यसम्पर्कतः क्रुद्धां, मर्कटीं कोऽपि मर्कटः ।
प्रकृतिस्थां बहूपायै—र्नाशकत्कर्तुमुद्यतः ॥२४॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहा पर, कः = कोई, मर्कट. = बन्दर, अन्यसम्पर्कत. = दूसरी किसी बन्दरी से सभोग करने के कारण, क्रुद्धाम् = क्रोधित, मर्कटीम् = बन्दरी को, बहूपायै = बहुत उपायों से, अपि = भी, प्रकृतिस्थाम् = प्रसन्न, कर्तुम् = करने के लिये, न अशकत् = समर्थ नही हुआ। अशकत् इति लुङो रूपम् । पुषादिद्युताद्ंत्यादिनः अङ् ।

भावार्थ—उस बगीचे में जीवन्धर महाराज ने देखा कि किसी एक बन्दर ने किसी दूसरी बन्दरी के साथ संभोग किया, जिससे उसकी बन्दरी उससे नाराज हो गई। उस समय बन्दर ने उसे प्रसन्न करने के लिये बहुत उपाय किये, पर वह सफल नहीं हुआ ॥२४॥

ततः शाखामृगोऽप्यासीन्मायिको मृतवद्दशः ।
तदवस्थां भयग्रस्ता, वानरीयमपाकरोत् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—ततः = फिर, मायिकः = मायावी, शाखामृगः = वन्दर, अपि = भी, मृतवद्दशः = मरे हुये के समान अवस्था वाला, आसीत् = होगया। (तदा = तब) भयग्रस्ता = भयभीत (सती = होती हुई) इयम् = यह, वानरी = वन्दरी, तदवस्थाम् = उसकी उस अवस्था को, अपाकरोत् = दूर करती हुई ॥२५॥

भावार्थ:—तब वह वन्दर मरे हुये के समान बन कर जमीन पर लेट गया, उस समय वन्दरी उसे मरा हुआ समझकर भयभीत हुई और उल्टी वन्दर की ही खुशामद करने लगी ॥२५॥

हर्षलो हरिप्यस्यै, पनसस्य फलं ददौ ।
वनपालो जहारैत—द्वानरीमपि भर्त्सयन् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—हर्षलः = हर्षसहित, हरिः = वन्दर, अपि = भी, अस्यै = इस वानरी के लिये, पनसस्य = कटहर के, फलम् = फल को, ददौ = देता हुआ। च = और, वनपालः = वनमाली, अपि = भी, भर्त्सयन् = दण्ड देता हुआ, एतत् = इस फल को, जहार = छीनता हुआ ॥२६॥

भावार्थ:—जैसे ही वानरी की खुशामद से प्रसन्न हुये बन्दर ने अपने कपटी भेष को छोड़ कर वानरी को एक कटहर का फल समर्पित किया, वैसे ही वनमाली ने वन्दर और

वन्दरी दोनों की एक डण्डे से खबर लेकर वह फल उस वन्दरी से छीन लिया ॥२६॥

इत्यशेषं विशेषज्ञो, वीक्षमाणः क्षितीश्वरः ।
तत्क्षणे जातवैराग्या—दनुप्रेक्षामभावयत् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, अशेषम्=सब घटना को, वीक्षमाण =देखने वाले, विशेषज्ञ =विद्वान्, क्षितीश्वर =महाराज जीवन्धर, तत्क्षणे=उसी समय, जातवैराग्यात्=उत्पन्न हुये वैराग्य से, अनुप्रेक्षाम् = बारह भावनाओं को, अभावयत् = भाने लगे ॥२७॥

भावार्थः—उपर्युक्त इस घटना को देख कर जीवन्धर महाराज को वैराग्य उत्पन्न हो गया, इसलिये वे निम्नप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे ॥२७॥

❀ अथानित्यानुप्रेक्षा ❀

मद्यते वनपालोऽयं, काष्ठाङ्गारायते हरिः ।
राज्यं फलायते तस्मा—न्मयैव त्याज्यमेव तत् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—अयम्=यह, वनपाल.=वनमाली, मद्यते = मेरे समान है, हरि = बन्दर, काष्ठाङ्गारायते = काष्ठाङ्गार के समान है, च=और, राज्यम्=राज्य, फलायते=कटहर के फल के समान है, तस्मात् = इसलिये, तत् = वह राज्य, मया = मेरे द्वारा, एव = भी, त्याज्यम् = छोड़ने योग्य, एव = ही, अस्ति = है ॥२८॥

भावार्थः—महाराज जीवन्धर विचार करते हैं कि जिस प्रकार इस बन्दर ने कटहर के फल को तोड़ कर वानरी को दिया, परन्तु वन-रक्षक ने शीघ्र ही उसे ताड़ते हुये वह फल वापिस छीन लिया है, ठीक इसीप्रकार पहिले काष्ठाङ्गार ने येन केन प्रकारेण मेरे पिता महाराज सत्यन्धर से राज्य प्राप्त किया था, परन्तु मैंने इस योग्य बन कर काष्ठाङ्गार का हनन कर उससे वंश परम्परागत अपना राज्य वापिस छीन लिया है,

अतएव मैं तो इस वनपाल के समान हूं, तथा काष्टाङ्गार वन्दर के समान है और राज्य इस फल के समान है। अतः मुझे ही इस राज्य को अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥२८॥

जाताः पुष्टाः पुन र्नष्टा, इति प्राणभृतां प्रथाः।
न स्थिता इति तत्कुर्याः, स्थायिन्यात्मन्पदे मतिम् ॥२६॥

अन्वयार्थौ—जाताः=पैदा हुये, पुष्टा =पुष्ट, हुये पुन = फिर, नष्टा. = नष्ट हो गये, के = कोई, अपि = भी, न स्थिताः=नही वचे, इति = यह, प्राणभृताम् = ससारी प्राणियों की, प्रथा = परिपाटी, अस्ति = है, तत् = इसलिये, आत्मन् = हे आत्मन् (त्वम् = तू) स्थायिनि = स्थिर, पदे = स्थान में, मतिम् =बुद्धि को, कुर्या =लगा।

भावार्थ.—इस संसार मे जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं वे सब स्वल्प समय तक रह कर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं—कोई भी स्थिर नहीं रहता, अतएव बुद्धिमान् प्राणी का कर्त्तव्य है, कि वह जगत् की समस्त वस्तुओं को नश्वर जान कर अविनश्वर मोक्ष स्थान को प्राप्त करने की चेष्टा करे ॥२६॥

स्थायीति क्षणमात्रं वा, ज्ञायते न हि जीवितम्।
कोटेरप्यधिकं हन्त, जन्तूनां हि मनीषितम् ॥३०॥

अन्वयार्थौ—हि=निश्चय से, जीवितम्=जीवन, क्षणमात्रम् = क्षणमात्र, वा = भी, स्थायि = स्थिर, न ज्ञायते = नही जान पडता, (तथापि = तो भी) हन्त = खेद है, यत्=कि, जन्तूनाम्=प्राणियों की, मनीषितम् = इच्छाएँ, कोटे =करोड़ो से, अपि = भी, अधिकम् = अधिक, अस्ति = हैं ॥३०॥

भावार्थः—इस जीवन के क्षण भर भी स्थिर रहने का विश्वास नहीं, परन्तु प्राणियों की इच्छाऐं करोड़ों से भी अधिक है। ऐसी हालत में उनका पूर्ण हो सकना नितान्त असम्भव ही है ॥३०॥

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम् ।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥३१॥

अन्वयार्थौ—विषया = पचेन्द्रिय सबधी विषय, चिरम् = बहुत काल तक, स्थित्वा = रहकर, अपि = भी, यदि = अगर, अवश्यम् = अवश्य, नश्यन्ति = नष्ट हो जाते हैं (तर्हि = तो) स्वयम् = अपने द्वारा ही, त्याज्याः = त्याग देना चाहिये । हि = क्योंकि, तथा = ऐसा करने पर, मुक्ति = कर्मबध का अभाव, स्यात् = होता है । च = और, अन्यथा = इसके विपरीत करने पर, ससृतिः = ससार (एव = ही) स्यात् = होता है ॥३१॥

भावार्थ—पंचेन्द्रिय संबंधी विषय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय अवश्य नष्ट हो जाते हैं, ऐसी हालत में जो मनुष्य विचार पूर्वक उनका परित्याग कर देता है, वह तो पापबंध से रहित हो जाता है। किन्तु इससे विपरीत विषय ही यदि जीव का संबंध छोड़ कर नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य उन्हें स्वयं नहीं त्यागता है, तो उसके ससार-परिभ्रमण का कारण पाप का बंध होता ही रहता है ॥३१॥

अनश्वरसुखावाप्तौ, सत्यां नश्वरकायतः ।
किं वृथैव नयस्यात्मन्, क्षणं वा सफलं नय ॥३२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, नश्वरकायत = नश्वर शरीर से, अनश्वरसुखावाप्तौ = अविनश्वर सुख की प्राप्ति के, सत्याम् = होने पर, क्षणम् = समय को, वृथा = व्यर्थ, एव = ही, किम् = क्यो, नयसि = खोते हो, सफलम् = सफल, नय = करो ॥३२॥

भावार्थ—जब कि इस नश्वर-मनुष्य शरीर से अवि-नश्वर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है; तब विवेकियों को अपना समय व्यर्थ खोना उचित नहीं, मोक्षप्राप्ति के यत्न में ही उसे खर्च करना लाभदायक है ॥३२॥

❀ अथाशरणानुप्रेक्षा ❀

पयोधौ नष्टनौकस्य, पतत्रेरिव जीव ! ते ।
सत्यपाये शरण्यं न, तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥३३॥

अन्वयार्थौ—जीव = हे आत्मन्, पयोधौ = समुद्र में, नष्टनौकस्य = नष्ट हो गई है नौका जिसकी ऐसे, पतत्रे. इव = पक्षी के समान, अपाये सति = मृत्यु के उपस्थित होने पर, ते = तेरा (किम् = कोई, अपि = भी) शरण्यम् = शरण, न अस्ति = नहीं है। किन्तु, स्वास्थ्ये = कुशल होने पर, सहस्रधा = हजारों, शरण्यम् = शरण या सहायक (भवन्ति = होजाते हैं) ॥३३॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जिसप्रकार समुद्र के बीच में नौका से रहित हुये पक्षी का कोई रक्षक नहीं होता, अधिक न उड़ सकने के कारण उसकी जीवनलीला वहीं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार आपत्ति आ जाने पर प्राणी का कोई भी रक्षक नहीं होता, आई हुई आपत्ति का सामना केवल उसे ही करना पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत कुशलता के होने पर अपरिचित जन भी मित्रता करने लगते हैं ॥३३॥

आयुधीयैरतिस्निग्धै — र्बन्धुभिश्चाभिसम्वृतः ।
जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि, पश्यतामेव नश्यति ॥३४॥

अन्वयार्थौ—आयुधीयैः = शस्त्रजीवियो से, च = और, अतिस्निग्धै. = अत्यन्त प्यारे, वन्धुभि: = सम्वन्धियो से, च = भी, अभिसम्वृत. = घिरा हुआ (च = और) सरक्ष्यमाण: = रक्षा किया जाने वाला, अपि = भी, जन्तु. = प्राणी, पश्यताम् = देखने वालो के, अग्रे = आगे, एव = भी, नश्यति = नष्ट हो जाता है ॥३४॥

भावार्थः—जब प्राणी की मृत्यु का समय आ जाता है, तब उसे बड़े बड़े शस्त्रधारी योद्धा और निजी बन्धु जन भी क्यों

न घेरे रहें, परन्तु फिर भी वह काल के ग्रास से बच नहीं सकता उसके प्राण पखेरू देखने वालों के सामने ही उड़ जाते हैं ॥३४॥

मन्त्रतन्त्रादयो ऽप्यात्मन् !, स्वतन्त्रं शरणं न ते
किं तु सत्येव पुण्ये हि, नो चेत्के नाम तैः स्थिताः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, मन्त्रतन्त्राद्यं = मन्त्र और तन्त्र आदिक, अपि = भी, ते = तेरे, स्वतन्त्रम् = पुण्य की अपेक्षारहित, शरणम् = रक्षक, न सन्ति = नही है (परन्तु, ते = वे, अपि = भी) पुण्ये सति = पुण्य के होने पर, एव = ही, शरणम् = शरण, भवन्ति = होते हैं, नो चेत् = यदि ऐसा न हो, तर्हि = तो, तैं = उन मन्त्र तन्त्रादिको से, के नाम = कौन, स्थिता = स्थिर रहे ? 'शरणम्' इत्यत्र नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकत्वम् ॥३५॥

भावार्थः—इस संसार मे मृत्युञ्जय आदिक मंत्र और तरह तरह के तन्त्र (टोटके व औषधि) आदिक पुण्य का उदय रहने पर ही सहायक होते हैं, पुण्य क्षीण होने पर नहीं। यदि पुण्योदय न होने पर भी ये मन्त्रादिक प्राणरक्षण मे स्वतन्त्र सहायक हो सकते तो अनेक मांत्रिक, वैद्य और डाक्टरों द्वारा चिकित्सा करने पर भी प्राणियों की मृत्यु क्यों कर होती ॥३५॥

❀ अथ संसारानुप्रेक्षा ❀

नटवन्नैकवेषेण, भ्रमस्या — त्मन्स्वकर्मतः ।
तिरश्चि निरये पापाद्, दिवि पुण्याद् द्वयान्नरे ॥३६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्वम् = तू, स्वकर्मतः = अपने कर्म से, नैकवेषेण = अनेक भेष धारण करके, नटवत् = नट के समान, पपात् = पाप से, तिरश्चि = तिर्यञ्चगति में (च = और) निरये = नरकगति में, पुण्यात् = पुण्य से, दिवि = स्वर्ग में (च = और) द्वयात् = पुण्य और पाप से, नरे = मनुष्यगति में, भ्रमसि = घूम रहा है ॥३६॥

भावार्थः—जिस प्रकार कोई नट अपने कर्म (आजीविका के निमित्त से तरह तरह के भेषों को बदल कर जगह जगह घूमा करता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी अपने द्वारा किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से आठों कर्मों के नाश पर्यन्त यथायोग्य चतुर्गति में परिभ्रमण करता है ॥३६॥

पञ्चानन इवाऽमोक्षा — दसिपञ्जर आहितः ।
क्षणेऽपि दुःसहे देहे, देहिन्हन्त कथं वसेः ॥३७॥

अन्वयार्थौ—देहिन् = हे आत्मन्, हन्त = खेद है, यत् = कि, त्वम् = तू, आमोक्षात् = मोक्ष अर्थात् छुटकारा पर्यन्त, असिपञ्जरे = लोहे के पिंजड़े में, आहित = बँधे हुये, पचानन इव = सिंह के समान, क्षणे = क्षण भर, अपि = भी, दुःसहे = असह्य, देहे = शरीर में, कथम् = कैसे, वसे. = निवास करता है ॥३७॥

भावार्थः—हे आत्मन! जैसे लोहे के पिंजड़े में बंद किया गया कोई शेर विवश होकर उसमे रहता है, पर उससे छूटने की चाह सदा ही करता रहता है, उसी प्रकार क्षणमात्र भी न सहन करने योग्य इस देहरूपी पंजर में स्थित रहना तेरे लिये भी उचित नहीं, तुझे भी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण करना चाहिये ॥३७॥

तन्नास्ति यन्न वै भुक्तं, पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै, बिन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

अन्वयार्थौ—(हे आत्मन्) पुद्गलेषु = पुद्गलों में, तत् = वह कोई पुद्गल, न अस्ति = नहीं है, यत् = जो (यत्तदो. सामान्ये नपुंसकत्वम्) त्वया = तेरे द्वारा, वै = निश्चय से, मुहु = बार बार, न भुक्तम् = नहीं भोगा गया हो । इति = ऐसी हालत में, तल्लेश. = उन पुद्गलों का कुछ अंश, पीताम्बुधे = समुद्र भर पानी को पी जाने वाले

व्यक्ति के, विन्दु इव = एक बूंद के समान, तव = तेरे, तृप्त्यै = संतोष के लिये, स्यात् = हो सकता है, किम् = क्या ? अपि तु न स्यात् ॥३८॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! इस संसार में जो अनन्त पुद्गल (कार्माण वर्गणा) हैं, उनको यह जीव अनेक बार भोग चुका है। अतएव जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूंद जल के पीने से कभी भी संतोष नहीं हो सकता, उसी प्रकार पुद्गल के कुछ अंशों के सेवन से तुझे भी कभी सन्तोष नहीं हो सकता ॥३८॥

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं, भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।
अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्व-मतुच्छं हन्त नेच्छसि ॥३९॥

अन्वयार्थो—(हे आत्मन् !) त्वम् = तू (यत् = जो वस्तु) भुक्तोज्झितम् = भोग कर छोडी हुई (अस्ति = है) तत् = उस, एव = ही, उच्छिष्टम् = उच्छिष्ट वस्तु को, भोक्तुम् = भोगने के लिये, उत्सुकायसे = उत्कंठित हो रहा है। किन्तु, हन्त = खेद है (यत् = कि) अभुक्तम् = पहिले कभी नहीं भोगे गये, अतुच्छम् = महान्, मुक्तिसौख्यम् = मोक्ष रूपी सुख को, न इच्छति = इच्छा नहीं करता ॥३९॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! तू जिन वस्तुओं को अनेक बार भोग कर उच्छिष्ट कर चुका है, उन्हीं को बार बार भोगने के लिये उत्सुक होता है, परन्तु खेद है कि जिस अविनश्वर और आनन्दप्रद मोक्षसुख का तुझे एक बार भी स्वाद नहीं मिला है, उसके पाने की कभी चेष्टा भी नहीं करता ॥३९॥

संसृतौ कर्म रागाद्यै—स्ततः कायान्तरं ततः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा, रागाद्याश्चक्रकं पुनः ॥४०॥

अन्वयार्थौ—संसृतौ = संसार में, रागाद्यैः = राग द्वेषादिक भावों से, कर्म = कर्मबन्ध (स्यात् = होता है) ततः = उन कर्मबन्ध से,

कायान्तरम्=नवीन शरीर की उत्पत्ति (स्यात्=होती है) ततः=उस शरीर से, इन्द्रियाणि = इन्द्रिया (स्यु: = होती हैं, इन्द्रियद्वारा = इन्द्रियो के द्वारा, रागाद्याः = राग और द्वेषादिक (भवेयु:=होते हैं) एवम्=इस प्रकार) पुनः=फिर भी, चक्रकम् = ससार में परिभ्रमण (एव = ही, स्यात् = होता है) ॥४०॥

भावार्थः—इस संसार मे, रागद्वेषादिक भावों के कर्मबंध, कर्मबंध से शरीरान्तर की प्राप्ति, शरीरान्तर से इन्द्रियों की उत्पत्ति और इन्द्रियों से रागद्वेषादिक सदा ही होते रहते हैं, इस प्रकार यह संसारचक्र अनादिकाल से घूमता चला आरहा है और जबतक मोक्ष की प्राप्ति न होगी तबतक घूमता ही रहेगा।

सत्यनादौ प्रबन्धे ऽस्मिन्, कार्यकारणरूपके।
येन दुःखायसे नित्य—मद्य वात्मन्विमुञ्च तत् ॥४१॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, कार्यकारणरूपके=कार्य और कारण स्वरूप, अस्मिन् = इस उपर्युक्त, प्रबन्धे = परिपाटी के, अनादौ सति = अनादि होने पर, येन = जिस कर्मबन्ध से, त्वम्=तुम, नित्यम् = सदा, दुःखायसे = दुखी हो रहे हो, तत्=उस कर्मबन्ध को, अद्य=आज, वा=ही, विमुञ्च = छोड दे ॥४१॥

भावार्थ—हे आत्मन्! जब कि अनादिकाल से चली आई उपर्युक्त रागादिक की परिपाटी तुझे दुःखित कर रही है, तो तेरा कर्तव्य है कि उसका शीघ्र ही अन्त कर दे ॥४१॥

❀ अथ एकत्वानुप्रेक्षा ❀

त्यक्तोपात्तशरीरादिः, स्वकर्मानुगुणं भ्रमन्।
त्वमात्मन्नेक एवासि, जनने मरणे ऽपि च ॥४२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्यक्तोपात्तशरीरादिः = पूर्व शरीर को छोडकर नवीन शरीर को ग्रहण करने वाला, च = और,

स्वकर्मानुगुणम् = स्वकृत कर्मों के अनुसार, भ्रमन् = भ्रमण करता हुआ, त्वम् = तू, जनने = पैदायश के विषय में, च = और, मरणे = मरण के विषय में, एक = अकेला, एव = ही, असि = है ॥४२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! तू अकेला ही पैदा होता और अकेला ही मरता है, तेरे द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने में कोई भी तेरा साथी नहीं होता ॥४२॥

बन्धवो हि श्मशानान्ता, गृह एवार्जितं धनम् ।
भस्मने गात्रमेकं त्वां, धर्म एव न मुञ्चति ॥४३॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय मे, बन्धव = बन्धु जन, श्मशानान्ता = श्मशान पर्यन्त ही साथ जाने वाले (सन्ति = हैं) अर्जितम् = कमाया हुआ, धनम् = धन, गृहे = घर में, एव = ही, तिष्ठति = रह जाता है, च = और, गात्रम् = शरीर, भस्मने = राख के लिये, स्यात् = होता है, किन्तु, एक = केवल, धर्म = धर्म, एव = ही, त्वाम् = तुझ को, न मुञ्चति = नहीं छोड़ता है। भस्मने इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी विज्ञेया ॥४३॥

भावार्थ—इस संसार मे धर्म ही एक ऐसी वस्तु है; जो परभव मे भी जीव के साथ जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य सब-वस्तुएं इसी पर्याय में नाता तोड देती हैं। जैसे—बन्धुगण तो श्मशान तक ही साथ देते है, धन घर मे ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बन जाता है ॥४३॥

पुत्रमित्रकलत्राद्य — मन्यदप्यन्तरालजम् ।
नानुयायीति नाश्चर्यं, नन्वङ्गं सहजं तथा ॥४४॥

अन्वयार्थौ—पुत्रमित्रकलत्राद्यम् = पुत्र, मित्र और स्त्री आदिक, च = और, अन्तरालजम् = जीवनयात्रा के बीच में प्राप्त होने वाले, अन्यत् = और, अपि = भी, अनुयायि = साथ जाने वाले, न भवति =

नही होते, इति = इसमें, आश्चर्यम् = आश्चर्य, न अस्ति = नही है ननु = किन्तु, सहजम् = साथ उत्पन्न हुआ, अङ्गम् = शरीर, अपि = भी, तथा = साथ जाने वाला नही है, इति = यह ही, आश्चर्यम् = आश्चर्य, अस्ति = है ॥४४॥

भावार्थः- जीवन में समय समय पर प्राप्त होने वाली बाह्य वस्तुएँ पुत्र, मित्र, स्त्री, धन और धान्यादि कोई भी परभव में जीव के साथ नही जातीं; इसमे कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु जो शरीर नवीन पर्याय के प्रारम्भ मे प्राणी के साथ ही पैदा होता है; वह भी परभव में उसके साथ नहीं जाता यह महान् आश्चर्य की बात है। अथवा —जब कि आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला शरीर भी अन्त समय में प्राणी का साथ नहीं देता, तब प्रत्यक्ष भिन्न रहने वाले स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक से क्या आशा की जा सकती है ? ॥४४॥

त्वमेव कर्मणां कर्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः ।
मोक्ता च तात ! किं मुक्तौ, स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥४५॥

अन्वयार्थौ—तात = हे आत्मन्, त्वम् = तुम, एव = ही, कर्मणाम् = कर्मों का, कर्त्ता = करने वाले, फलसन्तते. = कर्मफलों के, भोक्ता = भोगने वाले, च = और, मोक्ता = नाश करने वाले, असि = हो, पुनः = फिर, स्वाधीनायाम् = निजाधीन, मुक्तौ = मुक्ति पाने के विषय में, किम् = क्यों, न चेष्टसे = कोशिश नही करते हो ? ॥४५॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, उनके फलों का भोक्ता और उनका नाशक एक तू ही है, अतएव जब कि तुझ मे कर्मों के नाश करने की शक्ति मौजूद है, तब तेरा कर्तव्य है कि तू जिसकी प्राप्ति तेरे ही अधीन है, उस मुक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा कर ॥४५॥

अज्ञातं कर्मणैवात्मन्, स्वाधीनेऽपि सुखोदये।
नेहसे तदुपायेषु, यतसे दुःखसाधने ॥४६॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् = हे आत्मा, त्वम् = तू, कर्मणा = कर्म से, एव = ही, अज्ञातम् = अज्ञानपूर्वक, स्वाधीने = स्वाधीन, सुखोदये = मोक्षसुख के विषय में, च = और, तदुपायेषु = उसके उपायो के विषय में, न ईहसे = चेष्टा नही करता, किन्तु, दुःखसाधने = दुखो के कारणो के विषय में, यतसे = प्रयत्न करता है ॥४६॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू कर्म के वशीभूत हो अज्ञानी होकर स्वाधीन मोक्ष सुख और उसके उपायों के विषय में तो चेष्टा (कोशिश) नहीं करता है, किन्तु इससे विपरीत दुःखों के कारणभूत सांसारिक कार्यों के करने में मग्न होरहा है ॥४६॥

❀ अथान्यत्वानुप्रेक्षा ❀

देहात्मकोऽहमित्यात्म-ञ्जातु चेतसि मा कृथाः।
कर्मतो ह्यपृथक्त्वं ते, त्वं निचोलासिसन्निभः ॥४७॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन् त्वम् = तू, अहम् = मैं, देहात्मकः = शरीर रूप (अस्मि हूँ) इति = ऐसा विचार, चेतसि = चित्त में, जातु = कभी भी, मा कृथा = मत कर, हि = क्योंकि, कर्मतः = कर्मबन्ध के कारण, ते = तेरी, अपृथक्त्वम् = शरीर के साथ एकता (अस्ति = है, तथापि = तो भी) त्वम् = तू, निचोलासिसन्निभः = म्यान के भीतर रहने वाली तलवार के समान (असि = है) ॥४७॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू "मैं शरीररूप हूँ" ऐसा विचार अपने मन में कभी भी मत कर। क्योंकि यद्यपि कर्मबन्ध से तू और तेरा शरीर एकमेक हो रहे हैं, तो भी जैसे म्यान मे रखी हुई तलवार म्यान से जुदी ही रहती है, उसी प्रकार शरीर मे रहते हुये भी तू शरीर से अलग है ॥४७॥

अध्रुवत्वादमेध्यत्वा — दचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।
चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वे–रात्मन्नन्योऽसि कायतः ॥४८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, अध्रुवत्वात् = अनित्य होने से, अमेध्यत्वात् = अपवित्र होने से, च = और, अचित्त्वात् = चेतनारहित होने से, अङ्गकम् = शरीर, अन्यत् = पर वस्तु (अस्ति = है, तथा = और,) चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैः = चेतन; नित्य और पवित्र होने से, त्वम् = तुम, कायतः = शरीर से, अन्यः = भिन्न, असि = हो ॥४८॥

भावार्थः—हे आत्मन ! जब कि शरीर अचेतन, अनित्य और अपवित्र है, किन्तु तू सचेतन, नित्य और पवित्र है, तब तुम दोनों में अभेद कैसे हो सकता है ? ॥४८॥

हेये स्वयं सती बुद्धि—र्यत्नेनाऽप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्त—मात्मानमपि साधयेत् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—बुद्धिः = बुद्धि, हेये = खोटे कार्य में, स्वयम् = अपने आप, सती = प्रवृत्त (च = और) शुभे = अच्छे कार्य में, यत्नेन = कोशिश करने से, अपि = भी, असती = अप्रवृत्त, स्यात् = होती है। (च = और) तद्धेतुकर्म = उसका कारण पापकर्म, आत्मानम् = आत्मा को, अपि = भी, तद्वन्तम् = वैसा ही विपरीत प्रवत्ति कर्त्ता, साधयेत् = बना देता है।

भावार्थ—बुद्धि के खोटे कार्य मे स्वतः प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य मे कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने मे कारण भूत पापकर्म, आत्मा (जीव) को भी खोटे कार्य मे प्रवृत्ति करने वाला और करणीय कार्यो मे प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है।

❋ अथाशुचित्वानुप्रेक्षा ❋

मेध्यानामपि वस्तूनां, यत्सम्पर्कादमेध्यता ।
तद् गात्रमशुचीत्येतत्, किं नाल्पमलसम्भवम् ॥५०॥

अन्वयार्थौ—यत्सम्पर्कात्=जिसकी संगति से, मेध्यानाम् = पवित्र, अपि भी, वस्तूनाम् = वस्तुओं के, अमेध्यता = अपवित्रता (स्यात्=हो जाती है) अल्पमलसम्भवम् = रज और वीर्य रूप अल्पमल से उत्पन्न हुआ, तत्=वहीं, एतत् = यह, गात्रम् = शरीर, अशुचि = अपवित्र, नास्ति किं=नही है क्या ? (अपि तु, अस्त्येव=है ही ॥५०॥

भावार्थः—जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएं भी अपवित्र हो जाती है, तथा जो रज और वीर्य आदि मलों से उत्पन्न होता है वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ? किन्तु कभी नहीं ॥५०॥

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि, सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
रम्यमूहे किमन्यत्स्या-न्मलमांसास्थिमज्जतः ॥५१॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, कर्मशिल्पिन = कर्मरूपी कारीगर की, सामर्थ्यात्=चतुराई से, अस्पष्ट यथा स्यात्तथा=स्पष्टरूप से नही, दृष्टम् =देखा गया (इदम्=यह) अङ्गम्=शरीर, रम्यम्=सुन्दर, (भापते = मालूम होता है) । किन्तु, ऊहे = विचार करने पर (अत्र = इस शरीर में) मलमांसास्थिमज्जत = मल; मास, हड्डी और मज्जा से, अन्यत्=भिन्न और, किम्=क्या (अस्ति=है ?) ॥५१॥

भावार्थः—नाम कर्मजन्य सौन्दर्य आदि के कारण यद्यपि यह शरीर ऊपर से देखने मे सुन्दर मालूम होता है, परन्तु वास्तव मे इसके भीतर मल, मास, हड्डी और चर्बी आदि के सिवाय और कोई अच्छी वस्तु नहीं है ॥५१॥

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्, बहि र्देहस्य किम्परैः ।
आस्तामनुभवेच्छेय-मात्मन्को नाम पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, परैः = और से, किम् = क्या? चेत् = यदि, दैवात् = भाग्य से, देहस्य = शरीर का, अन्त स्वरूपम-

भीतरी भाग, वहि.=बाहर (स्यात् = निकल आवे, तर्हि = तो) इयम् = यह, अनुभवेच्छा = शरीर के भोगने की चाह, दूरे = दूर, आस्ताम् = रहे (एतत् = इस शरीर को) क. नाम = कौन विवेकीजन, पश्यति = देखेगा ? ॥५२॥

भावार्थः—यदि किसी प्रकार इस शरीर का भीतरी भाग बाहर दिखने लगे, तो इसके भोग की तो बात ही क्या ? मनुष्य इस पर नजर डालने में भी घृणा करेंगे ॥५२॥

एवं पिशितपिण्डस्य, क्षयिणोऽक्षयशङ्कृतः ।
गात्रस्यात्मन्क्षयात्पूर्वं, तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥५३॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, एवम् = इस प्रकार, क्षयिण: = नश्वर, किंतु, अक्षयशकृत: = अनिश्वर सुख को प्राप्त कराने वाले, पिशितपिण्डस्य = मांस के पिंडस्वरूप, गात्रस्य = शरीर के, क्षयात् = नाश से, पूर्वम् = पहिले, तत्फलम् = उस मोक्षसुखस्वरूप फल को, प्राप्य = प्राप्त कर, तत् = उस शरीर को, त्यज = छोड दे ।

भावार्थः—यद्यपि मांस के पिण्डरूप यह मनुष्य शरीर नश्वर है, तथापि वह मोक्षप्राप्ति का कारण है, अर्थात् इससे धर्मसाधन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । अतएव हे आत्मन् ! जब तक यह नष्ट नहीं होता है, तब तक इससे मोक्षप्राप्ति के साधनों को एकत्रित कर लेना चाहिये ॥५३॥

आत्तसारं वपुः कुर्या—स्तथात्मँस्तत्क्षयेऽप्यभीः ।
आत्तसारेक्षुदाहेऽपि, न हि शोचन्ति मानवाः ॥५४॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्वम् = तू, अपि = भी, वपुः = शरीर को, तथा = इस प्रकार, आत्तसारम् = ग्रहण कर लिया है सार पदार्थ जिससे ऐसा, कुर्या. = करो, यतः = जिससे, तत्क्षये = उस

शरीर के नाश हो जाने पर, अपि = भी, अभीः = निर्भय, स्याः = रहो, नीति —हि = निश्चय से, मानवाः = मनुष्य, आत्तसारेक्षुदाहे = रस रूपी सार के खीच लेने पर रसविहीन ईख के जलाने के विषय में, न शोचन्ति = रंज नही करते ॥५४॥

भावार्थ —जैसे मनुष्य ईख से सार (रस) के निकाल लेने पर, उसके जलाने मे रंज नहीं करता, उसी प्रकार हे आत्मन् ! तेरा भी कर्त्तव्य है, कि तू भी इस मनुष्य शरीर से मोक्ष के साधनों को प्राप्त कर उसे निःसार बना, जिससे इसके नाश होने में तुझे भी रंज न हो ॥५४॥

❀ अथास्रवानुप्रेक्षा ❀

अजस्रमास्रवन्त्यात्मन् !, दुर्मोचाः कर्मपुद्गलाः ।
तैः पूर्णस्त्वमधोऽधः स्या, जलपूर्णो यथा प्लवः ॥५५॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे = आत्मन् !, दुर्मोचाः = कठिनता से दूर होने वाले, कर्मपुद्गलाः = पुद्गलमय कर्मपरमाणु त्वयि = तेरे में, अजस्रम् = प्रतिसमय, आस्रवन्ति = आते हैं, तैः = उनसे, पूर्णः = भरा हुआ, त्वम् = तू, जलपूर्णः = जल से भरी हुई, प्लवः यथा = नौका के समान, अधः अधः = नीचे नीचे, स्याः = हो जाता है ॥५५॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! तेरे में प्रतिसमय पुद्गलमय कर्मों का आगमन (आस्रव) हो रहा है। जैसे किसी नौका मे जब छिद्र द्वारा जल आता है; तब वह क्रमशः नीचे जल में डूबती जाती है, उसी प्रकार तू भी उस कर्मास्रव के कारण अधोगति को प्राप्त होता जा रहा है ॥५५॥

तन्निदानं तवैवात्मन् !, योगभावौ सदातनौ ।
तौ विद्धि सपरिस्पन्दं, परिणामं शुभाशुभम् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, तन्निदानम्=उस आस्रव के कारण, तव=तेरे, एव=ही, सदातनौ=अनादिकाल से सम्बद्ध, योग-भावौ=योग और कषायपरिणाम (स्त.=हैं)। सपरिस्पन्दम्=आत्म-प्रदेशो की चंचलता सहित, शुभाशुभम्=राग द्वेष रूप, परिणामम्=परिणामो को, तौ=योग और कषाय, विद्धि=जानना चाहिये ॥५६॥

भावार्थ—आत्मा के साथ अनादि काल से संबद्ध योग और कषाय ही इस आस्रव के कारण हैं। इनमे से मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाली आत्मा के प्रदेशों की चंचलता को योग तथा शुभ और अशुभ आत्मा के परिणामों को कषाय कहते हैं ॥५६॥

आस्रवो ऽयममुष्येति, ज्ञात्वात्मन्कर्म कारणे।
तत्तन्निमित्तवैधुर्या—दपवाह्योर्ध्वगो भव ॥५७॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्! अमुष्य=अमुक कर्म का, अयम्=यह, आस्रव=आस्रव (अस्ति=है) इति=इस प्रकार, कर्मकारणे=कर्म और उसके कारण को, ज्ञात्वा=जानकर, तत्तन्निमित्तवैधुर्यात्=उन दोनो के निमित्त के त्याग से (ते=उन) कर्मकारणे=कर्म और उसके कारण को, अपवाह्य=हटा कर, उर्ध्वग=मुक्त, भव=हो ॥५७॥

भावार्थ—हे आत्मन् 'अमुक कर्म के आने (आस्रव) का अमुक कारण है, इस प्रकार कर्म और उसके कारणों को जान कर उन्हें अपने से अलग कर दे, जिससे तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ॥५७॥

❀ अथ सम्वरानुप्रेक्षा ❀

संरक्ष्य समिति गुप्ति—मनुप्रेक्षापरायणः।
तपः संयमधर्मात्मा, त्वं स्या जितपरीषहः ॥५८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, त्वम्=तू, गुप्तिम्=तीन गुप्तियो को, समितिम्=पाच समितियो को, सरक्ष्य=पालन करके, अनुप्रेक्षा-

परायण = बारह भावनाओं के भाने में तत्पर (तथा) तपसंयम-धर्मात्मा = तप, संयम और धर्मों का धारक (सन् = होता हुआ) जितपरीषह = परीषहों का विजेता, स्या: = हो ॥५८॥

भावार्थः—आस्रव अर्थात् आते हुये नवीन कर्मों का रुकना संवर है। व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, तप, धर्म और परीषहजय ये सब इसी संवर के कारण हैं। अतएव हे आत्मन्! तू उस संवर के निमित्त इन सब का पालन कर ॥५८॥

एवं च त्वयि सत्यात्मन्, कर्मास्रवनिरोधनात्।
नीरन्ध्रपोतवद् भूयाः, निरपायो भवाम्बुधौ ॥५९॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्! कर्मास्रवनिरोधनात् = कर्मों का आस्रव रुक जाने से, त्वयि = तेरे, एवम् = इस प्रकार संवरमय-निरास्रव, सति = होने पर (त्वम् = तू) नीरन्ध्रपोतवत् = छिद्ररहित नौका के समान, भवाम्बुधौ = संसाररूपी समुद्र में, निरपाय = अपायरहित, भूया: = हो जावेगा। तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः इति सूत्रेणात्र वतिप्रत्ययः।

भावार्थ—जैसे नौका के भीतर जल आने का छिद्र (मार्ग) रुक जाने पर वह जलाशय मे खतरा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा मे कर्मों के आगमन का द्वार (आस्रव) रुक जाने पर इसे भी संसारसागर मे फँसने का डर नहीं रहता ॥५९॥

विकथादिवियुक्तस्त्व—मात्म—भावनयाऽन्वितः।
त्यक्तबाह्यस्पृहो भूया, गुप्त्याद्यास्ते करस्थिताः ॥६०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, आत्मभावनया = आत्मचिन्तवन से, अन्वितः = युक्त (च = और) विकथादिवियुक्त. = विकथा आदि प्रमादों से रहित, त्वम् = तू, त्यक्तबाह्यस्पृह. = बाह्यपदार्थों में इच्छा-रहित, भूया. = हो (एवम् = ऐसा, कृते सति = करने पर) गुप्त्याद्या. =

और समिति आदिक, ते = तेरे, करस्थिता: = हस्तगत (एव = ही) (स्युः = हो जावेंगे) ॥६०॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! तेरा कर्त्तव्य है कि तू आत्मध्यानी बन विकथा और कषाय आदि प्रमादों से रहित होकर धन धान्यादिक बाह्य पदार्थों से ममता को छोड़ दे। ऐसा करने से तुझे पूर्वोक्त गुप्ति, समिति और तप आदिक स्वयमेव ही प्राप्त हो जावेंगे ॥६०॥

एवमक्लेशगम्येऽस्मि-आत्माधीनतया सदा ।
श्रेयोमार्गे मतिं कुर्याः, किं बाह्ये तापकारिणि ॥६१॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, एवम् = इस प्रकार, सदा = हमेशा, आत्माधीनतया = अपने ही अधीन होने से, अक्लेशगम्ये = अनायास प्राप्त होने योग्य, अस्मिन् = इस, श्रेयोमार्गे = मोक्षमार्ग में, मतिम् = बुद्धि को, कुर्याः = लगा, तापकारिणि = दुःखजनक, बाह्ये = बाह्य सासारिक कार्य में (तस्याः = उस बुद्धि के (प्रयोगे = लगाने में) किम् क्या प्रयोजन, (अस्ति = है) ॥६१॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! सांसारिक कार्यों में बुद्धि लगाने से आत्मोद्धार नहीं हो सकता, इसलिये मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना ही सर्वथा उचित है। यह मोक्षमार्ग स्वाधीन है, अतएव अनायास साध्य भी है ॥६१॥

शुष्कनिर्बन्धतो बाह्ये, मुह्यतस्तव हृद्व्यथा ।
प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन् !, प्रत्यक्षनिरयोचिता ॥६२॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, बाह्ये = परपदार्थों में, शुष्कनिर्बन्धत. = मिथ्यासम्बन्ध से, मुह्यतः = मोह करने वाले, तव = तेरी, हृद्व्यथा = मानसिक पीड़ा, ननु = निश्चय से, प्रत्यक्षनिरयोचिता = प्रत्यक्ष में नरक के योग्य, प्रत्यक्षिता = प्रत्यक्ष, एव = ही (अस्ति = है) ॥६२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! पर पदार्थों में मोह करने से तुझे जो मानसिक पीड़ा होती है, वह नरक को प्राप्त कराने वाली प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रही है ॥६२॥

❀ अथ निर्जरानुप्रेक्षा ❀

रत्नत्रय — प्रकर्षेण, वद्धकर्मक्षयोऽपि ते।
आध्मातः कथमप्यग्नि–र्दाह्यं किं वावशेषयेत् ॥६३॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, रत्नत्रयप्रकर्षेण = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि से, ते = तेरे, वद्धकर्मक्षय = पूर्वसचित कर्मों का नाश, अपि = भी (भवेत् = हो जायगा। (यत = क्योंकि) कथमपि = किसी प्रकार, आध्मात = प्रज्वलित की गई, अग्निः = अग्नि, दाह्यम् = जलाने योग्य वस्तु को, अवशेषयेत् = बाकी रहने देती है, किम् = क्या ? ॥६३॥

भावार्थः—जिस प्रकार वायु वगैरह के निमित्त से प्रज्वलित हुई अग्नि सभी दाह्य वस्तुओं को भस्म कर देती है—किसी को भी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्रकर्षता (अधिकता) से पूर्वसंचित समस्त कर्मों का भी निश्चय से ही नाश होता है ॥६३॥

क्षयादनास्रवाच्चात्मन्, कर्मणामसि केवली।
निर्गमे चाप्रवेशे च, धाराबन्धे कुतो जलम् ॥६५॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, कर्मणाम् = कर्मों के, क्षयात् = क्षय से, च = और, अनास्रवात् = आस्रव न होने–संवर से, त्वम् = तू, केवली = बन्धरहित (भवेः = हो जावेगा) यत. = क्योंकि, धाराबन्धे = सरोवर में, जलस्य = मौजूद जल के, निर्गमे = निकल जाने पर, च = और, अप्रवेशे = नवीन जल के न आने पर, जलम् = जल, कुतः = कहां से (भवेत् = हो सकता है ? ॥६४॥

भावार्थः—जैसे किसी जलाशय का पूर्व सञ्चित जल तो निकाल दिया जावे और नवीन जल उसमें नहीं आ सके; तो वह जलाशय किसी समय निर्जल अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में जब सविपाक या अविपाक निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का नाश और संवर (आस्रवनिरोध) के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध हो जाता है, तब वह भी केवली बन जाता है अर्थात् कर्मरहित हो जाता है ॥६४॥

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च, त्वयात्मन्सुलभैव सा ।
मोहक्षोभविहीनस्य, परिणामो हि निर्मलः ॥६५॥

अन्वयार्थौ—(किं च=और) आत्मन्, तदा = उस निर्जरा और संवर के होने पर, सा=वह, रत्नत्रयस्य=रत्नत्रय की, पूर्ति=पूर्णता, च = भी, त्वया = तेरे द्वारा, सुलभा एव = सुलभ ही (अस्ति=है)। हि=क्योंकि, मोहक्षोभविहीनस्य = मोह के व्यापार से रहित जीव के, परिणामः = परिणाम समूह, निर्मलः = निर्मल (भवति एव = होता ही है)। परिणाम इत्यत्र जात्यर्थे एकवचनम्) ॥६५॥

भावार्थ—जब तक मोहनीय कर्म का उदय रहता है; वहीं तक आत्मा के परिणामों में मलिनता रहती है, किन्तु मोह के नष्ट होजाने पर वे परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। इसलिये हे आत्मन ! जब तू मोहनीय कर्म से रहित हो जायगा, तब तेरे लिये रत्नत्रय की पूर्ति का होना भी कठिन नहीं रहेगा।

परिणामविशुद्ध्यर्थं, तपो बाह्यं विधीयते ।
न हि तन्दुलपाकः स्यात्, पावकादिपरिक्षये ॥६६॥

अन्वयार्थौ—(हे आत्मन्) परिणामविशुद्ध्यर्थम् = परिणामों की निर्मलता के लिये, बाह्यम् = बाह्य, तपः = तप, विधीयते = किया जाता है। नीतिः—हि = क्योंकि, पावकादिपरिक्षये = अग्नि आदि के न

होने पर तण्डुलपाक = चावलों का पकना, न स्यात् = नहीं हो सकता है ॥६६॥

भावार्थ—हे आत्मन ! जैसे चावल और जल (उपादान कारण) के मौजूद रहने पर भी वाह्यकारण अग्नि और बटलोई आदिक न होने पर भात नहीं बन सकता उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि भी बाह्यतप के विना नहीं हो सकती, इसलिये परिणामों की विशुद्धि के लिये बाह्य-तप करना आवश्यक है ॥६६।

परिणामविशुद्धिश्च, बाह्ये स्यान्निस्पृहस्य ते ।
निःस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्‌ बाह्ये मुह्यसि किं मुधा ॥६७॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! बाह्ये = बाह्यपदार्थों में, निस्पृहस्य = इच्छारहित, ते = तेरे, परिणामविशुद्धिः = परिणामों की निर्मलता, स्यात् = होगी । तु = और, निस्पृहत्वम् = इच्छा या आकुलता का मिट जाना (एव = ही) सौख्यम् = सुख (अस्ति = है) । तत् = इसलिये, बाह्ये = बाह्य पदार्थों में, मुधा = व्यर्थ, किम् = क्यों, मुह्यसि = मोह करता है ? ॥६७॥

भावार्थ—हे आत्मन ! बाह्यपदार्थों से इच्छा या ममत्व हटने से ही परिणामों की विशुद्धि होती है और पर पदार्थों से इच्छा (ममत्व या आकुलता) का हट जाना ही सच्चा सुख है । इसलिये बाह्यपदार्थों में मोह करना उचित नहीं ॥६७॥

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वा त्व—मात्मन्यात्मानमात्मना ।
भावयन्पश्य तत्सौख्य—मास्तां निःश्रेयसादिकम् ॥६८॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, त्वम् = तू, गुप्तेन्द्रियः = जितेन्द्रिय (भूत्वा = होकर) आत्मनि = आत्मा में आत्मना = आत्मा के द्वारा, आत्मानम् = आत्मा को, क्षणम् = क्षणमात्र, भावयन् = ध्यान

करता हुआ, तत्सौख्यम् = उस निस्पृहत्वरूप सुख को, पश्य = देख, निःश्रेयसादिकम् = मोक्षसुख आदिक, आस्ताम् = दूर रहें ॥६८॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! इन्द्रिय-विजयी बन कर आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करने से वह निस्पृहत्व-रूप सुख सहज ही प्राप्त किया जा सकता है और इसी से मोक्ष आदिक भी क्रमशः प्राप्त किये जा सकते हैं ॥६८॥

अनन्तं सौख्यमात्मोत्थ—मस्तीत्यत्र हि सा प्रमा ।
शान्तस्वान्तस्य या प्रीतिः, स्वसम्वेदनगोचरा ॥६९॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, आत्मोत्थम् = आत्मा से उत्पन्न हुआ, सौख्यम् = सुख, अनन्तम् = अनन्त या अमर्यादित, अस्ति = है, इत्यत्र = इस विषय में, शान्तस्वान्तस्य = शान्त चित्त वाले मनुष्य के, या = जो, स्वसंवेदनगोचरा = स्वसंवेदनज्ञान के विषयभूत, प्रीतिः = आनन्द (जायते = हुआ करता है) सा = वह (एव = ही) प्रमा = प्रमाण (अस्ति = है) ॥६९॥

भावार्थः—मनुष्य जब कुछ समय के लिये अपने चित्त को वश में करके निराकुल हो जाता है, तब उसे उस समय अपने ही अनुभव में आने वाला जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, उससे यह निश्चय ही सिद्ध होता है कि आत्ममात्र की अपेक्षा से प्रगट होने वाला सुख अवश्य ही अनन्त है ॥६९॥

❀ अथ लोकानुप्रेक्षा ❀

प्रसारितांघ्रिणा लोकः, कटिनिक्षिप्तपाणिना ।
तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधो-विभागस्त्रिमरुद्वृतः ॥७०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! ऊर्ध्वमध्याधोविभागः = ऊर्ध्व, मध्य और अधः भेद वाला, त्रिमरुद्वृतः = तीन वातवलयों से वेष्ठित, अयम् = यह, लोकः = भुवन, प्रसारितांघ्रिणा = पैरों को फैलाये हुये, तथा,

कटिनिक्षिप्तपाणिना = कमर पर हाथ रखे हुये, पुंसा = पुरुष के (तुल्यार्थे ऽ त्र तृतीया) तुल्यः = समान (अस्ति = है) ॥७०॥

भावार्थः—हे आत्मन्! यह षड्द्रव्यमय लोक पैरों को फैलाये तथा कमर पर हाथ रखे हुये पुरुष के आकार है। इसके ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीन भेद हैं। यह घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्ठित है—इनसे सधा है।

जन्ममृत्योः पदे ह्यात्म—न्नसंख्यात—प्रदेशके।
लोके नायं प्रदेशोऽस्ति, यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥७१॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, जन्ममृत्योः = जन्म और मृत्यु के, पदे = स्थानस्वरूप, असंख्यातप्रदेशके = असंख्यातप्रदेशरूप, अस्मिन् = इस, लोके = लोक में, अयम् = ऐसा, प्रदेशः = प्रदेश, न अस्ति = नहीं है, यस्मिन् = जिस प्रदेश में (त्वम् = तू) अनन्तशः = अनन्तवार, न अभूः = पैदा नही हुआ हो ॥७१॥

भावार्थः—हे आत्मन्! यह लोक असंख्यात-प्रदेशी है, इसका कोई ऐसा प्रदेश बाकी नहीं है, जिसमें प्राणी ने अनन्त-(बहुत) बार जन्म मरण धारण न किया हो ॥७१॥

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन्, पूर्ववत्संसरिष्यति।
कारणे जृम्भमाणेऽपि, न हि कार्यपरिक्षयः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्! त्वम् = तू, अज्ञाने सति = अज्ञान के होने पर, पूर्ववत् = पहिले की तरह, पुनः = फिर, संसरिष्यति = संसार में परिभ्रमण करेगा। नीति—हि = क्योंकि, कारणे = कारण के, जृम्भमाणे = बढते रहने पर, अपि = भी, कार्यपरिक्षयः = कार्य का विनाश, न भवति = नही होता ॥७२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! स्वपर का भेदविज्ञान न होने पर तू हमेशा की तरह इस संसार में परिभ्रमण करेगा। क्योंकि कार्य-

रणादिक कारण सामग्री के रहने पर कार्य का प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है। इसलिये तू स्वपर के भेदविज्ञान को प्राप्त कर, जिससे संसार के दुःखों से मुक्त हो सके ॥७२॥

यतस्व तत्तपस्यात्मन्, मुक्त्वा मुग्धोचितं सुखम्।
चिरस्थाय्यन्धकारोऽपि, प्रकाशे हि विनश्यति ॥७३॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्!, तत् = इसलिये, मुग्धोचितम् = मूर्खजनो के भोगने योग्य, सुखम् = इन्द्रियजन्य सुख को, मुक्त्वा = छोड कर, तपसि = तप के विषय में, यतस्व = यत्न कर। नीतिः-हि= क्योकि, प्रकाशे = प्रकाश के होने पर, चिरस्थायी = चिरकाल से स्थिति रहने वाला, अन्धकार = अन्धकार, अपि = भी, विनश्यति = नष्ट हो जाता है ॥७३॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जैसे प्रकाश के होने पर चिरकाल स्थित रहने वाला अन्धकार भी कूच कर जाता है, उसी प्रकार तप के करने से प्राणी का संसार-परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है, अतएव संसार से नाता तोड़ने के लिये तुझे तप करना उचित है ॥७३॥

❀ अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ❀

भव्यत्वं कर्मभूजन्म, मानुष्यं स्वङ्गवंश्यता।
दुर्लभं ते क्रमादात्मन्! समवायस्तु किम्पुनः ॥७४॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन्! ते = तेरे, भव्यत्वम् = भव्यपना, कर्मभूजन्म = कर्मभूमि में जन्म, मानुष्यम् = मनुष्यपर्याय, स्वङ्गवंश्यता = सुन्दरशरीर और अच्छे कुल में उत्पत्ति, क्रमात् = क्रम से, दुर्लभम् = दुर्लभ (अस्ति = हैं)। तु = तो, पुनः = फिर, समवायः = पांचो के समूह का होना, किम् = कहना ही क्या है? जहां धर्म और आजीविका के कार्य किये जाते हैं उस स्थान को कर्मभूमि कहते है ॥७४॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! रत्नत्रय के आविर्भाव-जनक-शक्तिरूप १-भव्यपना; २-कर्मभूमि में जन्म, ३-मनुष्यपर्याय, ४-सुन्दरशरीर और ५-उत्तमकुल में उत्पत्ति इन पांचों मे से क्रम से एक एक की प्राप्ति होना भी जब कठिन है, तब एक साथ पांचों का मिलना तो अत्यन्त कठिन बात है ॥७४॥

व्यर्थः सः समवायो ऽपि,तवात्मन्धर्मधी र्न चेत् ।
कणिशोद्गमवैधुर्ये, केदारादिगुणेन किम् ॥७५॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् !, चेत् = यदि, तव = तेरे, धर्मधीः = धर्म में बुद्धि, न स्यात् = न हुई (तर्हि = तो) सः = वह, समवाय = पाचो का समूह, अपि = भी, व्यर्थं = निष्फल, भवेत् = रहेगा । नीति — हि = क्योंकि, कणिशोद्गमवैधुर्ये = बालो की उत्पत्ति न होने पर, केदारादिगुणेन = खेत आदि की अच्छाई से, किम् = क्या लाभ (अस्ति = है) ? ॥७५॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! कदाचित् भव्यत्व आदि पाचों की एक साथ प्राप्ति भी हो जावे पर यदि धर्म में रुचि नहीं हो तो उनका पाना भी व्यर्थ ही है । जैसे खेत वगैरह अच्छे भी रहें पर उनमे बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उन की अच्छाई से भी क्या लाभ ? ॥७५॥

तदात्मन्दुर्लभं गात्रं, धर्मार्थं मूढ ! कल्प्यताम् ।
भस्मने दहतो रत्नं, मूढः कः स्यात्परो जनः ॥७६॥

अन्वयार्थौ—मूढ = हे मूर्ख, आत्मन् !, तत् = इसलिये, दुर्लभम् = दुर्लभ, गात्रम् = शरीर को, धर्मार्थम् = धर्म के लिये, कल्प्यताम् = सकल्प करना चाहिये । नीति—हि = क्योंकि, भस्मने = भस्म के लिये, रत्नम् = रत्न को, दहत = जलाने वाले से, परः = दूसरा, कः = कौन, जनः = मनुष्य, मूढः = मूढ (स्यात् = है) ॥७६॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जैसे भस्म (राख) के लिये बहुमूल्य रत्न को जलाने वाला मनुष्य अत्यन्त मूर्ख समझा जाता है, उसी प्रकार केवल सांसारिक सुखों के हेतु भोगोपभोग में शरीर को नष्ट कर देने वाला मनुष्य भी महान् मूर्ख है। इसलिये धार्मिक कार्य करके नरदेह को सफल बनाना चाहिये।

भव्यस्यावाह्यचित्तस्य, सर्वसत्वानुकम्पिनः ।
करणत्रयशुद्धस्य, तवात्मन्बोधिरेधताम् ॥७७॥

अन्वयार्थो—हे आत्मन्! भव्यस्य = भव्य, अवाह्यचित्तस्य = बाह्य पदार्थों में आसक्ति रहित, सर्वसत्वानुकम्पिनः = सब प्राणियों पर दया करने वाले (च = और) करणत्रयशुद्धस्य = अधःकरण; अपूर्व-करण; अनिवृत्तिकरणरूप तीनो परिणामों से निर्मल, तव = तेरे, बोधिः = रत्नत्रय, एधताम् = वृद्धि को प्राप्त होवे ॥७७॥

भावार्थः—हे आत्मन्! भव्य, बाह्य पदार्थों से उदासीन, अहिंसाप्रेमी और अधःकरण; अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप परिमाणों से निर्मल तेरे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की वृद्धि होवे ॥७७॥

❀ अथ धर्मानुप्रेक्षा ❀

देवता भविता श्वापि, देवः श्वा धर्मपापतः ।
तं धर्मं दुर्लभं कुर्या, धर्मो हि भुवि कामसूः ॥७८॥

अन्वयार्थो—हे आत्मन्! धर्मपापतः = धर्म और पाप से, श्वा = कुत्ता, अपि = भी, देवता = देव (च = और) देवः = देव, अपि = भी, श्वा = कुत्ता, भविता = हो जाता है, तत् = इसलिये, दुर्लभम् = दुर्लभ, तत् = उस, धर्मम् = धर्म को, कुर्याः = धारण करना चाहिये, हि = क्योंकि, भुवि = संसार में, धर्मः = धर्म, कामसूः = मनोरथो को पूर्ण करने वाला (भवति = होता है) ॥७८॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है, इसलिये ऐसे दुर्लभ धर्म को धारण करना प्राणिमात्र का कर्तव्य है। धर्म करने से निश्चय ही सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ॥७८॥

पश्यात्मन्धर्ममाहात्म्यं, धर्मकृत्यो न शोचति ।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं, स हि लोकद्वये सुखी ॥७९॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् ! (त्वम् = तू) धर्ममाहात्म्यम् = धर्म की महिमा को, पश्य = देख (यत् = कि) धर्मकृत्य = धर्मकार्य करने वाला, न शोचति=शोक को प्राप्त नहीं होता। (च = और) विश्वै = सब मनुष्यों के द्वारा, विश्वस्यते = विश्वास किया जाता है। हि= निश्चय से (इदम् यह) चित्रम् = आश्चर्य की बात (अस्ति = है) (यत् = कि) स. = वह धर्मात्मा, लोकद्वये = दोनो लोकों में, सुखी = सुखी (भवति = होता है) 'स' इत्यत्र 'एतत्तदोः सुलोपो ऽकोरन-ञ्समासे हलि' सूत्रेण सो लोप. ॥७९॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! धर्म की महिमा अचिन्त्य है, धर्म करने वाला मनुष्य शोक और अविश्वास का भाजन नहीं होता तथा इसभव और परभव में सुख एवं शान्ति प्राप्त करता है ॥७९॥

तवात्मन्नात्मनीनेऽस्मिन्, जैनधर्मेऽतिनिर्मले ।
स्थवीयसी रुचिः स्थेया-दामुक्ते मुक्तिदायिनी ॥८०॥

अन्वयार्थौ—(अत. = इसलिये) हे आत्मन् !, आत्मनीने = आत्मा के हितकारक, अतिनिर्मले = अत्यन्तनिर्मल, अस्मिन् = इस, जैनधर्मे = जैनधर्म में, आमुक्तेः = मुक्तिपर्यन्त (तव = तेरी) स्थवीयसी = अटल (च = और) मुक्तिदायिनी = मुक्ति को प्राप्त करने वाली, रुचि = प्रेम, स्थेयात् = होवे ॥८०॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! जब कि धार्मिक कार्यों के करने से आत्म-लाभ प्रत्यक्ष स्पष्ट है, तब इस पवित्र और मुक्तिदायक जैनधर्म में मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त मेरा अटल प्रेम रहे ॥८०॥

इति द्वादशानुप्रेक्षा

इत्यनुप्रेक्षया चासी—दक्षोभ्यस्यास्य विरक्तता ।
व्यवस्था हि सतां शैली, साहाय्येऽप्यत्र किं पुनः ॥८१॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, अनुप्रेक्षया = भावनाओं के चिन्तवन से, अस्य = इन जीवन्धर के, अक्षोभ्या = दृढ, वि क्तता = वैराग्य, आसीत् = हो गया । नीति.–हि = निश्चय से, व्यवस्था = स्थिरता, सताम् = महापुरुषों की, शैली = प्रकृति, स्यात् = होती है । अपि = और, अत्र = इस विषय में, साहाय्ये = सहायता मिल जाने पर, पुनः = फिर, किं वक्तव्यम् = कहना ही क्या है ? ॥८१॥

भावार्थः—महापुरुष जिस कार्य में हाथ लगाते हैं उससे स्वयं पीछे नहीं हटते, फिर यदि कोई सहायक मिल जावे तो उनका साहस और बढ़ जाता है, तदनुसार जीवन्धर महाराज एक तो स्वय संसारसे उदास थे और साथही उन्हें अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन सहायक बन गया:जिससे उनका वैराग्य औरभी दृढ़ होगया ।

विरक्तो राज्यमन्यच्च, न तृणायाप्यमन्यत ।
हस्तस्थेऽप्यमृते को वा, तिक्तसेवापरायणः ॥८२॥

अन्वयार्थौ—विरक्तः = संसार से उदासीन, स. = वह जीवन्धर महाराज, राज्यम् = राज्य को, च = और अन्यत् = अन्य सब पदार्थों को, तृणाय = तृण के समान, अपि = भी, न अमन्यत = नहीं मानता हुआ । नीति.—वा = क्योंकि, अमृते = अमृत के, हस्तस्थे = हाथ पर स्थित होने पर, तिक्तसेवापरायण = कड़वी वस्तु के सेवन में तत्पर, क. = कौन, स्यात् = होगा ॥८२॥

भावार्थ.—वैराग्य उत्पन्न होने पर जीवन्धर महाराज राज्यादि पदार्थों को तृण से भी तुच्छ समझने लगे। ठीक ही है, क्योंकि हाथ में अमृत आजाने पर कड़वी वस्तु की चाह कोई भी नहीं करता, तदनुसार जब जीवन्धर को साक्षात् मोक्ष के कारण जुट रहे थे, तब वे ससार के कारण राज्यादि में मोह कैसे कर सकते थे ? ॥८२॥

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य, सम्पूज्य परमेश्वरम् ।
योगीन्द्रादश्रणोद्धर्म—मधीती जिनशासने ॥८३॥

अन्वयार्थौ—तत = वैराग्य के बाद, जिनशासने = जैनशास्त्रों में, अधीती = निपुण जीवन्धर महाराज, तस्मात् = उस बगीचे से, निर्गत्य = लौटकर, परमेश्वरम् = जिनेन्द्र भगवान को, सम्पूज्य = पूज कर, योगीन्द्रात् = किसी चारण ऋद्धिधारक मुनि से, धर्मम् = धर्म को, अश्रणोत् = सुनते हुये। तस्मादिति तत, पञ्चम्यास्तसीति सूत्रेण तसि प्रत्यय. ॥८३॥

भावार्थः—जैनधर्म के ज्ञाता जीवन्धर महाराज ने वैराग्य उत्पन्न होने के बाद उस बगीचे से लौट किसी जिनालय में पहुँच कर भगवज्जिनेन्द्र की पूजा की, पश्चात् वहीं पर किसी चारण ऋद्धिधारक मुनिराज से धर्मश्रवण किया ॥८३॥

धर्मश्रुते र्बभूवायं, धार्मविद्योऽतिनिर्मलः ।
अत्युत्कटो हि रत्नांशु—स्तज्ज्ञवेकटकर्मणा ॥८४॥

अन्वयार्थौ—अयम् = ये जीवन्धर, धर्मश्रुतेः = धर्मश्रवण से, अतिनिर्मल = अत्युत्तम, धर्मविद्य = धर्मविद्या के जानकार, बभूव = हो गये। नीतिः—हि = क्योंकि, तज्ज्ञवेकटकर्मणा = रत्नशुद्धि के जानकार जोहरी की क्रिया से, रत्नांशु. = रत्न की दीप्ति, अत्युत्कट = अतिशय उज्वल (स्यात् हो जाती है) ॥८४॥

भावार्थ—जैसे रत्न एक तो स्वय चमकदार होता है, दूसरे चमक लाने में चतुर कोई जौहरी शाण पर रख कर उसे घिस दे, तो वह और भी चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार जीवन्धर महाराज एक तो स्वयं जैनधर्म के ज्ञाता थे और मुनिराज से धर्मश्रवण करने से उनके ज्ञान में सुवर्ण में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हुई ॥८४॥

पुनश्चारणयोगीन्द्रः, पूर्वजन्मबुभुत्सया ।
भूपेन परिपृष्टोऽय—माचष्टास्य पुराभवम् ॥८५॥

अन्वयार्थौ—पुन = पश्चात, पूर्वजन्मबुभुत्सया = पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जानने की इच्छा से, परिपृष्टः = पूछे गये, अयम् = ये चारणयोगीन्द्र. = चारण ऋद्धिधारक मुनिराज, अस्य = इन जीवन्धर महाराज के, पुराभवम् = पूर्वजन्म के वृत्तान्त को, आचष्ट = कहने लगे।

भावार्थः—जीवन्धर महाराज ने धर्मश्रवण के बाद उन चारण ऋद्धिधारक मुनिराज से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त पूछा, तब मुनिराज भी उनके पूर्व जन्म के वृत्तान्त को निम्न-प्रकार कहने लगे ॥८५॥

भूपेन्द्र ! धातकीखण्डे, भूम्यादितिलके पुरे ।
सूनुः पवनवेगस्य, राज्ञोऽभूस्त्वं यशोधरः ॥८६॥

अन्वयार्थौ—भूपेन्द्र = हे राजन्, त्वम् = तू, धातकीखण्डे = धातकीखण्ड द्वीप में, भूम्यादितिलके = भूमितिलक नामक, पुरे = नगर में, पवनवेगस्य = पवनवेग नामक, राज्ञः = राजा के, यशोधरः = यशोधर नामक, सूनु. = पुत्र, अभूः = थे ॥८६॥

भावार्थः—हे राजन् ! तुम अपने पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप के भूमितिलक नगर में पवनवेग राजा के यशोधर नामक सुपुत्र थे ॥८६॥

राजहंस ! कदाचित्त्वं, राजहंसस्य शावकम् ।
नीडात्क्रीडार्थमानीय, निरवद्यमवीवृधः ॥८७॥

अन्वयार्थौ—राजहंस = हे राजोत्तम, त्वम् = तू, कदाचित् = किसी समय (स्वस्य = अपने। क्रीडार्थम् = खेलने के लिये, राजहंसस्य = राजहंस के, शावकम् = बच्चे को, नीडात् = घोसले से, आनीय = लाकर, निरवद्य यथा स्यात्तथा = भले प्रकार, अवीवृधः = पालन पोषण करते थे ॥

भावार्थ —हे राजन् ! एक समय तुम किसी राजहंस के बच्चे को अपने मनोविनोद के लिये घोंसले से लाकर उसका भलीप्रकार पालन पोषण करने लगे ॥८७॥

तत्कुतोऽपि समाकर्ण्य, धर्मवित्स ते पिता ।
तदा धर्ममुपादिक्ष—द्यतोऽभूरतिधार्मिकः ॥८८॥

अन्वयार्थौ—(च = और) तदा = उस समय, ते = तुम्हारा, स = प्रसिद्ध वह, धर्मविद् = धर्म का ज्ञाता, पिता = पिता, कुत. = किसी से, तत् = उस समाचार को, समाकर्ण्य = सुनकर (त्वाम् = तुमको) धर्मम् = धर्म का (द्विकर्मकत्त्वादत्र द्वितीया) उपादिक्षत् = उपदेश देता हुआ। यतः = जिससे, त्वम् = तुम, अतिधार्मिक = अतिशय धर्मात्मा, अभू = होगये ॥८८॥

भावार्थः-- यह समाचार जब तुम्हारे पिता को किसी प्रकार मालूम हुआ, तब उन्होंने बहुत समझाया, जिससे तुम भी अपनी उस हरकत को छोड़ कर संसार से उदासीन हो गये ॥८८॥

निवारितोऽपि पित्रा त्व—मतिनिर्वेदतस्ततः ।
जातरूपधरो जातः, स्त्रीभिरष्टाभिरन्वितः ॥८९॥

अन्वयार्थौ—तत = इसके बाद, पित्रा = पिता के द्वारा, निवारितः = रोके गये, अपि = भी, त्वम् = तुम, अतिनिर्वेदतः = अत्यन्त

वैराग्य के कारण, अष्टाभि. = आठ, स्त्रीभि: = स्त्रियों से, अन्वित. = युक्त, जातरूपधर. = दिगम्बर मुनि, जात: = हो गये। जातस्य रूपमिव रूप यस्य, तद् धरतीति जातरूपधरो = दिगम्बर इत्यर्थ. ॥८९॥

भावार्थ —उस समय तुम्हारे पिता पवनवेग ने विरक्त होने से तुम्हें आग्रहपूर्वक रोका पर तुम नहीं माने और दिगम्बर मुनि बन गये तथा अपनी आठों स्त्रियों को भी तुमने आर्यिका के व्रत ग्रहण करा दिये ॥८९॥

घोरेण तपसा लब्ध्वा, देवत्वं च त्रिविष्टपात् ।
अष्टाभिः स्त्रीभिरेताभि — रत्राभू र्भव्यपुङ्गव ! ॥९०॥

अन्वयार्थौ—भव्यपुङ्गव = हे भव्योत्तम ! (तत. = इसके बाद, त्वम् = तुम) घोरेण = घोर, तपसा = तप के द्वारा, देवत्वम् = देवपर्याय को, लब्ध्वा = पाकर, त्रिविष्टपात् = स्वर्ग से (च्युत्वा = चय कर) एताभिः = इन, अष्टाभि = आठ, स्त्रीभि = स्त्रियों के साथ (विनापि सहयोगे तृतीया, वृद्धो यूनेत्यादिनिर्देशात्) अत्र यहा पर, अभू = उत्पन्न हुये हो।

भावार्थ:—हे भव्योत्तम ! दीक्षा लेने के बाद आपने घोर तप किया जिसके प्रभाव से आप वैमानिक देव हुये और फिर वहां से चय कर उन आठ स्त्रियों के साथ यहा पर उत्पन्न हुये हैं।

स्वपदाद्बालहंसस्य, पितृभ्यां च पुराभवे ।
वियोजनाद्वियोगस्ते, बन्धोऽभूदिव बन्धनात् ॥९१॥

अन्वयार्थौ — (अतएव) पुराभवे = अपने पूर्वभव में, बाल-हंसस्य = हंस के बच्चे के, स्वपदात् = उसके निजी स्थान से, च = और, पितृभ्याम् = माता पिता से, वियोजनात् = वियोग कराने से, ते = तेरे, वियोग. = उन तीनो से वियोग, च = और, तस्य = उस हंस के, बन्धनात् इव = बन्धन में डालने के समान, ते = तेरे, बन्ध: = बन्धन, अभूत् = हुआ है ॥९१॥

भावार्थ.—हे राजन्! तूने उस हंस के बच्चे का स्थान और माता पिता से वियोग कराया था इसी कारण तेरा भी राज्य और माता पिता से वियोग हुआ, तथा तुमने उसे बन्धन मे भी डाला था इसी कारण तुम स्वय बन्धन को प्राप्त हुये थे ॥६१॥

इति योगीन्द्रवाक्येन, भोगीव पविपाततः ।
भीतो राज्यादयं राजा, प्रणम्य स्वपुरीमयात् ॥९२॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, योगीन्द्रवाक्येन = मुनिराज के वचन से, पविपातत = बिजली के गिरने से, भीतः = डरे हुये, भोगी इव = सर्प के समान, राज्यात् = राज्य से, भीत. = भयभीत, अयम् = यह, राजा = महाराज जीवन्धर, प्रणम्य = नमस्कार कर, स्वपुरीम् = अपनी नगरी को, अयात् = गये ॥६२॥

भावार्थः—जैसे बिजली के गिरने से सर्प भयभीत हो जाता है, उसी प्रकार मुनिराज के पूर्वोक्त वचन से जीवन्धर महाराज भी राज्यसे भयभीत हो गये और मुनिराज को नमस्कार कर अपने नगर को चले गये ॥६२॥

सद्धर्मामृतपानेन, सानुजास्तस्य वल्लभाः ।
विषप्रख्यममन्यन्त, तत्सौख्यं विषयोद्भवम् ॥९३॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उन जीवन्धर की, सानुजाः = छोटे भाई सहित, वल्लभा = आठो स्त्रिया, तत् = उस प्रसिद्ध, विषयोद्भवम् = इन्द्रिय विषयो से उत्पन्न हुये, सुखम् = सुख को, सद्धर्मामृतपानेन = समीचीन धर्मरूपी अमृत के पान से, विषप्रख्यम् = विष के समान, अमन्यन्त = समझने लगी ॥६३॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज का ललनावर्ग और भाई नन्दाढ्य भी मुनिराज के द्वारा दिये गये धर्मामृत को पीकर विषयजन्य सुखों को विष के समान दुखदायक समझने लगे।

तत्र गन्धर्वदत्तायाः, पुत्रं सत्यन्धराह्वयम् ।
अभिषिच्य ततस्ताभिः, प्रापदास्थायिकां कृती ॥९४॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, कृती = बुद्धिमान् जीवन्धर महाराज, तत्र = उस राज्य कर्म में, गन्धर्वदत्तायाः = गन्धर्वदत्ता के, सत्यन्धराह्वयम् = सत्यन्धर नामक, पुत्रम् = पुत्र को, अभिषिच्य = अभिषिक्त करके, ताभिः = उन स्त्रियों के साथ, आस्थायिकाम् = समवसरण सभा को, प्रापत् = प्राप्त हुये ॥६४॥

भावार्थ—जीवन्धर महाराज ने घर पहुँचने पर अपनी अनन्य प्रिया गन्धर्वदत्ता के सुपुत्र, सत्यन्धर को राज्य सौंप दिया और आप अपनी आठों ललनाओं के साथ श्रीमहावीर स्वामी के समवसरण मे जा पहुँचे ॥६४॥

श्रीसभायां समभ्येत्य, श्रीवीरं जिननायकम् ।
पूजयामास पूज्योऽय–मस्तावीच्च पुनः पुनः ॥९५॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, पूज्यः = माननीय, अयम् = ये जीवन्धर महाराज, श्रीसभायाम् = समवसरणसभा में, समभ्येत्य = पहुँच कर, जिननायकम् = जिनेन्द्रवर, श्रीवीरम् = श्री महावीरस्वामी को, पूजयामास = पूजते हुये, च = और, पुनः पुनः = बार बार, अस्तावीत् = स्तवन करते हुये ॥६५॥

भावार्थ—महाराज जीवन्धर ने समवसरण मे पहुँच कर श्रीमहावीर स्वामी की पूजा कर निम्नप्रकार स्तुति की ॥६५॥

भगवन्भवरोगेण, भीतोऽहं पीडितः सदा ।
त्वय्यकारणबंधेऽपि, सह्या किं तस्य कारणा ॥९६॥

अन्वयार्थौ—भगवन् = हे भगवन्!, अहम् = मैं, भवरोगेण = संसाररूपी रोग से, सदा = हमेशा से, पीडितः = दुखी (च = और) भीतः = भयभीत, अस्मि = हूँ (अधुना = अब) त्वयि = तुम जैसे,

अकारणवैद्ये = निस्वार्थ वैद्य के मिलने पर, अपि = भी, तस्य=उसकी, कारणा=तीव्र वेदना, सह्या किम् = सहने योग्य है क्या ? अपि तु न ।

भावार्थः—हे भगवन् ! मैं इस संसार में जन्म और मरण रूपी रोग से चिरकाल से ग्रस्त और भीत हूँ । अब सर्वथा निरपेक्ष और जन्मादिरोग नाशक आप जैसे वैद्य को पाकर भी मेरे उस रोग का बना रहना उचित नहीं । इसलिये मेरी इस पीड़ा को शीघ्र दूर करें ॥९६॥

त्वं सार्वः सर्वविद्देव !, सर्वकर्मणि कर्मठः ।
भव्यश्चाहं कुतो वा मे, भवरोगो न शाम्यति ॥९७॥

अन्वयार्थौ—देव = हे भगवन् !, त्वम् = तुम, सार्वः = सब के हितकारी, सर्वजित् = सब पदार्थों के ज्ञाता द्रष्टा, च = और, सर्वकर्मणि= सर्व कार्यों के करने में, कर्मठः = समर्थ (असि = हो, तथा = और) अहम् = मैं, च = भी, भव्य = भव्य (अस्मि = हूँ, पुनः = फिर) मे = मेरा, भवरोगः = सासारिक रोग, कुतः = क्यों, न शाम्यति = शान्त नही होता ?

भावार्थः—हे भगवन् ! आप सबके हितकारक, सब वस्तुओं के ज्ञाता दृष्टा और सर्व कर्मों के नाश करने में प्रवीण हैं, और मैं भी भव्य हूं फिर आप मेरा सांसारिक रोग क्यों नष्ट नहीं करते ? ॥९७॥

निर्मोह ! मोहदावेन, देहजीर्णोरुकानने ।
दह्यमानतया शश्वत्, मुह्यन्तं रक्ष रक्ष माम् ॥९८॥

अन्वयार्थौ—निर्मोह = हे मोहरहित भगवन् !, देहजीर्णोरु-कानने = शरीररूप पुराने गहन वन में, मोहदावेन = मोहरूपी दावानल से, दह्यमानतया = जलने के कारण, शश्वत् = सदा, मुह्यन्तम् = मोहित, माम् = मुझ को, रक्ष रक्ष = बचाओ ॥९८॥

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ, जीवन्धरमहामुनिः ।
अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टोऽनन्तज्ञानसुखादिभिः ॥१०३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, जीवन्धरमहामुनिः = जीवन्धर नामक मुनिवर, श्रीरत्नत्रयपूर्त्या = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की पूर्णता से, अनन्तज्ञानसुखादिभिः = अनन्तज्ञान और अनन्त-सुख आदिक, अष्टाभिः = आठ, स्वगुणैः = आत्मगुणों से, पुष्टः = परिपूर्ण (अभूत् = हुये) ॥१०३॥

भावार्थः—मुनिवर जीवन्धर ने तपश्चरण के प्रभाव से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर केवलसम्यक्त्व, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्यत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों को प्राप्त किया ॥१०३॥

सिद्धो लोकोत्तराभिख्यां, केवलाख्यामकेवलाम् ।
अनुपमामनन्तां ता—मनुबोभूयते श्रियम् ॥१०४॥

अन्वयार्थौ—सिद्धः = सिद्ध (सन् = होते हुये) स = वे मुनिवर लोकोत्तराभिख्याम् = सर्वलोक में उत्कृष्ट, अनुपमाम् = उपमारहित, अनन्ताम् = अनत, अकेवलाम् = मुख्य, ताम् = उस प्रसिद्ध, केवलाख्याम् = अनन्य, श्रियम् = मोक्षस्वरूप लक्ष्मी को, अनुबोभूयते = अनुभव करते हैं ॥१०४॥

भावार्थः—मुनिवर जीवन्धर महाराज सिद्धपद प्राप्त कर लोकोत्तर, अनुपम, अनन्त और केवलज्ञान मय मोक्षलक्ष्मी का अनुभव करते हैं तथा कभी भी उससे विहीन नहीं होंगे ॥१०४॥

एवं निर्मलधर्मनिर्मितमिदं, शर्म स्वकर्मक्षय-
मात्तं प्राप्तुमतुच्छमिच्छतितरां, यो वा महेच्छो जनः ।

सोऽयं दुर्मतकुंजरप्रहरणे, पञ्चाननं पावनं,
जैनं धर्ममुपाश्रयेत मतिमान्, निश्रेयसः प्राप्तये ॥

अन्वयार्थौ—य. = जो, महेच्छ—महाशय, जन = पुरुष, एवम् = इस प्रकार, निर्मलधर्मनिर्मितम् = पवित्र धर्म के धारण करने से उत्पन्न, स्वकर्मक्षयप्राप्तम् = अपने कर्मो के नाश से प्राप्त, अतुच्छम् = महान्, इदम् = इस, शर्म = सुख को, प्राप्तुम् = पाने के लिये, इच्छतितराम् = अतिशय इच्छा करता है, स. = प्रसिद्ध, अयम् = यह, मतिमान् = बुद्धिमान् पुरुष, निश्रेयसः = मोक्ष के, प्राप्तये = पाने के लिये, दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे = मिथ्यामत रूपी हस्तियों के नष्ट करने के विषय में, पञ्चाननम् = सिंह के समान, च = और, पावनम् = पवित्र, जैनम् = जैन, धर्मम् = धर्म को, उपाश्रयेत = धारण करे ॥१०५॥

भावार्थ:—जो महापुरुष अष्टकर्मरहित, अनन्त और लोकोत्तर मोक्षसुख को चाहते हैं, वे दुर्मतरूपी हस्तियोंके नाश में समर्थ सिंहके समान पवित्र जैन-धर्म को धारण करें।

राजतां राजराजोऽयं, राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शूरः, क्षत्रचूडामणि गुणैः ॥१०६॥

अन्वयार्थौ—महोदयै. = विशाल ऐश्वर्य से, राजराज = कुबेर के समान, तेजसा = तेज से (च और,) वयसा = युवावस्था से, शूर = शूरवीर, तथा गुणैः = महागुणों से, क्षत्रचूडामणिः = मुकुट में मणि के समान क्षत्रियो में प्रमुख, अयम् = ये, राजराजः = महाराज जीवन्धर, राजताम् = परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

भावार्थ—जो ऐश्वर्य की अपेक्षा कुबेर के समान तेज और जवानी की अपेक्षा शूरवीर के समान तथा क्षत्रियों मे प्रधान थे वे जीवन्धर पूर्वोक्त रीति से परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

* ग्रन्थ समाप्तिः *



भावार्थ—हे भगवन्! जैसे कोई प्राणी किसी पुराने वन मे दावानल से जलता है, उसी प्रकार मैं भी इस शरीररूप वन में मोहाग्नि से जल रहा हूँ और आप मोह के नाश करने में शूरवीर हैं, इसलिये मेरे मोह का नाश कर मेरी भी रक्षा कीजिये।

संसारविषवृक्षस्य, सर्वापत्फलदायिनः ।
अङ्कुरं रागमुन्मूलं, वीतराग! विधेहि मे ॥९९॥

अन्वयार्थौ—वीतराग = रागद्वेष रहित भगवन्!, सर्वापत्फल-दायिनः = सब प्रकार की आपत्तिरूप फल के देने वाले, ससार विष-वृक्षस्य = ससाररूपी विषवृक्ष के, अंकुरम् = अंकुर के समान, मे=मेरे, रागम् = रागभाव को, उन्मूलम्=जड़रहित, विधेहि=कीजिये ॥९९॥

भावार्थः—हे भगवन्! जैसे विषवृक्ष का अङ्कुर वृद्धिङ्गत होने पर प्राणनाशक फल को देता है, उसी प्रकार मेरा रागभाव भी संसाररूपो वृक्ष को बढ़ा कर अनेक प्रकार विपत्तिरूप फलोंको देता है, इसलिये कृपाकर आप मेरे उस राग को नष्ट कीजिये।

कर्णधार! भवार्णोधे—र्मध्यतो मज्जता मया ।
कृच्छ्रेण बोधिनौ र्लब्धा, भूयान्निर्वाणपारगा ॥१००॥

अन्वयार्थौ—कर्णधार = हे जगत्तारक भगवन्!, भवार्णोधे = ससाररूपी समुद्र के, मध्यत. = बीच में (क्वचित् सप्तम्यर्थेऽपि तसिल्) मज्जता=डूबते हुये, मया=मेरे द्वारा, कृच्छ्रेण=कठिनाई से, लब्धा = प्राप्त की गई, बोधिनौ.=रत्नत्रयस्वरूप नौका, मे=मेरे लिये, निर्वाण-पारगा=मोक्षरूपी दूसरे किनारे पर पहुँचाने वाली, भूयात्=हो ॥१००॥

भावार्थः—हे भगवन्! जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई मनुष्य कर्मोदय से किसी नौका को प्राप्त कर ले, किन्तु यदि खेवटिया नहीं मिले, तो पार नहीं हो पाता, उसी प्रकार मैं भी संसाररूपी समुद्र में डूब रहा था, परन्तु अब इससे पार होने

के लिये मुझे रत्नत्रय-रूप नौका प्राप्त होचुकी है, परन्तु चतुर खेवटिया के विना पार कैसे होऊँ? किन्तु आप संसार से पार करने कराने में चतुर हैं, इसलिये कृपया मुझे भी संसार से पार लगाइये ॥१००॥

इति स्तोत्रावसाने च, लब्ध्वायं त्रिजगद्गुरोः।
अनुज्ञां जिनदीक्षाया-मानमद्गणनायकम् ॥१०१॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह जीवन्धर महाराज, त्रिजगद्गुरो' = त्रिलोक के गुरु महावीर स्वामी के, इति = पूर्वोक्त, स्तोत्रावसाने = स्तवन के अन्त में अनुज्ञाम् = अनुमति को, लब्ध्वा = पाकर, जिन-दीक्षायाम् = जिनदीक्षा लेने के प्रारम्भ में, गणनायकम् = गणधरदेव को, आनमत् = नमस्कार करता हुआ ॥१०१॥

भावार्थः—जीवन्धर महाराज ने समवसरण-नायक श्रीमहावीर स्वामी की स्तुति के बाद उनकी अनुमति पाकर अपनी मुनिदीक्षा के प्रारम्भ में दीक्षानायक गणधरदेव को नमस्कार किया ॥१०१॥

प्राज्ञः प्रव्रज्य तत्पार्श्वे, तपस्तेपेऽतिदुश्चरम् ।
येन कर्माष्टकस्यापि, नष्टता स्याद्यथाक्रमम् ॥१०२॥

अन्वयार्थौ—प्राज्ञः = बुद्धिमान् जीवन्धर महाराज, प्रव्रज्य = दीक्षाधारण करके, तत्पार्श्वे = उन महावीर स्वामी के निकट में, येन = जिस तप के द्वारा, कर्माष्टकस्य = आठों कर्मों का, नष्टता = नाश, अपि = भी, स्यात् = होता है (एवम्भूतम् = ऐसे) अतिदुश्चरम् = अतिशय कठोर, तप = तप, तेपे = तपते हुये ।१०२।

भावार्थः—उन जीवन्धर महाराज ने दीक्षाधारण कर श्रीमहावीर स्वामी के निकट अष्टकर्मनाशक घोर तपश्चरण किया ॥१०२॥

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ, जीवन्धरमहामुनिः ।
अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टोऽनन्तज्ञानसुखादिभिः ॥१०३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, जीवन्धरमहामुनिः = जीवन्धर नामक मुनिवर, श्रीरत्नत्रयपूर्त्या = सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की पूर्णता से, अनन्तज्ञानसुखादिभिः = अनन्तज्ञान और अनन्त-सुख आदिक, अष्टाभिः = आठ, स्वगुणैः = आत्मगुणो से, पुष्टः = परिपूर्ण (अभूत् = हुये) ॥१०३॥

भावार्थः—मुनिवर जीवन्धर ने तपश्चरण के प्रभाव से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर केवलसम्यक्त्व, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्यत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों को प्राप्त किया ॥१०३॥

सिद्धो लोकोत्तराभिख्यां, केवलाख्यामकेवलाम् ।
अनुपमामनन्तां ता—मनुवोभूयते श्रियम् ॥१०४॥

अन्वयार्थौ—सिद्धः = सिद्ध (सन् = होते हुये) स = वे मुनिवर लोकोत्तराभिख्याम् = सर्वलोक में उत्कृष्ट, अनुपमाम् = उपमारहित, अनन्ताम् = अनत, अकेवलाम् = मुख्य, ताम् = उस प्रसिद्ध, केवलाख्याम् = अनन्य, श्रियम् = मोक्षस्वरूप लक्ष्मी को, अनुवोभूयते = अनुभव करते हैं ॥१०४॥

भावार्थः—मुनिवर जीवन्धर महाराज सिद्धपद प्राप्त कर लोकोत्तर, अनुपम, अनन्त और केवलज्ञान मय मोक्षलक्ष्मी का अनुभव करते हैं तथा कभी भी उससे विहीन नहीं होंगे ॥१०४॥

एवं निर्मलधर्मनिर्मितमिदं, शर्म स्वकर्मक्षय—
प्राप्तं प्राप्तुमतुच्छमिच्छतितरां, यो वा महेच्छो जनः ।

सोऽयं दुर्मतकुंजरप्रहरणे, पञ्चाननं पावनं,
जैनं धर्ममुपाश्रयेत मतिमान्, निश्रेयसः प्राप्तये ॥

अन्वयार्थौ—य. = जो, महेच्छ—महाशय, जन. = पुरुष, एवम् = इस प्रकार, निर्मलधर्मनिर्मितम् = पवित्र धर्म के धारण करने से उत्पन्न, स्वकर्मक्षयप्राप्तम् = अपने कर्मों के नाश से प्राप्त, अतुच्छम् = महान्, इदम् = इस, शर्म = सुख को, प्राप्तुम् = पाने के लिये, इच्छतितराम् = अतिशय इच्छा करता है, स = प्रसिद्ध, अयम् = यह, मतिमान् = बुद्धिमान् पुरुष, निश्रेयसः = मोक्ष के, प्राप्तये = पाने के लिये, दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे = मिथ्यामतरूपी हस्तियों के नष्ट करने के विषय में, पञ्चाननम् = सिंह के समान, च = और, पावनम् = पवित्र, जैनम् = जैन, धर्मम् = धर्म को, उपाश्रयेत = धारण करे ॥१०५॥

भावार्थः—जो महापुरुष अष्टकर्मरहित, अनन्त और लोकोत्तर मोक्षसुख को चाहते हैं, वे दुर्मतरूपी हस्तियोंके नाश में समर्थ सिंहके समान पवित्र जैन-धर्म को धारण करें।

राजतां राजराजोऽयं, राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शूरः, क्षत्रचूडामणि गुणैः ॥१०६॥

अन्वयार्थौ—महोदयै = विशाल ऐश्वर्य से, राजराज. = कुबेर के समान, तेजसा = तेज से (च और,) वयसा = युवावस्था से, शूर = शूरवीर, तथा गुणैः = महागुणो से, क्षत्रचूडामणिः = मुकुट में मणि के समान क्षत्रियो में प्रमुख, अयम् = ये, राजराजः = महाराज जीवन्धर, राजताम् = परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

भावार्थः—जो ऐश्वर्य की अपेक्षा कुबेर के समान तेज और जवानी की अपेक्षा शूरवीर के समान तथा क्षत्रियों मे प्रधान थे वे जीवन्धर पूर्वोक्त रीति से परमैश्वर्य को प्राप्त हुये हैं ॥१०६॥

*** ग्रन्थ समाप्तिः ***

